॥ श्रीः ॥

चौखम्बा सुरभारती ग्रन्थमाला
४४

श्रीलौगाक्षिभास्करप्रणीतः

अर्थ-सङ्ग्रहः

श्रीमत्परमहंस-रामेश्वरशिवयोगिभिक्षु-विरचित-

'मीमांसार्थसङ्ग्रहकौमुदी'-संस्कृत-व्याख्यया

तथैव च

'प्रकाशिका'-हिन्दीव्याख्ययोपेतः

व्याख्याकारः
डॉ० कामेश्वरनाथमिश्रः



चौखम्बा सुरभारती प्रकाशन
वाराणसी

॥ श्रीः ॥

चौखम्बा सुरभारती ग्रन्थमाला

८८

श्रीलौगाक्षिभास्करप्रणीतः

अर्थ-सङ्ग्रहः

श्रीमत्परमहंस-रामेश्वरशिवयोगिभिक्षु-विरचित-

'मीमांसार्थसङ्ग्रहकौमुदी'-संस्कृत-व्याख्यया

तथैव च

'प्रकाशिका'-हिन्दीव्याख्ययोपेतः

व्याख्याकारः

डॉ० कामेश्वरनाथ मिश्रः



चौखम्बा सुरभारती प्रकाशन

वाराणसी

चौखम्बा सुरभारती प्रकाशन
(भारतीय संस्कृति एवं साहित्य के प्रकाशक-विक्रेता)
के० ३७/११७, गोपाल मन्दिर लेन
पोस्ट बाक्स नं० १२९
वाराणसी २२१००१

प्रथम संस्करण
१९७९
मूल्य १५-००

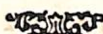
अन्य प्राप्तिस्थान—
चौखम्बा विद्याभवन
(भारतीय संस्कृति एवं साहित्य के प्रकाशक-विक्रेता)
चौक (बनारस स्टेट बैंक भवन के पीछे),
पोस्ट बाक्स नं० ६९
वाराणसी २२१००१

मुद्रक—
श्रीजी मुद्रणालय
वाराणसी

THE

CHAUKHAMBA SURBHARATI GRANTHAMALA

44



ARTHASAMGRAHA

OF

SRI LAUGĀKSI BHĀSKARA

Containing

'MĪMĀNSĀRTHASAMGRAHAKAUMUDĪ'

SANSKRIT COMMENTARY

OF

PARAMAHANSA RĀMEŚWARA ŚIVAYOGĪ

Edited with

'PRAKĀŚIKĀ' HINDĪ COMMENTARY

By

Dr. Kameshwar Nath Mishra



THE

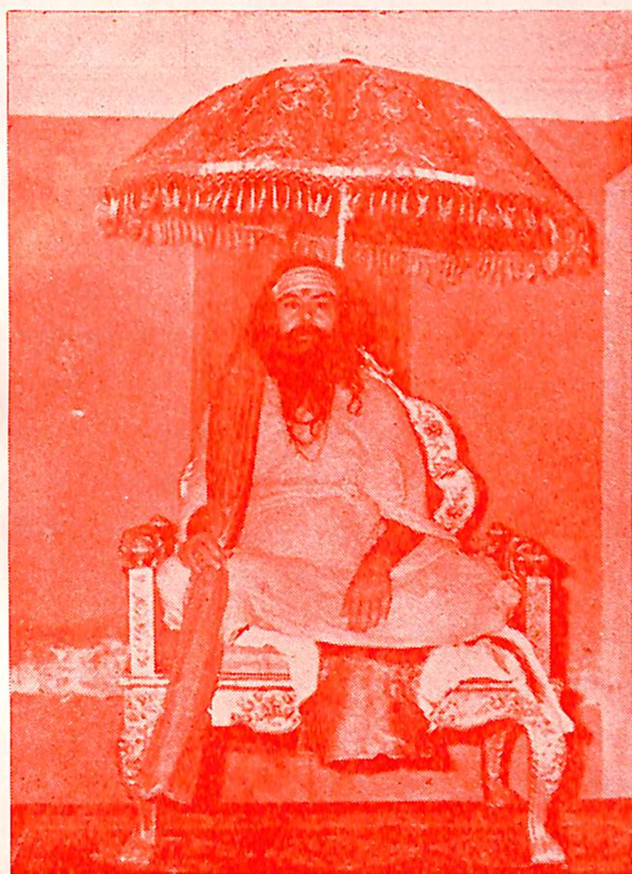
CHAUKHAMBA SURBHARATI PRAKASHAN

VARANASI

(Oriental Booksellers & Publishers)
K. 37/117, Gopal Mandir Lane
Post Box No. 129
VARANASI 221001

First Edition
1979
Price Rs. 15-00

Also can be had of
CHOWKHAMBA VIDYABHAWAN
(Oriental Booksellers & Publishers)
CHOWK (Behind The Benares State Bank Building)
Post Box No. 69
VARANASI 221001



ज्योतिष्पीठाधीश्वर जगद्गुरुशङ्कराचार्य
अनन्तश्री स्वामी स्वरूपानन्द सरस्वती महाराज, बदरिकाश्रम,
के चरण-कमलों में प्रणति-पूर्वक सर्मापत

प्राक्कथन

'अर्थ-संग्रह' मीमांसा का एक लघुकाय प्रकरण ग्रन्थ है, जिसमें शाबरभाष्य में प्रतिपादित बहुत से विषयों का अतिसंक्षेप में निरूपण है। संक्षेप में अधिकतम विषयों को प्रस्तुत करने के कारण इस ग्रन्थ का प्रचार जिज्ञासु-सामान्य में अत्यधिक हुआ और उपयोगी होने पर भी अनेक प्रकरण-ग्रन्थ इतने प्रचलित न हो सके। विश्वविद्यालयों में तो मीमांसा का प्रारम्भिक ज्ञान कराने को 'मीमांसा-न्याय-प्रकाश' तथा 'अर्थ-संग्रह' ही पाठ्यक्रम में प्रायः निर्धारित हैं, इनमें भी 'अर्थ-संग्रह' आगे है।

यद्यपि 'अर्थ-संग्रह' की भाषा बहुत क्लिष्ट नहीं है, तथापि सामान्य जिज्ञासुओं और विशेषतः छात्रों को इसे देखकर कुछ विचित्र-सा अनुभव होने लगता है। छात्र इसमें अन्य निर्धारित दर्शन-ग्रन्थों में प्रतिपादित आत्मा, ब्रह्म, जगत्, प्रकृति, पुरुष, पदार्थ आदि विषयों का निरूपण नहीं पाते और इसको दर्शन-ग्रन्थ मानने से भी हिचकते हैं। इसके अतिरिक्त मीमांसा-ग्रन्थों के विषय वैदिक कर्मकाण्ड से सम्बद्ध हैं जिनसे जन-सामान्य बहुत परिचित नहीं है। निरूपित उदाहरण अश्वमेध, सोम, राजसूय, वाजपेय आदि यागों से सम्बद्ध होते हैं, जो आज देखने को भी नहीं मिलते। जो कर्म प्रचलित भी हैं उनमें यजमान पुरोहित की आज्ञा मान निर्देशानुसार कार्य सम्पन्न करते रहते हैं, उनमें 'क्यों', 'कैसे' आदि जानने का कौतूहल नहीं रहा। पुरोहित अथवा आचार्य भी एक स्वीकृत पद्धति के अनुसार कर्म-सम्पन्न कराते रहते हैं और ऐसे बहुत कम हैं जो मन्त्रविशेष के विनियोग आदि का विचार करते हों। मीमांसा में किस देवता के लिये, किस प्रयोजन से, किस मन्त्र का, कैसे विनियोग हो? आदि विषयों का प्रधानतः विचार किया जाता है। कर्मकाण्ड की निश्चित पद्धतियाँ विद्यमान होने से पुरोहित का काम इनका विचार न करने पर भी चल जाता है। अतः आज वस्तुस्थिति यह है कि कर्म, यजमान और पुरोहित के रहते भी 'कर्म-मीमांसा' उपेक्षित हो गयी। यही कारण है कि सामान्य जिज्ञासु को मीमांसा के प्रारम्भिक ग्रन्थों को भी समझने में कठिनाई हो रही है।

छात्र-हितार्थ इस ग्रन्थ की हिन्दी व्याख्या प्रस्तुत की जा रही है। इसके साथ रामेश्वरशिवयोगी की 'कौमुदी' भी दी जा रही है। मूलग्रन्थ के पाठ का निर्धारण केवल प्रचलित मुद्रित पुस्तकों के ही आधार पर नहीं, अपितु सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी के सरस्वतीभवन में विद्यमान अनेक पाण्डुलिपियों से भी किया है और पाठान्तरों का उल्लेख यथास्थान कर दिया है। प्रयास किया गया है कि कोई भी दुरूह स्थल अस्पष्ट न रह जाये।

प्रस्तुत ग्रन्थ का लेखन-कार्य लगभग ३ वर्ष पूर्व ही सम्पन्न कर प्रकाशक महोदय को सौंपा जा चुका था। परन्तु अनेक ग्रन्थों के प्रकाशन में उनकी अत्यधिक व्यस्तता के कारण यह ग्रन्थ अब प्रकाश में आ सका है। उस समय तक प्रकाश में आई, ग्रन्थ से सम्बद्ध अंग्रेजी, संस्कृत तथा हिन्दी की सम्पूर्ण सामग्री का प्रयोग मैंने साभार किया है।

मैं अपने मित्र डॉ० नवजीवन रस्तोगी, संस्कृत विभाग, लखनऊ तथा उनकी शिष्या श्रीमती मीरा रस्तोगी को धन्यवाद देता हूँ, जिन्होंने मुझे बहुत-सी दुर्लभ सामग्री उपलब्ध करायी। चौखम्बा सुरभारती प्रकाशन के गुप्त-बन्धुओं को भी धन्यवाद है जिन्होंने ग्रन्थ को यथासम्भव शुद्ध प्रकाशित करने का प्रयास किया।

स्वतन्त्रता-दिवस, १९७९ —कामेश्वरनाथ मिश्र

भूमिका

मीमांसा—निरुक्ति—मान् धातु से सन् और स्त्रीत्व की विवक्षा में टाप् प्रत्ययों के योग से 'मीमांसा' शब्द निष्पन्न होता है, जिसमें दीर्घत्व तथा अभ्यास 'मान्बधदान्शान्भ्यो दीर्घश्चाऽऽभ्यासस्य' (पा० सू० ३।१।६) नियम के अनुसार होते हैं। वस्तुतः मान् धातु भ्वादि तथा चुरादि दोनों गणों में पठित है। दोनों ही स्थलों पर उसे पूजार्थक[१] स्वीकार किया है। वार्तिककार उसको 'जिज्ञासार्थक'[२] भी मानते हैं। इन विचारकों की दृष्टि में पूजा और जिज्ञासा दो अर्थ स्पष्ट होते हैं। भट्टोजिदीक्षित ने चुरादि प्रकरण में ३१०वीं धातु के विवेचन के अवसर पर इसको सन्नन्त होने पर विचारार्थक स्वीकार किया है।[३] इस प्रकार पूजा, जिज्ञासा और विचार—ये तीन अर्थ मान् धातु के प्राप्त होते हैं। इनमें से जिज्ञासा तथा विचार परस्पर निकट हैं, क्योंकि सन्दिग्ध वस्तु में निर्णयहेतु जिज्ञासा होती है और निर्णय विचारसाध्य होता है। संभवतः इसी दृष्टि से जिज्ञासा अर्थ होने पर भी वृत्तिकार ने इसको विचारार्थक स्वीकार किया है। व्यवहार में सामान्यतः मीमांसा शब्द विचार अर्थ में ही प्रचलित है जो जिज्ञासा-पद का लाक्षणिक अर्थ है।[४]

अर्थसंग्रहकार भास्कर ने इसको और भी स्पष्ट कर दिया है। उनके अनुसार धर्म का विचार प्रस्तुत करने वाला शास्त्र 'मीमांसा' है,[५] न कि कोई भी विचार। विख्यात 'भामती' टीका के रचयिता वाचस्पति मिश्र मीमांसा को 'पूजितविचार' का वाचक स्वीकार करते हैं।[६] इनके अनुसार अर्थग्रहण करने पर मान् धातु के पूजा तथा जिज्ञासा या विचार दोनों अर्थों की सङ्गति बैठ जाती है, किन्तु यह सङ्गति व्युत्पत्तिगत न होकर ऐतिहासिक होगी। भामतीकार की दृष्टि में पूजितता अर्थ परमपुरुषार्थभूत सूक्ष्मतम ब्रह्मज्ञान के विषय में निर्णय देने के कारण है, इसी प्रकार जैमिनिनय के अनुसार परमपुरुषार्थभूत स्वर्ग आदि की प्राप्ति के विशिष्ट साधनों का प्रतिपादक या निर्णायक मानकर यहाँ भी वह अर्थ स्वीकार किया जा सकता है, किन्तु सत्य यह प्रतीत होता है कि प्राचीनकाल में शनैः शनैः वेदों के प्रति आदर का भाव बढ़ते रहने पर उससे सम्बद्ध विचारों के प्रति भी लोगों में पूज्य-भाव बढ़ा और मीमांसा पूजित-

---

१. मान पूजायाम्। २. मानेर्जिज्ञासायाम् (वा०) ३. विचारणे तु भौवादिको नित्यसन्नन्तः।
४. जिज्ञासापदस्य विचारे लक्षणा।—अर्थसंग्रह पृ. ४.
५. अतो धर्मविचारशास्त्रमिदमारम्भणीयम्। वही।
६. पूजितविचारवचनो मीमांसाशब्दः। परमपुरुषार्थहेतुभूतसूक्ष्मतमार्थनिर्णयफलतया च विचारस्य पूजितता।—भामती पृ. ४३.

विचार का वाचक हो गया। मान् के दोनों अर्थों की सङ्गति में दोघ अन्तराल की अपेक्षा रही।

इस प्रकार निष्पत्तिगत पूजा, जिज्ञासा, विचार और पूजितविचार अर्थों को व्यक्त करने वाला मीमांसाशब्द 'धर्मविचारशास्त्र' अर्थ में रूढ़ हो गया है।

मीमांसाशब्द का इतिवृत्त—मीमांसाशास्त्र भले ही अपेक्षाकृत परवर्ती हो, किन्तु विचार या निर्णय अर्थ में 'मीमांसा' शब्द का प्रयोग संहिताओं में भी प्राप्त होता है। वैदिकसाहित्य में कहीं क्रियारूप में और कहीं संज्ञारूप में मीमांसा-शब्द का प्रयोग हुआ है। तैत्तिरीय संहिता (७।५।७।१) में–'उत्सृज्यां नात्सृज्यां इति मीमांसन्ते ब्रह्मवादिनः।', ताण्ड्य महाब्राह्मण में–ब्रह्माणं पात्रे न मीमांसेत' (६।५।९), यास्तल्पे वोदके वा विवाहे वा मीमांसेरंस्त एता उपेयुः (२३।४।२), कौषीतकि ब्राह्मण में–'उदिते होतव्यमनुदिते इति मीमांसन्ते।··· तस्मादनुदिते होतव्यम्–' (२।९)। इसी प्रकार कौषीतकि ब्राह्मण में ही 'मीमांसन्ते' (२६।३) तथा 'मीमांसा' (१८।४) का प्रयोग हुआ है। अन्य ब्राह्मणग्रन्थों से भी इसी प्रकार के सन्दर्भ एकत्र किये जा सकते हैं। छान्दोग्य उपनिषद् (५।११।१) में—'प्राचीनशाल औपमन्यवः···महाश्रोत्रियाः समेत्य मीमांसांचक्रुः को नु आत्मा किं ब्रह्मेति', तैत्तिरीय उपनिषद् (२।८।१) में 'सैषानन्दस्य मीमांसा' आदि वाक्य दृष्टिगोचर होते हैं। पाणिनि ने मीमांसापद की सिद्धि के लिये 'मान्-बध-दान्०' आदि (३।१।६) सूत्र की रचना ही की थी और जिज्ञासाअर्थ लेने वाले कात्यायन भी इस शास्त्र से पूर्णतः परिचित थे।

बौधायन (१।४।१०) तथा वसिष्ठ (२२।२) धर्मसूत्रों में भी 'मीमांसन्ते' शब्द का प्रयोग है। गौतम धर्मसूत्र (१।५) आपस्तम्ब धर्मसूत्र (१।१।४।८), (१।४।१२।११) आदि में जैमिनिसूत्र (१।३।३) तथा (४।१।२) के भाव निहित हैं। पतञ्जलि भी मीमांसकों का उल्लेख करते हैं।[१]

इन रूपों में मीमांसाशब्द तथा मीमांसादर्शन दोनों अतिप्राचीन काल से प्रचलित रहे। यद्यपि मीमांसादर्शन का जो उद्धार जैमिनि मुनि ने किया उसकी महत्ता के कारण ही इस दर्शन का नाम 'जैमिनिनय' पड़ गया, तथापि उनसे बहुत पूर्व भी मौखिक, वैचारिक अथवा लिपिबद्ध रूपों में इस दर्शन के बीज विद्यमान थे।[२]

---

१. कीलहार्न, वाल्यूम १ पृ० २३९, वाल्यूम २ पृ० २०६, २४९, ३२५.

2. These considerations enable us to assert that centuries before the Christian Era the doctrines of मीमांसा had been well developed and that they had been embodied in the form of works before the time of पतञ्जलि (140 B. C.)–P. V. Kane–A brief sketch of the Purva Mimansa" p. 4, Poona, 1924.

मीमांसा के पर्याय—मीमांसाशब्द की प्राचीनता तथा मीमांसादर्शन का ईसा से पूर्वता का यह अर्थ नहीं कि यह दर्शन इसी नाम से अपने प्रारम्भ से विख्यात रहा। निर्णय-विचारों के आधार पर कल्पसूत्रों की रचना हुई। अतः जैमिनि के पूर्व तथा पश्चात् समय-समय पर इस सम्प्रदाय के अनेक नाम उपलब्ध होते हैं। कुछ श्रौतसूत्रों में मीमांसा का समानार्थक शब्द 'समयविद्या' मिलता है।[१] इसके प्रथमसूत्र की व्याख्या करते हुए 'उज्ज्वला' नाम की टीका में आचार्य हरदत्त ने 'समय' को पौरुषेयी व्यवस्था कहा है, आचारों को उन पर आश्रित कहा है।[२]

शनैः शनैः इसके नामान्तर भी प्रयुक्त होने लगे। 'न्याय' शब्द इस शास्त्र के साथ बहुशः प्रयुक्त हुआ है। वाचस्पति मिश्र, पार्थसारथि, आचार्य माधव सदृश आचार्यों ने अपने ग्रन्थों का नामकरण भी न्यायशब्द के साथ किया—जैसे न्यायकणिका, न्यायरत्नमाला, न्यायमाला-विस्तर आदि। यह नाम इस शास्त्र की विचार-प्रधानता तथा इसमें प्रमाणों से अर्थ-परीक्षण[3] को प्रमुखता के कारण है। आपदेव सदृश आचार्यों ने तो मीमांसा के भी साथ न्याय-पद का प्रयोग कर अपने ग्रन्थ का नाम 'मीमांसा-न्यायप्रकाश' रखा।

मीमांसा का एक अन्य प्रचलित नाम 'पूर्वमीमांसा' है। संभवतः जब मीमांसा का अर्थ 'पूजितविचार' स्वीकार करने वाले वेदान्ती अपने शास्त्र को भी पूजित ही घोषित करने लगे, उस समय दोनों का पार्थक्य प्रकट करने के लिये प्राचीनता तथा अर्वाचीनता के क्रम से 'पूर्व' और 'उत्तर' शब्दों का योग किया जाने लगा। प्राचीनता और अर्वाचीनता का आधार इसलिए माना गया क्योंकि शङ्कराचार्य ने इन दोनों दर्शनों में कारण-कार्य भाव अपेक्षित नहीं स्वीकार किया है। साक्षात् रूप से पूर्वमीमांसा का उत्तरमीमांसा से कोई सम्बन्ध नहीं।[४] दूसरी बात यह भी हो सकती है कि उत्तरमीमांसा वेद के अन्तिम भाग उत्तरांश उपनिषद् से सम्बद्ध है और मीमांसा कर्मकाण्ड अर्थात् वेदों के पूर्वभाग से, अतः दोनों में मीमांसा होने के कारण पार्थक्य का ज्ञापन पूर्व और उत्तर शब्दों से किया गया।

इसी प्रकार पूर्वतन्त्र, विचारशास्त्र,[५] धर्ममीमांसा,[६] अध्वरमीमांसा,[७]

---

१. अथातः सामयिकाचारिकान् धर्मान् व्याख्यास्यामः। धर्मज्ञसमयप्रमाणम्। आ० श्रौ० सू० १।२.

२. समयः पौरुषेयी व्यवस्था, तन्मूला आचाराः तत्रभवाः सामयाचारिका धर्माः। वही, पृ० २.

३. प्रमाणैरर्थपरीक्षणं न्यायः। ४. द्रष्टव्य शारीरकभाष्य।१।१।१॥ में 'अथ' विचार।

५. विचारशास्त्रं नारभ्यमारभ्यं वेति संशयः। न्यायमाला, ३०वाँ पद्य।

६. धर्ममीमांसावत् वेदार्थमीमांसया ब्रह्ममीमांसाप्याक्षेप्तुं शक्यते भामती १।१।१ के शा.भा. पर।

७. 'अध्वरमीमांसा-कुतूहलवृत्ति'-वासुदेवकृत मीमांसा-ग्रन्थ।

वाक्यशास्त्र आदि नाम समय-समय पर अन्य शास्त्रों से इसकी भिन्नता, अर्थ की स्पष्टता अथवा तत्कालीन शास्त्रीय प्रमुख प्रवृत्तियों के परिचायक हैं।

लौगाक्षिभास्कर—

इनका वास्तविक नाम भास्कर तथा कुलनाम लौगाक्षि था। इसका प्रमाण यह है कि इन्होंने जहाँ भी अपना परिचय दिया है वहाँ अपना नाम भास्कर नहीं छोड़ा है, लौगाक्षि पद कहीं है कहीं नहीं है। यथा–'अर्थसंग्रह' के प्रारम्भिक श्लोक में लौगाक्षिभास्कर पूरा नाम है[१] तथा उसी ग्रन्थ के अन्त में[२] केवल 'भास्कर' है। इसी प्रकार इनके दूसरे ग्रन्थ तर्ककौमुदी के उपान्त्य श्लोक में 'भास्कर शर्मा' मात्र है।[3] तर्ककौमुदी के द्वितीय मङ्गल-श्लोक में भी लौगाक्षि-पद प्रयुक्त है, तथापि वह सर्वत्र न होने से इनका वंशनाम ही प्रतीत होता हैं।

भास्कर का परिवार—अन्य भास्करों से अपनी भिन्नता को प्रकट करने के लिये ग्रन्थकार ने अपने कुल का वाचक लौगाक्षि-पद प्रयुक्त किया। इनके पिता का नाम सामान्यतः मुद्गल तथा पितामह का रुद्र कहा जाता है।[४] श्री सतीशचन्द्र विद्याभूषण ने इनको रुद्र का भतीजा स्वीकार किया है।[५] गजेन्द्रगडकर तथा करमरकर महोदयों ने मङ्गलाचरण के श्लोक के आधार पर वासुदेव तथा रमा के इनके पिता एवं माता अथवा गुरु और गुरुपत्नी होने की संभावना व्यक्त की है।[६] कीथ का ही मत सामान्यतः स्वीकार किया जाता है।

यद्यपि वासुदेव और रमा दोनों पदों का अर्थ सामान्यतः विष्णु और लक्ष्मी ही स्वीकार किया जाता है, और इनको भास्कर के गुरु-गुरुपत्नी अथवा पिता और माता का नाम नहीं माना जाता है, तथापि यह विषय विशेष विचार का है कि उन्होंने इन दोनों पदों का अविकल प्रयोग अपने दोनों ग्रन्थों में किया है। अर्थसंग्रह के मङ्गल श्लोक, 'तर्ककौमुदी' के प्रथम 'मङ्गल-श्लोक'[७] तथा अन्तिम मङ्गल श्लोक[८] में वासुदेव और रमा पद द्रष्टव्य हैं। यदि व्यक्ति-विशेष के वाचक ये पद न होते तो सर्वत्र एक ही पद का प्रयोग न होता। ग्रन्थकार

---

१. द्रष्टव्य पृ. १। २. द्रष्टव्य पृ. १९५।

३. विद्वद्भास्करशर्मा यो बालव्युत्पत्तिसिद्धये।
यथाकणादसिद्धान्तमकरोत्तर्ककौमुदीम् ॥

4. A. B. Keith, Indian Logic & Atomism p. 38.

5. S. C. Vidyabhusana : A Hist. of Indian Logic, p. 395.

6. The Arthasamgraha of Bhaskar, p. 71.

७. श्रीवासुदेवं नवनीरदाभं रमाधरालङ्कृतपार्श्वभागम्।
मत्स्यादिरूपैः कृतलोकतोषैर्विद्यानिधानं परमं नमामि ॥

८. श्रीवासुदेवं सुरवैरिभङ्गं रमाधरालङ्कृतसुन्दराङ्गम्।
पादाब्जसम्भूतपवित्रमङ्गं नमामि तं वारितदोषसङ्गम् ॥

विष्णु और लक्ष्मी के अन्य पर्यायों का प्रयोग अवश्य करता। 'तर्ककौमुदी' के श्लोकों में प्रयुक्त 'सुरवैरिभङ्गं', 'नवनीरदाभं', 'मत्स्यादिरूपैः' शब्दों से उनकी विष्णु और लक्ष्मी के रूप में प्रतीति अवश्य होती है, किन्तु 'वारितदोषसङ्गम्', 'विद्यानिधानं' सदृश पदों से यह संभावना बढ़ जाती है कि रमा भास्कर की गुरुपत्नी और वासुदेव गुरु थे, जिनको पाञ्चरात्र-वैष्णवधर्म से प्रभावित होने के कारण वह विष्णुस्वरूप ही मानते रहे हों। अतः इस संभावना को अस्वीकार नहीं किया जा सकता कि वासुदेव भास्कर के गुरु तथा रमा गुरुपत्नी का नाम था।

देश तथा काल—भास्कर का समय सामान्यतः १६वीं शताब्दी ई० का अन्तिम भाग अथवा १७वीं का पूर्व भाग स्वीकार किया जाता है।[1] लौगाक्षि सदृश वंश दक्षिण में अधिक हुआ करते हैं, अतः इनका दक्षिण भारतीय होना सुनिश्चित है। अपनी तर्ककौमुदी में इन्होने काशी की मणिकर्णिका का उल्लेख किया है जिससे इनके काशीवासी होने की संभावना बढ़ जाती है। संभव है, आज काशी में निवास कर रहे दक्षिण भारतीयों की भाँति यहीं जीवनयापन किया हो, किन्तु जन्मसूत्र दक्षिणी हो।

ग्रन्थ—भास्कर के केवल दो ग्रन्थ उपलब्ध हैं (१) मीमांसा का 'अर्थसंग्रह' (२) वैशेषिकदर्शन का 'तर्ककौमुदी'। दोनों ही प्रकरण-ग्रन्थ हैं और अपने-अपने दर्शनों के प्रतिपाद्यों का सामान्य ज्ञान कराते हैं। 'तर्ककौमुदी' में न्याय के विषयों का वैशेषिक-पद्धति पर विवेचन है। निर्णयसागर प्रेस से इसका प्रकाशन हो चुका है। 'अर्थसंग्रह' हाथ में है जिसमें मीमांसा के प्रमाण, जगत्, जीव आदि से सम्बद्ध विचार नहीं हैं। यहाँ केवल कर्मकाण्ड से सम्बद्ध विधि आदि वेद के पाँचो विभागों का निरूपण है।

अर्थसंग्रह का पाठ--यह ग्रन्थ जितना ही प्रचलित है, उतने ही अधिक इसमें पाठान्तर भी स्थान-स्थान पर हैं। छोटे-छोटे पाठान्तर यथास्थान निर्दिष्ट हैं, अतः वहीं द्रष्टव्य हैं। दो प्रमुख पाठान्तर जिनसे पूरा प्रकरण ही अशुद्ध हो जाता है, यहाँ विशेषतः उल्लिखित किये जा रहे हैं।

(१) पृष्ठ १२७ पर मूल ग्रन्थ के तृतीय अनुच्छेद में बहुत अधिक पाठ-भेद है। पाठान्तर पाद-टिप्पणी में दे दिया गया है। ग्रन्थ में स्वीकृत पाठ सरस्वती भवन की पाण्डुलिपि संख्या २८९२०, २८९२९, २९०००, २९०१३, २९०१४ तथा २९०२६ पर आधारित है और यही समुचिम अर्थबोध कराता है। अन्य प्रकाशित प्रतियों में भी प्रायः पाठ की भिन्नता है ही।

---

1. S. C. Vidyabhusana : A Hist. of Indian Logic, p. 395.

(२) दूसरा विशेष पाठभेद श्रौती परिसंख्या (पृष्ठ १४९) के उदाहरण के विषय में है। अनेक ग्रन्थों में पाठ 'अवयन्ति' है जब कि शुद्ध पाठ 'आवपन्ति' है। इस विषय पर ग्रन्थ में सम्बद्ध प्रकरण में पर्याप्त विचार किया गया है। 'आवपन्ति' पाठ ऊपर (१) में परिगणित सभी पाण्डुलिपियों में भी है और विषय की दृष्टि से यही समीचीन भी है। संभवतः 'प' और 'य' के लिखने या पढ़ने में स्वल्प-प्रमाद से यह भ्रम फैला। भ्रम की पुष्टि रामेश्वर शिवयोगी की टीका 'कौमुदी' के कारण और भी अधिक हो गयी क्योंकि उन्होंने 'अवयन्ति' पाठ माना है और तदनुसार ही टीका भी की है। शेष सभी परवर्ती संस्कृत के टीकाकारों ने पाठ शुद्ध कर लिया है, किन्तु हिन्दी व्याख्याकार प्रायः अशुद्धि करते गये हैं। 'मीमांसान्यायप्रकाश' में पाठ शुद्ध ही है।

मीमांसान्यायप्रकाश का अर्थसङ्ग्रह पर प्रभाव—आपदेव द्वितीय तथा भास्कर समकालीन थे। दोनों के जीवन का अन्तर बहुत कम था। इनके ग्रन्थों में भाषा और विचारों का ही नहीं अपितु विषयानुक्रम और तत्तत्स्थलों पर शब्दों और वाक्यों का भी साम्य है। इनके साम्य के कारण पौर्वापर्यविनिश्चय नहीं हो पा रहा है। म० म० चिन्नस्वामी,[1] डॉ० कीथ,[2] डॉ० राधाकृष्णन्[3] आदि के अनुसार भास्कर आपदेव के परवर्ती हैं और उन पर आपदेव का प्रभाव है। श्रीरामस्वामी,[4] डॉ० एजर्टन[5] आदि आपदेव पर ही भास्कर का प्रभाव मानते हैं।

एजर्टन महोदय का तर्क है कि अन्य ग्रन्थकी अपेक्षा 'अर्थसंग्रह' के ही वाक्यादि से मी० न्या० प्र० का साम्य अधिक है, 'अर्थसंग्रह' अनेक स्थानों पर अस्पष्ट है जिसे आपदेव ने स्पष्ट किया है, आपदेव ने भास्कर के मतों का खण्डन किया है, किन्तु भास्कर ने नहीं, अतः 'अर्थसंग्रह' का ही प्रभाव मी० न्या० प्र० पर है।

प्रतीत यह होता है कि 'न्यायरत्नमाला' का अंश ग्रहण करते समय आपदेव ने अपनी बुद्धि के अनुसार कुछ परिवर्तन भी कर लिया, किन्तु भास्कर ने आपदेव से प्रायः ज्यों का त्यों वाक्य ले लिया। 'अर्थसंग्रह' को सुस्पष्ट और सुबोध करने के लिये आपदेव ने मी० न्या० प्र० नहीं लिखा, अपितु सङ्गत यह लगता है कि अपेक्षाकृत बृहत्काय होने के कारण मीमांसा के ह्रासकाल १७वीं शती में भास्कर ने विषय-परिचय कराने के लिये 'अर्थसंग्रह' में संक्षेप

---

१. सारविवेचिनी पृ० ११
2. The Karma-mimamsa p. 13
3. Indian Philosophy. Vol II. p. 378
4. Introduction to Purvamimamsashastra p. 112
5. Mimamsa-Nyaya-Prakash, Introduction pp. 22–23

कर दिया है। 'यह एक व्यावहारिक बात है कि अनुकरण सदा अपने से प्रौढ व्यक्ति का किया जाता है। 'न्याय-प्रकाश' 'अर्थसंग्रह' की अपेक्षा अधिक प्रौढ और सम्पन्न है, इसीलिये यह स्वाभाविक है कि न्यायप्रकाश से अर्थसंग्रहकार कुछ ले।'[1]

मी० न्या० प्र० में जिन मतों का खण्डन किया गया है, वे मत 'अर्थसंग्रह' के हैं, यह एजर्टन का मत है, किन्तु म० म० चिन्नस्वामी का यह विचार अधिक सङ्गत सिद्ध होता है कि वहाँ खण्डित मत अन्य ग्रन्थों के हैं, 'अर्थसंग्रह' के नहीं। 'अर्थसंग्रह' एक संग्रह-ग्रन्थ है जिसमें भास्कर ने किसी नवीन मत की उद्भावना नहीं की है। म० म० चिन्नशास्त्री ने अपनी 'सारविवेचिनी' में उन-उन आचार्यों का यथासंभव नामोल्लेख कर भी दिया है। यह विषय पृथक् है कि एजर्टन महोदय उनसे सहमत न हों।

इस प्रकार भास्कर ही आपदेव के ऋणी हैं, यह सिद्ध होता है।

टीकाकार—इस ग्रन्थ की संस्कृत, अंग्रेजो तथा हिन्दी में अनेक टीकायें, अनुवाद तथा व्याख्यायें हुई हैं।

अबतक उपलब्ध टीकाओं में रामेश्वर शिवयोगी की 'कौमुदी' व्याख्या सब से प्राचीन है। रामेश्वर के निवासस्थान, गुरु आदि के विषय में इसी ग्रन्थ के पृष्ठ १ की टीका के प्रारम्भिक अंशों से तथा ग्रन्थ के अन्त में पृ० १९६–९७ के टीका के अंशों से प्रचुर प्रकाश पड़ जाता है। यहाँ पिष्टपेषण अपेक्षित नहीं है। इस टीका का प्रकाशन वाराणसी, बम्बई आदि अनेक स्थानों से हो चुका है।

इस ग्रन्थ की दूसरी अत्यन्त महत्त्वपूर्ण टीका म० म० कृष्णनाथ न्याय-पञ्चानन की 'प्रतिपादिका' हैं। इस टीका में अत्यन्त सरल भाषा में सप्रमाण विषयों को स्पष्ट किया गया है। इसका प्रकाशन कलकत्ता से १८२१ शकाब्द में हुआ। टीका की भूमिका में टीकाकार के विषय में प्रचुर सामग्री दी गयी है। इस टीका का पर्याप्त प्रयोग यहाँ हिन्दी व्याख्या में हुआ है।

इसी प्रकार जीवानन्द विद्यासागर की भी टीका कलकत्ता से छप चुकी है जिस पर 'कौमुदी' का केवल प्रभाव ही नहीं है, अपितु स्थान-स्थान पर पूरा का पूरा अवतरण ही ले लिया गया है।

कलकत्ता से ही म० म० श्रीप्रमथनाथ तर्कभूषण की 'अमला' टीका भी १८९९ ई० में प्रकाशित हो चुकी है। यद्यपि यह टीका संक्षिप्त है, तथापि सारगर्भित एवं महत्त्वपूर्ण है।

---

१. डॉ० मण्डनमिश्र—मीमांसादर्शन पृ० २२८

विख्यात-वैदुष्य पण्डित श्रीपट्टाभिराम शास्त्री द्वारा लिखित 'अर्थालोक' टीका वाराणसी से १९७७ में डा० वाचस्पति उपाध्याय की 'लोचन' हिन्दी टीका के साथ प्रकाशित हुई है।

इस ग्रन्थ का अंग्रेजी भाषा में सटिप्पण अनुवाद भी अनेक स्थानों से प्रकाशित हुआ है। डॉ० जी० थीबो ने इसका अंग्रेजी अनुवाद १८८२ ई० में प्रकाशित कराया जिसका पुनर्मुद्रण भी हो चुका है। अनुवाद प्रामाणिक है और छिट-पुट टिप्पणियों से विभूषित है।

श्री डी० आर० गोखले ने अर्थसंग्रह का अंग्रेजी अनुवाद 'कौमुदी' के साथ १९३२ ई० में पूना से प्रकाशित कराया। सम्पादन सपरिश्रम होने पर भी टीका संक्षिप्त है।

प्रो० ए० बी० गजेन्द्रगडकर तथा श्री आर० डी० करमरकर ने इस ग्रन्थ के शुद्ध पाठ के साथ प्रामाणिक अनुवाद तथा उपयोगी टिप्पणियाँ देकर ग्रन्थ को अतीव उपयोगी बना दिया है। इस ग्रन्थ से अनेक स्थानों की सामग्री यहाँ साभार ग्रहण की गई है।

इसी प्रकार हिन्दी में भी टाटाम्बरी महाराज की 'दीपिका' टीका चौखम्बा सीरीज, वाराणसी से, डा० दयाशङ्कर शास्त्री की 'अर्थबोधिनी' मेरठ से तथा डा० वाचस्पति उपाध्याय की 'अर्थालोकलोचन' टीका वाराणसी से प्रकाशित हो चुकी हैं। मैंने अपनी 'प्रकाशिका' का कार्य अन्तिम दो टीकाओं के दिखने के पूर्व पूर्ण कर लिया था, किन्तु प्रकाशित पहले न हो सकी। इस समय इनका यत्र तत्र उपयोग कर लिया है। मैं अपने सभी पूर्ववर्ती व्याख्याकारों का आभारी हूँ।

—व्याख्याकार

विषयानुक्रमणी

उपोद्घात विभाग

विषय	पृष्ठ	विषय	पृष्ठ
मङ्गलाचरण	१	लिङंशव:च्यता	३१
'अथातो धर्मजिज्ञासा' सूत्र विचार	४	गोशब्द का गोत्व अर्थ	३१
'स्वाध्यायोऽध्येतव्यः' का अर्थ	६	वेद का अपौरुषेयत्व	३२
जिज्ञासापद में लक्षणा	१०	शाब्दीभावना के तीन अंश	३३
धर्म-लक्षण	११	संख्या का निराकरण	३६
वेद की धर्मप्रतिपादकता	१६	लिङ् ज्ञान की करणता	३७
'यजेत' के दो अंश	२०	आर्थीभावना और उसके अंश	३८
भावना	२५	प्रयाज आदि अङ्ग	४६
शाब्दीभावना	२७	वेद का लक्षण और विभाग	४७

विधि विभाग

विषय	पृष्ठ	विषय	पृष्ठ
विधि का लक्षण	४८	श्रुति की प्रबलता	७८
विधि द्वारा गुण आदि का भी विधान	५०	लिङ्गनिर्वचन	८२
		वाक्यनिर्वचन	८५
विशिष्टविधि	५२	प्रकृतिविकृतिलक्षण	८६
'सोमेन यजेत' में लक्षणा	५२	प्रकरणनिरूपण	९२
वाक्यभेद का अभाव	५३	प्रकरण के दो भेद	९३
विधि के चार प्रकार	५६	अवान्तरप्रकरण	९४
उत्पत्तिविधि	५६	संदंशविचार	९६
कर्म की करणता	५९	प्रकरण की क्रियाविनियोजकता	९८
याग के दो रूप—द्रव्य और देवता	६०	प्रकरण की स्थान से प्रबलता	१००
विनियोगविधि	६१	स्थानप्रमाण	१०१
विनियोगविधि के सहकारी षट्प्रमाण	६४	स्थान तथा क्रम की एकता	१०२
		अनुष्ठानसादेश्य	१०५
श्रुतिप्रमाण तथा भेद	६६	स्थान की समाख्या से प्रबलता	१०७
विनियोक्त्रीश्रुति तथा भेद	६७	समाख्या—लक्षण और भेद	१०९

विषय	पृष्ठ	विषय	पृष्ठ
विनियोगविधि से बोधित अङ्ग	१११	अर्थप्रमाण	१२३
संनिपत्योपकारक	११२	पाठक्रम	१२४
आराद्रुपकारक	११४	स्थानलक्षण	१२७
प्रयोगविधि	११५	मुख्यक्रम	१३१
क्रम का स्वरूप	११८	प्रवृत्तिक्रम	१३६
प्रयोगविधि के षट्प्रमाण	११८	अधिकारविधि	१३८
श्रुतिप्रमाण	११८		

मन्त्र विभाग

मन्त्र का अर्थ	१४४	परिसंख्या के भेद	१४९
नियमविधि	१४६	लाक्षणिकी के तीन दोष	१४९
परिसंख्याविधि	१४८		

नामधेय विभाग

नामधेय का लक्षण तथा उसकी सार्थकता	१५५	तत्प्रख्यशास्त्र से नामधेयता	१६२
नामधेय के चार निमित्त	१५७	तद्व्यपदेश से नामधेयता	१६६
		उत्पत्तिशिष्टगुण का हेतुत्वनिरास	१६८

निषेध विभाग

निषेध का अर्थ	१७०	पर्युदास और उपसंहार का अन्तर	१८४
लिङर्थ से नञ् का अन्वय	१७०	विकल्प में भी प्रतिषेध	१८८
नञ् का स्वभाव	१७३		
नञ् के दो बाधक	१७४		

अर्थवाद विभाग

अर्थवाद का अर्थ	१९०	अर्थवाद के पुनः तीन भेद	१९४
अर्थवाध के दो भेद	१९२	निष्काम कर्म की मोक्षहेतुता	१९५

परिशिष्ट

(१) मूल-अंश में उद्धृत मन्त्रादि का आकर-निर्देश	१९९
(२) मीमांसा के प्रमुख आचार्य और उनके ग्रन्थ	२०१
(३) विधिविभाग का रेखाचित्र	२०४
(४) पारिभाषिक-शब्दावली	२०५

॥ श्रीः ॥

श्रीलौगाक्षिभास्करप्रणीतः

अर्थसंग्रहः

'मीमांसार्थसंग्रहकौमुदी'-सहित-'प्रकाशिका'-हिन्दीव्याख्योपेतः

उपोद्घातविभागः

मङ्गलाचरणम्

वासुदेवं रमाकान्तं नत्वा लौगाक्षिभास्करः ।
कुरुते जैमिनिनये प्रवेशायार्थसंग्रहम् ॥ १ ॥

अर्थ—लक्ष्मीपति विष्णु को प्रणाम कर लौगाक्षिभास्कर महर्षि जैमिनि द्वारा सूत्रबद्ध किये गये मीमांसाशास्त्र में प्रवेश कराने के लिये—उसका प्रारम्भिक ज्ञान प्राप्त कराने के निमित्त—'अर्थसंग्रह' नामक ग्रन्थ की रचना कर रहे हैं।

❀ अर्थसंग्रहकौमुदी ❀

आद्यो यो हेतुर्विश्वसर्गे महेशो यज्ञादीनां (को) यो हव्यनिक्षेपदेवः ।
भूतानां भर्ता सर्वभूतान्तरात्मा हृद्यं मे कार्यं तत्प्रणामः करोतु ॥ १ ॥

श्रीजैमिनिनये ग्रन्थः प्रवेशाय निरूपितः ।
विदुषा तत्र बालानां कौमुदीयं वितन्यते ॥ २ ॥

इह खलु परमकारुणिकेन मुनिना जैमिनिना धर्माधर्मविवेकाय द्वादशलक्षणी मीमांसा प्रणीता । तत्र हि प्रवेशाय शिशूनामर्थसंग्रहाख्यं प्रकरणं प्रारभमाणो लौगाक्षिभास्करः शिष्टाचारपरिप्राप्तं प्रचयगमनादिफलकमिष्टदेवतानमस्कारलक्षणं मङ्गलमाचरति—वासुदेवमित्यादिना । वासुदेवं श्रीनारायणं सर्वनिवासाधिष्ठानं प्रकाशात्मकं ब्रह्मेत्यर्थः । रमाकान्तं रमाया लक्ष्म्याः कान्तमित्यर्थः । न चेश्वरानङ्गीकारो द्रव्यत्यागोद्देश्यविष्णुदेवतायाः स्वीकृतत्वादित्यन्यत् । जैमिनिनय इति । जैमिनिप्रणीते द्वादशाध्यायात्मके पूर्ववेदभागविचारात्मके तन्त्र इत्यर्थः । प्रवेशाय बालानामिति शेषः । अर्थसंग्रहमिति । अर्थानां द्वादशाध्यायप्रतिपाद्यप्रमाणादिपदार्थानां संक्षिप्तशब्दरचनया लक्षणादिकथनमित्यर्थः ।

तत्र हि प्रथमे लक्षणे विध्यादेः प्रामाण्यं निरूपितम् । द्वितीये तद्विधेयकर्मभेदो निरूपितः । तृतीये विहितानां शेषशेषिभावः । चतुर्थे क्रतुप्रयुक्तानुष्ठेयानां पुरुषार्थप्रयुक्तानुष्ठेयानां

च पदार्थानां परिमाणं चिन्तितम्। पञ्चमेऽनुष्ठेयपदार्थानामनुष्ठानक्रमो निरूपितः। षष्ठे विहितकर्मफलभोक्तृत्वरूपाधिकारनिरूपणम्। सप्तमे प्रकृतावुपदिष्टाङ्गानां विकृतौ सामान्यातिदेशो निरूपितः। अष्टमे 'आग्नेयोऽष्टाकपाल' इत्यादिप्रकृत्यङ्गानां 'सौर्यं चरुं निर्वपे'-दित्यादिविकृतौ सप्रपञ्चं द्रव्यदेवादिद्वारेण विशेषातिदेशः। नवमे प्रकृतावुपदिष्टानां मन्त्र-साम-संस्कारकर्मणां विकृतावतिदेशप्राप्तानां प्रकृतिविकृत्योरग्निसूर्यादिदेवतादिभेदे प्रकृतिगतं देवतादिवाचकं पदं विहाय विकृतौ देवतादिवाचकस्य पदस्याध्याहार ऊहो निरूपितः। यथा—'अग्नये जुष्ट'मिति मन्त्रे प्रकृत्युपदिष्टे विकृतावतिदेशप्राप्तेऽग्निपदपरित्यागेन सूर्य-पदाध्याहारः। यथा च 'गिरागिरा च दक्षस' इत्यत्र साम्नि 'गिरा' पदस्य परित्यागेनेरा-पदाध्याहारः साम्नामूहः, व्रीह्यादिद्रव्यान्तरसंबन्धिनश्चावघातादेर्नीवारादिद्रव्यान्तरसम्बन्धः, संस्कारकर्मणामूहश्च। दशमे विकृतौ चोदकप्राप्तानां प्राकृताङ्गानां प्रकृतौ सावकाशानां विकृतौ ह्युपदिष्टविशेषाङ्गादिना बाधो निरूपितः। यथा—प्रकृतेः सकाशाद्विकृतावति-दिष्टानां बर्हिषां 'शरमयं बर्हि'रित्युपदिष्टेन शरमयबर्हिषा विकृतौ बाधः। एकादशे चानेकाङ्गिविधिप्रयुक्तानामङ्गानां सकृदनुष्ठानात् सर्वाङ्गिनामुपकारसाम्यं तन्त्रं निरूपितम्। यथा—'आग्नेयोऽष्टाकपालः', 'उपांशुयाजमन्तरा यजति', 'अग्नीषोमीयमेकादशकपाल'-मित्यादिपौर्णमासादिकर्मप्रयुक्तानां प्रयाजाद्यङ्गानां सकृदनुष्ठानात्सर्वाङ्ग्युपकारः। द्वादशे त्वेकाङ्गिप्रयुक्तस्याङ्गानुष्ठानस्य तत्प्रयोजकसामर्थ्यरहितेऽङ्गयन्तरेऽप्युपकारः प्रसङ्गो निरू-पितः। यथा—'अग्नीषोमीयं पशुमालभेते'ति पशुविधौ प्रयुक्तानां प्रयाजाद्यङ्गानां पशु-पुरोडाशेऽप्युपकार इति। तथा च ते पदार्थाः केचिदत्रापि संक्षेपेण निरूपिताः, केचित्तु सूचितास्तत्र कांश्चित्पदार्थांस्तत्र तत्र प्रदर्शयिष्याम इत्यर्थसंग्रहमित्यस्योपपत्तिः। तथा सति यानि च विषयादीनि जैमिनितन्त्रस्य तान्येवास्यापि, तत्प्रकरणत्वात्। तस्य च धर्म एव विषयः, अधर्मस्तु निरसनीयतया विचारितः सोऽपि। अधिकारी अधीतवेदवेदाङ्गो धर्मजिज्ञासुः। श्रेयोऽर्थः प्रयोजनं च विचारितधर्मानुष्ठानेन स्वर्गादि। संबन्धो बोध्यबोधक-भावलक्षणो धर्मतन्त्रयोरिति ॥ १ ॥

❀ प्रकाशिका ❀

किसी शुभ कार्य के प्रारम्भ में देव, द्विज, नृप आदि की स्तुति, प्रणाम आदि के रूप में मङ्गलाचरण की परम्परा भारत में दीर्घकाल से है।[1] इससे सम्भावित विघ्नों का नाश होता है और कार्य यथेच्छ रूप में पूर्ण हो जाता है। इसी परम्परा का निर्वाह यहाँ भी किया गया है।[2] ग्रन्थ के प्रारम्भ में मङ्गलाचरण ने शिष्टाचार का रूप ले लिया जिसे जैन, बौद्ध आदि नास्तिक आचार्यों ने भी अपनाया।

---

१. माङ्गलिकः आचार्यो महतः शास्त्रौघस्य मङ्गलार्थं सिद्धशब्दमादितः प्रयुङ्क्ते। मङ्गलादीनि हि शास्त्राणि प्रथन्ते वीरपुरुषकाणि भवन्ति आयुष्मत्पुरुषकाणि च अध्येतारश्च सिद्धार्था यथा स्युः। पातञ्जलमहाभाष्यम्।

२. ननु मङ्गलस्य समाप्तिसाधनत्वं नास्ति। मङ्गले कृतेऽपि कादम्बर्यादौ निर्विघ्न समाप्त्यदर्शनात् मङ्गलाभावेऽपि किरणावल्यादौ समाप्तिदर्शनात् अन्वयव्यतिरेकव्यभिचारादिति चेत्। न। कादम्बर्यादौ विघ्नबाहुल्यात् समाप्त्यभावः। किरणावल्यादौ तु ग्रन्थाद् बहिरेव मङ्गलं कृतमतो न व्यभिचारः। ननु मङ्गलस्य कर्तव्यत्वे किं प्रमाणमिति चेत्। न। शिष्टाचारानुमितश्रुतेरेव प्रमाणत्वात्। "समाप्तिकामो मङ्गलमाचरेत्" इति श्रुतेः। तर्कसंग्रहदीपिका।

मीमांसादर्शन आस्तिक अर्थात् वेदों का प्रामाण्य स्वीकार करने वाला होने पर भी प्राचीन रूप में निरीश्वरवादी था। सृष्टि अथवा वेद की रचना के लिये किसी ईश्वर जैसे तत्त्व की आवश्यकता नहीं रही जैसी नैयायिकों को थी। उनके अनुसार सृष्टि अनादि है और वेद नित्य हैं। इन्हें किसी ने बनाया नहीं। प्राणियों को अपने-अपने कर्मों के फल 'ऋत' एवं 'सत्' के आधार पर मिलते हैं। इस मान्यता के अनुसार किसी भी 'ईश्वर' 'भगवान्' आदि जैसे शक्तिमान् की वन्दना न अपेक्षित है, न उचित ही, फिर उसे यहाँ स्वीकार नहीं करना चाहिये। किन्तु वस्तुतः निरीश्वरवादी होने पर भी, नैयायिकों की भाँति ईश्वर की आवश्यकता न समझने पर भी, मीमांसा 'निर्देव' नहीं है। यहाँ अग्नि, विष्णु, इन्द्र आदि देवताओं को स्वीकार किया गया है जिनको लक्ष्य करके यज्ञों में हव्य का विसर्जन होता है। प्रस्तुत मङ्गलाचरण में प्रणम्य वासुदेव विष्णु के वाचक हैं जो पुराणों के त्रिदेवों में एक एवं प्रमुख हैं, यद्यपि इनके संहितोक्त स्वरूप, परिकर-परिवेश, अधिकार आदि से पौराणिक स्वरूप आदि में अन्तर है। प्रारम्भ में निरीश्वर किन्तु बाद में सेश्वर हो गये वैशेषिक दर्शन की भाँति मीमांसा भी उत्तरकाल में सेश्वर हो गई। आचार्यों ने समकालीन वातावरण एवं परिस्थितियों से प्रभावित होकर इष्टदेवताओं को पूजा और सम्प्रदाय की बातों पर ध्यान न देकर भी प्रारम्भ में शिष्टाचारवश अपने इष्टदेव का स्मरण किया। भास्कर तो पूर्णतः ईश्वरवादी हैं और ग्रन्थ के अन्त में ईश्वरार्पण की भावना से कर्मसम्पादन विहित मानते हैं।

कुछ आचार्य इस मङ्गलाचरण के कुछ पदों का विशेष अर्थ ग्रहण करते हैं। उनके अनुसार 'वासुदेव रमाकान्त' पदों का अर्थ होगा—'महाधनी कुल में उत्पन्न धनसमृद्धि से सम्पन्न' और 'अर्थसंग्रह' का 'धनसंचय'। अतः श्लोक का अर्थ होगा—'जिस प्रकार कोई परोपकारपरायण पुरुष धनहीन लोगों को दुर्गम देशविशेष में प्रवेश कराने के लिये महाधनी कुल में उत्पन्न और धन-समृद्धि से सम्पन्न पुरुष से याचना करके स्वयं अपना अपकर्ष प्रदर्शित करते हुए धनसंग्रह करता है, उसी प्रकार यह लौगाक्षिभास्कर भी……।[1] अभिधामूला व्यंजना से यह चामत्कारिक अर्थ असम्भव नहीं है, असमीचीन भी नहीं है, तथापि ग्रन्थकार का उद्देश्य शिष्टाचार की परम्परा की अक्षुण्णता में ही निहित प्रतीत होता है। प्रो० गजेन्द्रगडकर तथा करमरकर के अनुसार वासुदेव की वन्दना भास्कर के पाञ्चरात्र वैष्णव सम्प्रदाय के अनुगामी होने का सूचक हो सकता है। इसके अतिरिक्त 'विष्णुः यज्ञः' आदि वेदवाक्य मीमांसा में विष्णु के प्राधान्य के भी ज्ञापक हैं। यह भी संभव है कि 'वासुदेवं रमाकान्तं' पदों को लौगाक्षिभास्कर ने अपने पिता एवं माता वासुदेव एवं रमा अथवा इन्हीं नामों वाले अपने गुरु-गुरुपत्नी के लिये प्रयुक्त किया हो।[2]

लौगाक्षिभास्कर ग्रन्थकार का नाम है। इसमें 'लौगाक्षि' पद उनके कुल का सूचक है और 'भास्कर' उनका अपना नाम है। अन्य भास्कर नाम वाले पुरुषों से अपनी भिन्नता प्रकट करने के लिये उन्होंने कुल का नाम भी जोड़ लिया है। 'लौगाक्षिभास्करः कुरुते' इन 'कर्त्ता' एवं 'क्रिया' पदों से भ्रम हो सकता है कि ग्रन्थ की रचना लौगाक्षिभास्कर ने की है किन्तु मङ्गलाचरण की किसी दूसरे व्यक्ति ने की। अपना उल्लेख अन्य पुरुष में करने से आचार्य मम्मट, आनन्दवर्धन आदि के विषय में विद्वानों में इसी प्रकार का भ्रम दृष्टिगोचर होता है। वस्तुतः यहाँ भ्रम नहीं होना चाहिये और मङ्गलश्लोक का भी कर्त्ता शेष ग्रन्थ का रचयिता ही समझा जाना चाहिये। उसने यह प्रयोग मात्र विनम्रता प्रदर्शन हेतु किया है।

'जैमिनिनय' का अर्थ यहाँ जैमिनि मुनि द्वारा सूत्रबद्ध किया गया मीमांसादर्शन अभिप्रेत है।

---

१. यथान्यः परोपकारपरायणो निःस्वानां दुर्गमदेशविशेषप्रवेशाय वसुभिर्धनैर्दीव्यतीति वसुदेवस्तस्यापत्यं महाधनकुलोद्भूतं लक्ष्मीप्रियं विद्यमानधनसमृद्धिकञ्च पुरुषविशेषं याच्ञया स्वस्यापकर्षं बोधयित्वा अर्थसंग्रहं धनसंग्रहं कुरुते तथायमपीति…। प्रतिपादिका टीका पृ० २।

२. The Arthasamgraha of Bhaskar : Page 71

जैमिनि ने मीमांसादर्शन को जन्म नहीं दिया, वह तो पहले से भी विद्यमान था, इन्होंने सम्प्रदाय के सिद्धान्तों को सुसम्बद्ध रूप में सूत्रित किया था। इनका यह प्रयास इतना सफल रहा कि इस दर्शन का नाम ही इनके नाम पर पड़ गया।[1] पतञ्जलि, व्यास, नारद, शाण्डिल्य आदि क्रमशः योगसूत्र, ब्रह्मसूत्र, भक्तिसूत्र और शाण्डिल्यसूत्रों के रचयिता हैं न कि उन विद्याओं के, किन्तु इनके व्यक्तित्व की प्रधानता से इनके नाम पर शास्त्र ही ख्यात हो गये।

(१) अथ परमकारुणिको भगवाञ्जैमिनिर्धर्मविवेकाय द्वादशलक्षणीं प्रणिनीय† तत्रादौ धर्मजिज्ञासां सूत्रयामास–'अथातो धर्मजिज्ञासे'ति। (जै० सू० १।१।१) अत्राथशब्दो वेदाध्ययनानन्तर्यवचनः। अतःशब्दो हि वेदाध्ययनस्य दृष्टार्थत्वं ब्रूते। 'स्वाध्यायोऽध्येतव्य' इत्यध्ययनविधौ तदध्ययनस्यार्थज्ञानरूपदृष्टार्थकत्वेन व्यवस्थापनात्। तथा च वेदाध्ययनानन्तरं यतोऽर्थज्ञानरूपदृष्टार्थकं तदध्ययनमतो हेतोर्धर्मस्य वेदार्थस्य जिज्ञासा कर्तव्येति शेषः। जिज्ञासापदस्य विचारे लक्षणा। अतो धर्मविचारशास्त्रमिदमारम्भणीयमिति शास्त्रारम्भसूत्रार्थः।

अर्थ—अतीव करुणामय श्रीमान्[2] जैमिनि मुनि ने धर्म के वास्तविक स्वरूप के ज्ञान के लिये बारह अध्यायों वाले 'मीमांसासूत्र' ग्रन्थ की रचना करके वहाँ प्रारम्भ में धर्म के विषय में जिज्ञासा को सूत्रित किया कि—अथ अतः धर्म जिज्ञासा'—(वेदाध्ययन के) अनन्तर (अर्थज्ञानरूप दृष्ट प्रयोजन की सिद्धि) के लिये (वेद के अर्थस्वरूप) धर्म को जानने की इच्छा करनी चाहिये। यहाँ (इस सूत्र में) 'अथ' शब्द वेद के अध्ययन के आनन्तर्य का वाचक है। (सूत्र में प्रयुक्त) 'अतः' पद वेद के अध्ययन की दृष्ट-प्रयोजनता को व्यक्त करता है। 'स्वाध्यायोऽध्येतव्यः' अध्ययन के विधायक इस वाक्य में वेद के अध्ययन का अर्थज्ञानरूप दृष्ट-प्रयोजन निर्धारित किया गया है। इस प्रकार (इस अथातो आदि पूरे सूत्र का अर्थ हुआ कि) चूँकि वेद के अध्ययन का दृष्टफल उसके अर्थ का ज्ञान है इसलिये वेदाध्ययन के पश्चात् वेद के अर्थभूत धर्म के ज्ञान की इच्छा करनी चाहिये। (सूत्र में) 'कर्त्तव्या'—करनी चाहिये—पद उपात्त नहीं है, छूट गया है (अतः अर्थ की सङ्गति के लिये उसका अध्याहार कर लेना चाहिये।) 'जिज्ञासा' पद में 'विचार' अर्थ की प्राप्ति के लिये लक्षणाशक्ति का ग्रहण अपेक्षित है। (अथवा 'जिज्ञासा' पद के अर्थ का विचार करते समय 'लक्षणा' शक्ति का आश्रय लेना चाहिये।) इसलिये मीमांसाशास्त्र के प्रारम्भिक सूत्र (अथातो धर्म आदि) का अर्थ यह हुआ कि धर्म पर विचार करने वाले इस शास्त्र का अध्ययन प्रारम्भ करना चाहिये।

तत्र तावत्प्रतिज्ञातमर्थसंग्रहं निरूपयितुं स्वप्रकरणस्य तन्त्रारम्भाधीनारम्भकत्वात्तन्त्रारम्भार्थकं सूत्रमवतारयति—अथेत्यादिना। अत्र चाथशब्दः सौत्रार्थशब्दसमानार्थकः। वेदाध्ययनानन्तरं तदर्थविचारः कर्तव्य इति धर्मजिज्ञासां सूत्रयामासेति तदर्थः। परमकारुणिको

---

१. 'ब्रह्मा प्रजापतये मीमांसां प्रोवाच, सोऽपीन्द्राय, सोऽप्यग्नये, स च वसिष्ठाय, सोऽपि पराशराय, पराशरः कृष्णद्वैपायनाय, सोऽपि जैमिनये, स च स्वोपदेशादनन्तरमिमं न्यायं ग्रन्थे निबद्धवान् इति। क्वचित्तु ब्रह्मा महेश्वरो वा प्रजापतये मीमांसां प्रोवाच, प्रजापतिरिन्द्राय, इन्द्र आदित्याय इत्येवमादि पाठान्तरम्।' सिद्धान्त-चन्द्रिका, The Arthasamgraha P. 73. से उद्धृत।

† प्रणिनाय, इति पाठान्तरम्।

२. भगं श्रीकाममाहात्म्यवीर्ययत्नार्ककीर्तिषु—अमरकोश ३।३।२।६।

निरुपधिकरुणायुक्तः । भगवान् कीर्त्यादिमान् । 'भगं श्रीकाममाहात्म्यवीर्ययत्नार्ककीर्तिष्वि'-त्यमरात् । जैमिनिरादौ धर्मजिज्ञासां सूत्रयामासेत्यन्वयः । कस्यादाविति वीक्षायामाह—द्वादशलक्षणीमिति । द्वादशानां लक्षणानामध्यायानां समाहारो द्वादशलक्षणी तां प्रणिनीय बुद्धौ समारोप्य । तत्र तस्यां तस्या वेत्यर्थः । लोकेऽपि जनः स्वकृत्यं समाकलय्य तत्करणे प्रवर्तत इति प्रसिद्धेर्न प्रणिनीय सूत्रयामासेति विरोधः । प्रणिनायेति पाठान्तरे तु प्रणयनं कृतवानित्यर्थः । प्रणिनायेत्युक्ते केन क्रमेणेति वीक्षायां तत्रेत्याद्युत्तरं धर्मविवेकायेत्य-धर्मस्याप्युपलक्षणं, तयोर्विवेकाय निर्णयज्ञानायेत्यर्थः । कुत्र धर्मजिज्ञासां सूत्रयामासेति वीक्षायामाह—अथेति । सूत्रं व्याचष्टे—अत्रेत्यादिना । अत्र सूत्रे, अस्य च प्रथमसूत्रस्य 'चोदनालक्षणोऽर्थो धर्म' इत्यारभ्य 'अन्वाहार्ये च दर्शना'दित्यन्तं जैमिनिप्रणीतं धर्मविचार-शास्त्रं विषयः । तत्र संशयः—किमस्य धर्मविचारतन्त्रस्यारम्भोऽध्ययनविध्यप्रयोज्य-स्तत्प्रयोज्यो वेति । तत्र यदि स्वाध्यायाध्ययनविधिनार्थज्ञानाय दृष्टप्रयोजनाय वेदाध्ययनं विधीयेत तदा तस्य शास्त्रारम्भे भवेदपि प्रयोजकत्वम् । नैतदस्ति, अन्यथासिद्धत्वात् । तथा हि किमत्यन्ताप्राप्तार्थज्ञानहेतुमध्ययनं तद्विधिर्विधत्ते, किंवा पक्षे प्राप्तस्यावघातव-न्नियमेन ? नाद्यः । विवादास्पदं वेदाध्ययनमर्थज्ञानहेतुः अध्ययनत्वाद्भारताद्यध्ययनवत्-इत्यनुमानेनैवाध्ययनस्यार्थज्ञानहेतुत्वप्राप्तेः । नापि द्वितीयः । अवघातवैषम्यात् । यथाऽव-घातनिष्पन्नैरेव तण्डुलैरनुष्ठीयमानौ दर्शपूर्णमासाववान्तरापूर्वद्वारेण परमापूर्वं जनयतः तदपूर्वमेवावघातनियमहेतुः, तथा लिखितपाठेन गुरुपूर्वकाध्ययनेन वार्थज्ञानसंभवात्पक्षे प्राप्ताध्ययननियमहेतुर्वक्तव्यः । स च नास्ति । लिखितपाठजन्यार्थज्ञानेनैव क्रत्वनुष्ठानसिद्धेः प्रयोजकाभावात् । तस्मादुक्तविधिद्वयासंभवादर्थज्ञानहेतुविचारशास्त्रारम्भस्य न विधि-प्रयोज्यत्वमिति प्राप्तम् । अत्रोच्यते—यदुक्तम् अध्ययनस्यार्थज्ञानहेतुत्वमनुमानसिद्धमिति नात्यन्ताप्राप्तविधिरिति तत्तथैव । नियमविधिस्तु भवत्येव । न च प्रयोजकाभावः । सकल-क्रत्वपूर्वस्यैव प्रयोजकत्वाद्दर्शपूर्णमासजन्यपरमापूर्वस्यावघातनियमजन्यापूर्वकल्पकत्ववदेव च क्रतुजन्यापूर्वजातस्य क्रतुज्ञानसाधनाध्ययननियमजन्यापूर्वकल्पकस्य सत्त्वान्नियमादृष्टस्य कल्पनादर्थज्ञानसाधनयोर्लिखितपाठगुरुपूर्वकाध्ययनयोः पक्षे प्राप्तत्वात् यदा गुरुपूर्वकाध्ययनं परित्यज्य लिखितपाठादिनार्थज्ञानं संपादयितुं व्युत्पन्नः पुरुषः प्रवर्तते तदा नियमादृष्टाय गुरुपूर्वकाध्ययनमेवार्थज्ञानसाधनं विधीयते, क्रतुजन्यापूर्वप्रयुक्तनियमादृष्टस्यास्वीकारे च श्रूयमाणो विधिरनर्थकः स्यात् । न च नानर्थको लिखितपाठगुरुपूर्वकाध्ययनयोरक्षरग्रहण-मात्रेऽप्यविशेषसाधनत्वात् यदा गुरुपूर्वकाध्ययनं परित्यज्य लिखितपाठेनाक्षरग्रहणाय प्रवर्तते तदा गुरुपूर्वकाध्ययनमेव नियमादृष्टाय विधीयत इति वाच्यम् । तत्फलस्य कल्प्यत्व-प्रसङ्गात् । अर्थज्ञानरूपदृष्टप्रयोजनाध्ययनस्य विधेयत्वे तु नियमादृष्टस्य क्रतुजन्यापूर्वे श्रुतफले ह्युपयोगो भविष्यति । न च 'यदृचोऽधीते पयसः कुल्या अस्य पितॄन्स्वधा वहन्ती'त्यार्थवादिकं श्रुतमेव फलमिति वाच्यम् । तस्य नित्याध्ययनविधिफलत्वेन प्रथमा-ध्ययनविधिफलत्वाभावात् । किंचाध्ययनव्यापारस्य संभवत्यर्थज्ञानरूपदृष्टफलकत्वे केवला-दृष्टार्थकत्वानुपपत्तेः । तथा चोक्तम्—'लभ्यमाने फले दृष्टे नादृष्टपरिकल्पना । विधेस्तु निय-मार्थत्वान्नानर्थक्यं भविष्यति ॥' इति । किंच विधिनैव वेदाध्ययनस्य तदर्थज्ञानपर्यवसायित्वं

तदर्थनिर्णयहेतुविचारकर्तव्यता चाक्षिप्यते। तथा हि 'स्वाध्यायोऽध्येतव्य' इत्यत्र तव्यप्रत्ययः शाब्दभावनामभिधत्ते। सा च स्वभाव्यं विनानुपपद्यमाना किंचिद्भाव्यं कल्पयति। तत्र चैकप्रत्ययोपात्तत्वेनार्थभावनैव भाव्यत्वेन समन्वेति। सापि स्वभाव्यमन्तरेणानुपपद्यमाना किंचिद्भाव्यमाक्षिपति। तत्रापि फलपदस्याश्रवणात्समभिव्याहृतः स्वाध्यायः कर्मभूत एव भाव्यत्वेन संबध्यते। तस्य च फलवदर्थावबोधपर्यन्तत्वाभावे भाव्यतानुपपत्त्या फलवदर्थावबोधपर्यवसायित्वमापतति। अर्थनिर्णयमन्तरेण च फलवदर्थावबोधस्यासंभवेनार्थनिर्णयहेतुविचारकर्तव्यतामप्यध्ययनविधिराक्षिपतीति। तस्मादर्थज्ञानरूपदृष्टप्रयोजनायैव वेदमध्ययनं विधीयते नाक्षरग्रहणमात्रायेति सिद्धान्तमभिप्रेत्याथशब्दं वेदाध्ययनानन्तर्यार्थकत्वेन, अतः शब्दं च वेदाध्ययनस्य वेदार्थज्ञानरूपदृष्टार्थकत्वपरत्वेन च व्याचष्टे—अथशब्द इत्यादिना।

तत्र हेतुमाह—स्वाध्याय इत्यादिना। अध्ययनविधाविति। अध्ययनविध्यनुकूलविचारात्मके प्रमाणलक्षणस्य प्रथमाधिकरण इत्यर्थः। वेदः तच्छब्दार्थः। कर्तव्यपदाध्याहारेण सूत्रं योजयति—तथा चेत्यादिना। तथा चेति। वेदाध्ययनस्य दृष्टार्थत्वे च सतीत्यर्थः। तस्य वेदस्याध्ययनं यतोऽर्थज्ञानरूपदृष्टार्थकमतो हेतोर्वेदाध्ययनानन्तरं वेदार्थस्य धर्मस्य जिज्ञासापदार्थनिर्णयहेतुविचारः कर्तव्य इत्यध्ययनविधिप्रयुक्त्यैव शास्त्रमारम्भणीयमिति भावः। ननु जिज्ञासा हि ज्ञानेच्छा। न च सा कर्तुं शक्यते। तस्या व्यापारागोचरत्वात्, इच्छामात्रेणानुष्ठानोपयोगिधर्मज्ञानासंभवाच्चेत्यत आह—जिज्ञासापदस्येति। तथा च जिज्ञासेत्यत्र प्रकृत्या ज्ञानमात्रशक्तिमत्यानुष्ठानोपयोगिज्ञानमजहल्लक्षणया प्रत्ययेन च साध्यसाधनभावसंबन्धेनेच्छासाध्यो विचारो जहल्लक्षणया च बोध्यत इत्यर्थः। समर्थितं शास्त्रारम्भमुपसंहरति—अत इति। स्वाध्यायाध्ययनविधेः शास्त्रारम्भे प्रयोजकत्वमतःशब्दार्थः।

ननु धर्मविचारशास्त्रमारम्भणीयमित्युक्तम्। विचारविषयधर्मस्यानिरूपणात्, तदनिरूपणं च लक्षणप्रमाणाभावात्। लक्षणप्रमाणाभ्यामेव हि वस्तुसिद्धिर्नान्यथा। अत एवोक्तम्—'मानाधीना मेयसिद्धिर्मानसिद्धिश्च लक्षणा'दिति। सजातीयविजातीयवस्त्वन्तरेभ्यः स्वलक्ष्यस्य व्यावर्तको लोकप्रसिद्धः कश्चिदाकारविशेषो लक्षणम्। तेन च लक्षणेन लक्ष्ये संभाविते सति ततः प्रमाणेन तदवगच्छति। यथा सास्नादिमती गौरिति गोलक्षणलक्षितपदार्थमन्विष्येयं गौरिति चक्षुरादिना तदवगच्छति, तथा धर्मस्य नास्ति लक्षणम्, अलौकिकत्वात्। न च विहितक्रियात्वं धर्मत्वमिति वाच्यम्। विहितद्रव्याव्याप्तिप्रसङ्गात्। न च तस्यालक्ष्यत्वं, फलार्थं गुणानुष्ठातरि धार्मिकोऽयमिति व्यवहारस्याभावप्रसङ्गात्। न चेष्टापत्तिः। इन्द्रियकामाद्यधिकरणस्य धर्मविचारात्मकत्वाभावेन शास्त्रसंगत्यभावप्रसङ्गात्। फलार्थं विहितस्य दध्यादिगुणस्य धर्मत्वाभावे तज्जन्यादृष्टस्यापि धर्मत्वासंभवेन तस्य 'धर्मः क्षरति कीर्तना'दिति श्रुतकीर्तननाश्यत्वाभावप्रसङ्गाच्च।

यहाँ जैमिनि मुनि को "परमकारुणिक" कहा गया है। वस्तुतः ऋषिगण प्राणियों के दुःखों को देखकर द्रवित हो जाते हैं और बिना किसी पक्षपात के वे लोगों के लिये उनके अधिकारानुसार

दुःख से मुक्ति का उपाय निरूपित करते हैं। वहाँ शास्त्रनिर्माण में हेतु करुणा ही होती है, कोई स्वार्थ नहीं। 'परम कारुणिक' एवं 'भगवान्' पद श्रद्धातिशय के वाचक हैं।[1]

'धर्मविवेक' पद से धर्म एवं अधर्म[2] दोनों का ज्ञान समझना चाहिये। यह मत शास्त्रदीपिका में पार्थसारथिमिश्र ने व्यक्त किया है। सामान्यतः 'विवेक' शब्द का प्रयोग वहाँ किया जाता है जहाँ दो अथवा अधिक विषयों का ज्ञान प्राप्त कर किसी एक का ग्रहण अभीष्ट हो। उदाहरणार्थ 'नीरक्षीर-विवेक' पद है। हंस नीर एवं क्षीर दोनों के स्वरूप को जानकर क्षीर का ग्रहण करता है। इसी प्रकार जिज्ञासु धर्म एवं अधर्म दोनों को जानकर धर्म के अनुकूल आचरण करता है। यहाँ 'धर्म' पद का ही ग्रहण इसलिये किया गया है क्योंकि इसकी अपेक्षा और भी अधिक एवं विविध स्वरूप वाले अधर्म का वर्णन करने में प्रयत्नगौरव होता। सामान्य अनुभव की बात है कि शुद्ध शब्द एक होता है किन्तु उसी एक के अशुद्धरूप देश, काल, व्यक्ति आदि के भेद से अगणित हो सकते हैं। यह तर्क महर्षि पतञ्जलि के व्याकरण महाभाष्य में मिलता है जहाँ उन्होंने 'असाधु' एवं 'तद्भव' पदों के स्थान पर 'साधु' एवं 'तत्सम' पदों के लिये व्याकरणशास्त्र की रचना का औचित्य सिद्ध किया है।

'द्वादशलक्षणी' महर्षि जैमिनिप्रणीत 'मीमांसासूत्र' का नामान्तर है। यहाँ 'लक्षण' शब्द 'अध्याय' का पर्याय है।[3] मीमांसासूत्र बारह अध्यायों में विभाजित है और प्रत्येक अध्याय में सामान्यतः एक-एक मुख्य विषय का निरूपण है, अतः यहां द्वादशाध्यायी, द्वादशलक्षणी, मीमांसा-सूत्र, मीमांसादर्शन आदि परस्पर पर्याय हैं। अध्यायशः विषय इस प्रकार हैं—

तथा हि प्रथमाध्याये विध्यर्थवादादिरूपं प्रमाणं निरूपितम्। द्वितीये यागदानादिकर्मभेदाः। तृतीये प्रयाजादीनां दर्शपौर्णमासार्थत्वेन तच्छेषत्वमिति शेषशेषिचिन्तनम्। चतुर्थे क्रत्वर्थत्वपुरुषार्थत्वनिरूपणम्। पञ्चमे श्रुत्यर्थपाठप्रवृत्तिकाण्डमुख्यक्रमादीनां नियमः। षष्ठे कर्मफलभोक्तृत्वरूपोऽधिकारी अन्धादेरनधिकारश्च। सप्तमे समानमितरम् श्येनेनेत्यादिना सामान्योऽतिदेशः। अष्टमे अविहितधर्मकेषु ऐन्द्राग्नादिषु विहितधर्मकेभ्यो दर्शपौर्णमासादिभ्यो विशेषतोऽतिदेशः। नवमे विकृतौ मन्त्रे पठनीये असमवेतार्थपदपरित्यागेन समवेतार्थपदनिवेशरूप ऊहः। दशमे कृष्णलेष्वतिदेश प्राप्तस्यावघातस्य वितुषीकरणरूपप्रयोजनासम्भवेन लोप इत्येवमादिविधिः। एकादशे सकृदनुष्ठितेन प्रयाजाद्यङ्गेन त्रयाणामाग्नेयादीनामुपकार इत्यादि तन्त्रम्। द्वादशे पश्वर्थमनुष्ठितेन प्रयाजादिना पशुपुरोडाशस्याप्युपकार इत्यादिः। एते च पदार्थाः धर्मप्रतिपादनोपकारिणः। प्रतिपादिका पृ० ३ इसके अतिरिक्त भी द्रष्टव्य जैमिनीयन्यायमालाविस्तर पृ० ५ एवं सर्वदर्शनसंग्रह पृ० २५७-२६१।

'अथ' शब्द बह्वर्थक है। कोशग्रन्थों में मङ्गल, अनन्तर, आरम्भ, प्रश्न, कार्त्स्न्य आदि अर्थ मिलते हैं।[4] सूत्रग्रन्थों के प्रारम्भिक सूत्र का प्रथम-पद प्रायः 'अथ' ही है। यहाँ इसका प्रयोग हुआ ही है, 'वेदान्तसूत्र' में 'अथातो ब्रह्मजिज्ञासा', 'योगसूत्र' में 'अथ योगानुशासनम्', कामसूत्र में 'अथ कामानुशासनम्' आदि देखा जा सकता है। आचार्यों ने अपनी शास्त्र-सङ्गति के अनुसार मङ्गल, आरम्भ, अनन्तर आदि अर्थ लिया है। उदाहरण के लिये 'अर्थसंग्रह' के ही प्रारम्भ में प्रयुक्त 'अथ परम कारुणिको०' आदि का 'अथ' ग्रन्थारम्भ के अर्थ में प्रयुक्त है।[5] 'अथातो धर्म-

१. 'भगवान्' शब्द की व्याख्या के लिये द्रष्टव्य विष्णुपुराण ६।५।६९-७९।

२. धर्मग्रहणं चोपलक्षणार्थम्। अधर्मस्यापि हानाय जिज्ञास्यत्वात्। अकारप्रश्लेषेण वा सूत्रमधर्मजिज्ञासायामपि व्याख्येयमिति निरवद्यम्। शास्त्रदीपिका।

३. द्वादशलक्षणीमिति। लक्ष्यन्ते प्रत्याय्यन्ते पदार्था एभिरिति लक्षणान्यध्यायाः। द्वादशानां लक्षणानां समाहारो द्वादशलक्षणी तामित्यर्थः। द्वादशाध्यायोपेतम् अथातो धर्मजिज्ञासेत्यादि अन्वाहार्ये च दर्शनादित्यन्त सूत्रसङ्घातरूपं शास्त्रमिति यावत्। प्रतिपादिकाटीका पृ० ३, न्यायमालाविस्तर पृ० ५

४. 'मङ्गलानन्तरारम्भप्रश्नकार्त्स्न्येष्वथो अथ'। अमरकोष ॥ ३।३।२४६ ॥

५. 'अथ शब्दो ग्रन्थारम्भद्योतकः। प्रतिपादिका टीका पृ० २।

जिज्ञासा' सूत्र में 'अथ' पद 'आनन्तर्य' का वाचक है। ग्रन्थ के प्रारम्भ में ही 'अथ'—इसके बाद अर्थात् आनन्तर्य का प्रयोग इस तथ्य का द्योतक है कि इस ग्रन्थ और इसके विषयों के अध्ययन के पूर्व अध्येता को कुछ और विषयों का ज्ञान होना चाहिये, तभी वह इस शास्त्र को पढ़ने का उचित अधिकारी हो सकता है, अन्यथा उसे इस प्रारम्भ किये जारहे शास्त्र का ज्ञान संभव नहीं। भिन्न-भिन्न शास्त्रों के अध्ययन के लिये भिन्न-२ अर्हतायें अपेक्षित हैं, जैसे ब्रह्मविद्या के विषयों के विचार के पूर्व 'साधनचतुष्टयसम्पत्ति' आवश्यक है।

'मीमांसादर्शन' को प्रारम्भ करने के पूर्व वेदों का अध्ययन अपेक्षित है। जिसने वेद-वेदाङ्ग आदि का अध्ययन कर लिया है, वही इस शास्त्र का अधिकारी है। इसी भाव को 'अत्राथ-शब्दो०' आदि में व्यक्त किया गया है कि वेद के अध्ययन के बाद ही मीमांसादर्शन का प्रारम्भ करना चाहिये, अतः 'अथशब्द' आनन्तर्यवाचक हुआ। यहाँ यह बात विशेष रूप से ध्यान रखने की है कि प्राचीन काल में अथवा भारत की शास्त्रीय परम्परा में वेदाध्ययय का अर्थ 'अक्षरग्रहण' होता था। अतः अर्थ का ज्ञान हुये बिना भी सम्पूर्ण वेद को कण्ठाग्र करना वेदाध्ययन समझा जाता था। ऐसे भी वैदिक सुने जाते हैं जिनको लिपि और अक्षर की भी पहचान नहीं है, किन्तु गुरुमुख से सुनी गयी पूरी श्रुति कण्ठस्थ है। ऐसे महापुरुषों ने लेखनसामग्री के अभाव में वेदों को परम्परा-क्रम से सुरक्षित रखा। धर्म का ज्ञान वेद से ही होता है, ऐसी मान्यता है, अतः उसके अध्ययन के बिना धर्म का ज्ञान असम्भव है।

वेद के अध्ययन के बाद 'धर्मजिज्ञासा' क्यों होनी चाहिये इसका उत्तर सूत्र में प्रयुक्त 'अतः' पद से मिलता है। इसके अनुसार वेदाध्ययन का फल धर्म ही है, अतः उसे सार्थक करने के लिये फलरूप धर्म का ज्ञान अपेक्षित है। प्रभाकर तथा उनके अनुयायियों के अनुसार--जो वस्तुतः प्रसिद्ध मीमांसाचार्य कुमारिलभट्ट के शिष्य थे--वेदाध्ययन का फल धर्म न होकर स्वर्ग आदि है। किन्तु कुमारिलभट्ट तथा इनके सम्प्रदाय के अनुसार वेदाध्ययन के दो प्रकार के फल हैं--एक है दृष्ट तथा दूसरा है अदृष्ट। प्रथम का स्वरूप, विधान और सम्पादन इसी जीवन में देखा जा सकता है। उदाहरणार्थ वेदमन्त्रों से सम्पाद्य विश्वजित् आदि धर्मकृत्य को सारा लोक देखता है। यह वेदाध्ययन का दृष्टफल है। लोकप्रत्यक्षयोग्य होने के कारण इसे 'दृष्ट' संज्ञा दी गयी है। ये धार्मिक कृत्य वेदाध्ययन के फल इसलिये है क्योंकि इनकों सम्पन्न करने के लिये ही वेदाक्षर ग्रहण अपेक्षित है। अध्ययन का दूसरा फल है 'अदृष्ट'। 'अदृष्ट' नाम इसलिये है क्योंकि फल का प्रयोजन इस जीवनकाल में इन्हीं चक्षुओं से दृष्टिगोचर नहीं होता। स्वर्गसुख आदि फल अदृष्ट हैं और प्राणी इस शरीर का अन्त होने पर ही--धर्मकृत्यों-के फल के रूप में इनका भोग अथवा शास्त्रों से इनके विषय में शाब्दज्ञान कर सकता है। इनका स्वरूप लोकप्रत्यक्षयोग्य नहीं है। ऐसी अवस्था में दो प्रकार के फलों की प्राप्ति होने पर सामान्यतः 'दृष्ट' को ही प्रधान माना जाता है और तत्प्राप्त्यर्थ प्रयास किया जाता है। सिद्धान्त है कि--

'लभ्यमाने फले दृष्टे नादृष्टपरिकल्पना'। (सर्वदर्शनसंग्रह पृ० २६६)

अर्थात् दृष्टफल प्राप्त होने पर अदृष्टफल की कल्पना नहीं करनी चाहिये।

'दृष्टार्थ' पद के 'अर्थ' का मतलब है—प्रयोजन या उद्देश्य इस प्रकार जिस क्रिया का प्रयोजन इन्द्रियग्राह्य है वह 'दृष्टार्थ' हुआ। प्रथम विकल्प में 'व्रीहीन् अवहन्ति' एवं 'व्रीहीन् प्रोक्षति' ये दो उदाहरण द्रष्टव्य हैं। कोई व्यक्ति धान को कूटता है, इसका उद्देश्य स्पष्ट है कि वह धान से चावल निकालना चाहता है, भूसी अलग करना चाहता है। यह चावल एवं भूसी का पृथक् होना लोकप्रत्यक्ष है। किन्तु चावलों पर पानी छिड़कने का कोई प्रयोजन दिखलाई नहीं पड़ता। यह नहीं दिखलाई पड़ता है कि चावलों को धो देने से क्या बन गया। उसका क्या फल हुआ। वह चक्षुग्राह्य नहीं है और न इस जीवनकाल में ही उसका कोई दिखलाई पड़ने वाला फल है। यह बात पृथक् है कि शास्त्रीय आदेश से व्रीहि का प्रोक्षण किया गया और

उसी विधान के अनुसार दूसरे जन्म में उसका फल मिलेगा। इसी प्रकार वेदाध्ययन अर्थात् अक्षर ग्रहण का साक्षात् प्रयोजन है कि इनको ग्रहण करने से यज्ञ सम्पन्न किये जा सकेंगे।

इस रूप में सूत्र में प्रयुक्त 'अतः' पद का अर्थ हुआ कि वेद शब्दराशि कण्ठस्थ कर लेना ही पर्याप्त नहीं है, उसका अर्थ भी जानना आवश्यक है। उसका अर्थ है धर्मरूप यागादि कर्म जो लोकप्रत्यक्ष है। इस लोकप्रत्यक्ष धर्मरूप अर्थ को जानने के लिये प्रयत्न करना ही चाहिये। 'प्रतिपादिका' नाम की टीका के रचयिता कृष्णनाथ के अनुसार यहाँ 'हेतुं' पद का अध्याहार कर लेना चाहिये।[1] अर्थात् दृष्टार्थता वेदाध्ययन का हेतु है।

धर्म की दृष्टार्थता शास्त्रप्रतिपादित है--प्रामाणिक है--अथवा नहीं इसका समाधान ग्रन्थकार ने 'मीमांसादर्शन' के प्रथम अध्याय के प्रथम अधिकरण के सूत्र को उद्धृत करके किया है। उनके अनुसार उक्त अधिकरण में 'स्वाध्यायोऽध्येतव्यः' इस सूत्र का अर्थ यही है कि दृष्टअर्थरूप धर्म के ज्ञान के लिये अपनी कुलपरम्परा के अध्ययन के विषयभूत वेद के शाखाविशेष का अध्ययन करना चाहिये। इस अध्ययन का फल अथवा उद्देश्य अर्थज्ञान ही है, यह सिद्धान्त उक्त सूत्र के भाष्यकार[2], तन्त्रवार्तिककार तथा शास्त्रदीपिकाकार आदि विद्वान् आचार्यों द्वारा स्थिर किया गया है। अतः अध्ययन की धर्मरूप-दृष्टार्थता असन्दिग्ध है।

'स्वाध्यायोऽध्येतव्यः' का अर्थ—'स्वाध्याय' का अर्थ यहाँ अध्ययन का वह विषय-विशेष है जो किसी कुलपरम्परा के लिये सामान्यतः स्वीकृत है। प्राचीनकाल में जो शिक्षा गुरुगृहों में जाकर द्विज ब्रह्मचारी ग्रहण करते थे, वह वस्तुतः वैदिक वाङ्मय की ही हुआ करती थी। वेदशास्त्र का अध्ययन ही उन दिनों शिक्षा का विषय था। ब्रह्मचारी वेदज्ञ आचार्यों की सन्निधि में संहिताओं तथा अङ्गोंपाङ्गों का विधिवत् उच्चारण सीखते थे और उन्हें कण्ठस्थ करते थे। कण्ठस्थ किये जा रहे विषयों में भी सर्वप्रथम उसी संहिता और उसकी शाखा का पाठ कराया जाता था जो विद्यार्थी की कुलपरम्परा में प्राप्त था। आज भी द्विजों में अपने अपने गोत्र के लिये निर्धारित संहिता और शाखा का अध्ययन भले ही प्रचलित न हो, किन्तु उनको या उनके कुलवृद्धों को यह मालूम है कि उनका वेद कौन सा है और उस वेद की कौन सी शाखा उनके लिये निर्धारित है।

विद्यार्थी सर्वप्रथम इनको ही साङ्गोपाङ्ग सीखता था। 'प्रतिपादिका' टीका में इस भाव को स्पष्ट किया गया है--"स्वकुलपरम्पराया अध्ययनविषयः शाखाविशेषः स्वाध्यायः। यो यच्छाखाविशिष्टस्तेन स एव शाखाविशेषोऽध्येतव्य इत्यर्थः।"[3] अर्थात् अपनी कुलपरम्परा के अध्ययन का विषय शाखाविषय ही स्वाध्याय है। जिसके लिये जो शाखा निर्धारित है उसको उसी का अध्ययन करना चाहिये। वशिष्ठ-स्मृति के अनुसार भी अपनी शाखा का अध्ययन करने के बाद ही अन्य शाखाओं का अध्ययन करना चाहिये—

पारम्पर्यागतो येषां वेदः सपरिबृंहणः।
तच्छाखं कर्म कुर्वीत तच्छाखाध्ययनन्तथा॥
स्वीया शाखोज्झिता येन ब्रह्म तेनोज्झितं परम्।
ब्रह्महैव स विज्ञेयः सद्भिर्नित्यं विगर्हितः॥
यः स्वशाखां परित्यज्य पारक्यमधिगच्छति।
स शूद्रवद्वहिष्कार्यः सर्वकर्मसु साधुभिः।
अधीत्य शाखामात्मीयां परशाखां ततः पठेत्॥[4]

---

१. ब्रूते हेतुमिति शेषः पृ० ३।
२. शाबरभाष्य १-२-३१–३ तथा जैमिनीयन्यायमालाविस्तर पृ० १२।
३. प्रतिपादिका। पृ० ४
४. वही। पृ० ४

यहाँ एक अवान्तर प्रश्न और हो सकता है कि जब व्याकरण, कोष आदि से भी अर्थज्ञान हो सकता है, तब 'स्वाध्यायोऽध्येतव्यः' सदृश विधानों की कोई आवश्यकता नहीं रह जाती क्योंकि स्वाध्याय के लिये विधिवत् गुरु के पास जाना पड़ेगा, समयोचित संस्कार आदि कराने पड़ेंगे। इसी प्रकार लिखित ग्रन्थ से भी पाठ सम्भव है, गुरु से अक्षरग्रहण भी निरर्थक है। इसके उत्तर में सिद्धान्तियों का कहना है कि "स्वाध्यायोऽध्ये०" आदि विधियाँ सार्थक हैं, निरर्थक नहीं, क्योंकि जहाँ अनेक विकल्प प्राप्त होते हैं वहाँ किसी एक को निश्चित करना विधियों का कार्य है। एक विकल्प को निश्चित करने का कारण है अपूर्व की सिद्धि। उदाहरणार्थ--दर्शपौर्णमास के प्रसङ्ग में पुरोडाश बनाने के लिये चावल की आवश्यकता है। चावल धान से निकलता है उससे भूसी हटाने पर। भूसी को ओखली में कूट कर अवघातन करके भी निकाला जा सकता है और नख से विदलन करके भी। किन्तु इसी प्रसङ्ग में मन्त्र प्राप्त होता है--'व्रीहीन् अवहन्ति' धान को कूटते हैं--। ऐसी दशा में इस मन्त्र को निरर्थक न मान कर यह अर्थग्रहण किया जाता है कि पुरोडाश के लिये तुषविमोचन नखविदलन से नहीं अपितु अवघातन से करना चाहिये, क्योंकि अवघातन से निकले तन्दुल से बने पुरोडाश से ही दर्शपौर्णमास सम्पन्न करने पर प्रधान 'अपूर्व' बनेगा और स्वर्ग आदि फल की प्राप्ति हो सकेगी, अन्यथा नहीं। इसी प्रकार गुरु से विद्याग्रहण करने पर ही अर्थज्ञान से अपूर्व सम्पन्न हो सकता है, जिससे धर्माचरण करने—यागादि करने—पर स्वर्ग आदि की प्राप्ति संभव है, अन्यथा नहीं। अतः अनेक प्रकारों में से एक का नियामक होने से विधि की सार्थकता सिद्ध है। कहा भी गया है--

'विधेश्च नियमार्थत्वान्नानर्थक्यं भविष्यति।'

जिज्ञासापदस्य विचारे लक्षणा—'ज्ञा' धातु में 'सन्' प्रत्यय लगाकर 'जिज्ञासा' पद निष्पन्न किया जाता है। 'ज्ञा' का अर्थ है 'जानना' और 'सन्' प्रत्यय इच्छार्थक है। पूरे 'जिज्ञासा' पद का अर्थ हुआ 'जानने की इच्छा।' 'जिज्ञासा' पद से सम्बद्ध सूत्रांश का अर्थ हुआ--धर्म को जानने की इच्छा करनी चाहिये।' 'करनी चाहिये' अर्थ की प्रतीति के लिये सूत्र मे 'कर्त्तव्या' पद जोड़ लेना चाहिये—उसका अध्याहार कर लेना चाहिये। इसके बिना अर्थ अधूरा रह जायेगा। यह भाव ग्रन्थ में 'कर्त्तव्या इति शेषः' अंश से स्पष्ट किया गया है।

किन्तु यहाँ एक समस्या उठती है कि 'इच्छा' स्वयं हो जाती है, जानबूझ कर उत्पन्न नहीं की जा सकती। वस्तुतः किसी वस्तु के स्वरूप, लक्षण, प्रमाण, साधन, फल आदि का विचार प्रारम्भ करने के पूर्व ही उसके विषय में इच्छा उत्पन्न हो जाती है, अतः उत्तरकाल में उसकी उत्पत्ति की बात सोची नहीं जा सकती। 'जिज्ञासा कर्त्तव्या' इस पदावली में 'जिज्ञासा का अर्थ है 'ज्ञानविषयक इच्छा' और 'कृ' धातु का 'बनाना'। यहाँ कुछ बनाया नहीं जा रहा है, अपितु इच्छा प्रकट की जा रही है। इच्छा बनायी नहीं जा सकती। जिस प्रकार कुम्भकार के व्यापार से घट आदि बनता है, उसी प्रकार से 'इच्छा' किसी के द्वारा बनाई नहीं जाती, वह स्वयं हो जाती है। इसके अतिरिक्त केवल इच्छा से ही अनुष्ठानोपयोगी धर्म का ज्ञान संभव नहीं। अतः प्रस्तुत सन्दर्भ में 'जिज्ञासा' के मुख्य अभिधेय अर्थ 'ज्ञानेच्छा' का बाध हो जाता है।

मुख्य अर्थ के बाधित होने पर निरर्थकता से बचाने के लिये लक्षणा शक्ति का आश्रय लेना पड़ता है। इससे 'ज्ञानेच्छा' के स्थान पर 'विचार' अर्थ प्राप्त हो सकेगा। और 'धर्मजिज्ञासा' इस पूरे पद का अर्थ 'धर्म को जानने की इच्छा' के स्थान पर 'धर्म का विचार' होगा। 'विचार' का प्रारम्भ किया जा सकता है।

'जिज्ञासापदस्य विचारे लक्षणा' का दो प्रकार से अर्थ किया जा सकता है। प्रथमतः—'जिज्ञासा-पद के अर्थ का विचार करते समय अभिधा को छोड़ लक्षणाशक्ति का ग्रहण करना पड़ेगा' और दूसरा अर्थ होगा—जिज्ञासापद का विचार-अर्थ लक्षणा से प्राप्त होगा। दोनों अर्थों में से किसी से भी सिद्धान्त की हानि नहीं होती। प्रथम अर्थ में यह भाव शेष रह जाता है कि लक्षणा करने

पर 'जिज्ञासा' का अर्थ क्या होगा? इसका उत्तर ग्रन्थ की अग्रिम पंक्ति में मिलता है जब 'धर्मविचारशास्त्रम्०' कहा जाता है। द्वितीय अर्थ में उत्तर निहित रहता है जिसकी पुष्टि अग्रिमवाक्य से होती है।

ग्रन्थकार को पूरे 'जिज्ञासा' पद में लक्षणा एक साथ अभीष्ट है जिसका अर्थ होगा 'विचार'। वह प्रकृति एवं प्रत्यय √ ज्ञा तथा 'सन्' इनमें अलग-अलग लक्षणा से अलग-अलग अर्थ निकालने के पक्ष में नहीं प्रतीत होते, संभवतः इसीलिये उन्होंने 'जिज्ञासा' के साथ 'पद' शब्द का प्रयोग किया है। 'प्रतिपादिका' टीका के रचयिता को भी यही अभीष्ट है।[1] किन्तु 'मीमांसार्थसंग्रहकौमुदी' के रचयिता परमहंस रामेश्वर शिवयोगी और जीवानन्द विद्यासागर को धातु 'ज्ञा' से अजहल्लक्षणा द्वारा 'ज्ञा' के 'ज्ञानमात्र' अर्थ के स्थान पर 'अनुष्ठानोपयोगी ज्ञान' एवं 'सन्' प्रत्यय के 'इच्छा' अर्थ के स्थान पर जहल्लक्षणा के द्वारा बोध्यबोधक सम्बन्ध से 'विचार' अर्थ अभीष्ट है। रामेश्वर शिवयोगी के शब्दों में 'तथा च जिज्ञासेत्यत्र प्रकृत्या ज्ञानमात्रशक्तिमत्याऽनुष्ठानोपयोगिज्ञानमजहल्लक्षणया प्रत्ययेन च साध्यसाधनभावसम्बन्धेनेच्छासाध्यो विचारो जहल्लक्षणया च बोध्यते।" विद्यासागरजी के भी शब्द शिवयोगी के ही हैं।[2] विचार करने पर वस्तुतः प्रत्यय के ही अर्थान्तर ग्रहण हेतु लक्षणा की अपेक्षा प्रतीत होती है, प्रकृति के नहीं, क्योंकि उसके अर्थ को बाध न करने पर भी काम चल जाता है।

प्रसिद्ध षड्दर्शनों में अभिधा और लक्षणा दो ही शब्दशक्तियाँ मान्य हैं। अभिधा से प्राप्त अर्थ को अभिधेय, वाच्य, मुख्य, संकेतित आदि कहा जाता है। जहाँ तात्पर्य में अनुपपत्ति होती है वहाँ लक्षणा का सहारा लेना पड़ता है। यह जहत् तथा अजहत् दो रूपों में मान्य है। जहाँ शब्द के मुख्य वाच्यार्थ का पूर्ण बाध करके उससे भिन्न अर्थ लिया जाता है वहाँ जहत् लक्षणा होती है। जैसे 'गंगायां घोषः'—गंगा में अहीरों की बस्ती है, सदृश प्रयोगों में। गंगा का सामान्य अर्थ नदी विशेष की 'जलधारा' है, किन्तु 'जलधारा' में 'बस्ती' संभव न होने से उसके स्थान पर उससे भिन्न 'तट' रूप अर्थ ले लिया जाता है। जहल्लक्षणा में पद के मुख्य अर्थ के स्थान पर दूसरा भिन्न अर्थ नहीं लिया जाता है अपितु उस अर्थ को रखते हुये भी उसकी उपपत्ति के लिये कोई सहायक अर्थ बाहर से ले लिया जाता है, उदाहरणार्थ—शोणो धावति—लाल दौड़ रहा है, आदि में। कहीं कई रंग के घोड़े हैं, उनमें लाल रंग का घोड़ा दौड़ते देख, कोई कहता है कि 'लाल दौड़ रहा है।' वस्तुतः लाल रङ्ग है वह स्वयं नहीं दौड़ सकता, अतः उसकी सार्थकता के लिये 'अश्व' पद का भी बाहर से ग्रहण कर लिया जाता है और अर्थ होता है—'लाल घोड़ा दौड़ रहा है।' इसी प्रकार जहत् तथा अजहत् का योग 'जिज्ञासा' के सन्दर्भ में भी समझना चाहिये।

(२) अथ को धर्मः, किं तस्य लक्षणमिति चेत्। उच्यते—यागादिरेव धर्मः। तल्लक्षणं वेदप्रतिपाद्यः प्रयोजनवदर्थो धर्म इति। प्रयोजनेऽतिव्याप्तिवारणाय प्रयोजनवदिति। भोजनादावतिव्याप्तिवारणाय वेदप्रतिपाद्य इति। अनर्थफलकत्वादनर्थभूते श्येनादावतिव्याप्तिवारणायार्थ इति।

यदि प्रश्न[3] धर्म क्या है, उसका लक्षण क्या है, ऐसा हो, तो (उत्तर) कहते हैं—याग आदि ही धर्म है। उसका लक्षण है—"वेद के प्रतिपादन का विषय प्रयोजनयुक्त अर्थ

---

१. धर्मज्ञानेच्छाप्रयोज्यत्वेन धर्मजिज्ञासापदेन तद्विचारलक्षणेत्यर्थः। पृ० ७

२. तथा च जिज्ञासेत्यत्र प्रकृत्या ज्ञानमात्रशक्तिमत्यां अनुष्ठानोपयोगिज्ञानमजहल्लक्षणया प्रत्ययेन च साध्यसाधनभावसम्बन्धेन इच्छासाध्यो विचारो जहल्लक्षणया च बोध्यत इत्यर्थः। पृ० ७

३. यहाँ 'अथ' का प्रयोग 'प्रश्न' अर्थ में है।

धर्म है।" (कहीं लोग धर्म को ही प्रयोजन न समझने लगें, अतः) प्रयोजन में अतिव्याप्ति का निवारण करने के लिये (लक्षण में प्रयोजन पद का प्रयोग न करके) 'प्रयोजनवत्' इस पद का ग्रहण है। भोजन आदि (स्वभाव प्राप्त विषयों में) अतिव्याप्ति का वारण करने के लिये (लक्षण में) 'वेदप्रतिपाद्यः' इस पद का सन्निवेश किया गया है। अनर्थ फलदायक होने से अनर्थस्वरूप श्येन आदि कर्मों में अतिव्याप्ति की निवृत्ति हेतु 'अर्थ' पद का ग्रहण है।

न च विहितत्वमात्रं लक्षणमिति वाच्यम्। विवाहार्थमनृतवदनादेरभ्यनुज्ञाविधिविषयस्य धर्मत्वप्रसङ्गादित्यभिप्रायेण चोदयति—अथ क इति। क इति किं यागादिरेव धर्मः किंवा चैत्यवन्दनादिकमपीत्यर्थः। किमिति धर्मलक्षणस्याक्षेपः स च निर्दिष्टः। समाधत्ते—उच्यत इत्यादिना। यागादिरेवेत्येवकारेण चैत्यवन्दनादेर्धर्मत्वं वारयति। न चैत्यवन्दनादिर्धर्मस्तत्र प्रमाणाभावादित्यर्थः। धर्मस्य लक्षणमाह—तल्लक्षणमिति। प्रयोजन इति। वेदप्रतिपाद्ये स्वर्गादिफलेऽर्थरूप इत्यर्थः। प्रयोजनवदितीति। स्वर्गादिफलस्य सुखादिरूपत्वेन तत्प्रयोजनान्तराभावाद्भवति वारणमिति भावः। भोजनादाविति। तृप्त्यादिप्रयोजनवत्यर्थरूप इत्यर्थः। वेदप्रतिपाद्य इतीति। भोजनादे रागादिनैव प्राप्तत्वात्। 'अष्टौ ग्रासा मुनेर्भक्ष्याः षोडशारण्यवासिनाम्। द्वात्रिंशत्तु गृहस्थस्य यथेष्टं ब्रह्मचारिणा'मित्यादिवचनस्य च ग्रासादिनियमपरत्वाद्भवति तेन तद्वारणमिति भावः। श्येनादाविति। 'श्येनेनाभिचरन्यजेते'त्यादिवेदप्रतिपाद्ये वैरिमरणानुकूलशस्त्रघातादिरूपहिंसात्मकाभिचारस्वरूपप्रयोजनवतीत्यर्थः।

नन्वर्थपदस्य श्येनकर्मणि न धर्मलक्षणस्यातिव्याप्तिवारकत्वं, श्येनस्यार्थत्वात्। न हि श्येनो नरकं जनयति येनानर्थः स्यान्नरकजनकस्यैवानर्थत्वात् श्येनस्य तु शत्रुवधमात्रजनकत्वात्। किंच चतुर्थे श्येनस्येष्टसाधनत्वेन वेदबोधितत्वाद्धर्मत्वमेवोक्तम्। तत्फलस्यैव हिंसात्मकाभिचारस्य नरकरूपानिष्टजनकत्वेनाधर्मत्वमुक्तम्। न च तत्रैवातिव्याप्तिवारकं भवत्विति सांप्रतम्। फले विध्ययोगेन तस्य चोदनागम्यत्वाभावात्। अन्यथा 'विधिस्पृष्टे निषेधानवकाशा'दिति न्यायेन तस्य 'न हिंस्या'दिति निषेधाविषयत्वेन नरकजनकत्वानापत्तिः, निषिद्धस्यैव तज्जनकत्वात्। तस्मादर्थपदं व्यर्थमेवेत्यत आह—अनर्थफलकत्वादनर्थभूत इति। श्येनफलस्य शत्रुवधस्य नरकजनकत्वेनानर्थत्वात् श्येनोऽपि तद्द्वारानर्थ एव, तस्यापि शत्रुवधद्वारा नरकजनकत्वादिति भावः। न च चतुर्थविरोधः। तत्र साक्षादिष्टसाधनत्वेन वेदबोधितवधमात्रमभिप्रेत्य धर्मत्वस्योक्तत्वात्। अन्यथा सौत्रार्थशब्दविरोधापत्तिः, व्यावर्त्यान्तराभावात्। नहि व्यवधानेन कार्यजनके जनकत्वव्यवहाराभावः। व्यवधानेनाप्यनुमित्यादिजनके व्याप्त्यादिज्ञाने तद्दर्शनात्।

ननु न श्येनस्यानर्थरूपत्वं संभवति, तस्य चोदनागम्यत्वात्। न च सौत्रार्थशब्दस्य वैयर्थ्यमिति वाच्यम्। तत्फलव्यावर्तकत्वेनाप्युपपत्तेः। अन्यथा फलस्य वेदप्रतिपाद्यत्वाभावे तदुद्देशेन यागादिषु प्रवृत्त्यभावप्रसङ्गः। न च प्रमाणान्तरोपस्थितफलोद्देशेन तत्र सेति वाच्यम्। इन्द्रियागोचरेऽर्थे प्रमाणान्तराभावात्। तस्माच्छ्येनफलस्यापि वेदप्रतिपाद्यत्वेन शत्रुराज्यादिग्रहणप्रयोजनवत्त्वेन च ग्रन्थकारोक्तधर्मलक्षणलक्षितत्वादर्थपदेन वारणं युक्तमिति चेन्न। 'चोदनालक्षणोऽर्थो धर्म' इति सौत्रधर्मलक्षणे चोदनापदेन तद्वारणात्।

वस्तुतस्तु शत्रुवधरूपाभिचारस्य श्येनफलस्य लोकतः प्राप्तत्वात्तत्र रागतः प्रवृत्तं पुरुषं प्रति श्येनस्य तत्साधनत्वमात्रं पदेन बोध्यत इति न तस्य वेदप्रतिपाद्यत्वम् । ततश्च तस्य तेनैव वारणेऽर्थपदस्य श्येनवारकत्वेनैव सार्थक्यमिति ध्येयम् । यत्तु श्येनादौ धर्मत्वाभावे तामस-धर्मत्वकथनानुपपत्तिरिति । तन्न । तस्य तामसत्वकथनेनैवानर्थकत्वोपपत्तेः । प्रसिद्धं हि लोके क्रौर्यादिपुरःसरं तामसक्रियाया अनर्थरूपत्वमित्यलम् । तस्मादर्थत्वे प्रयोजनवत्त्वे च सति वेदप्रतिपाद्यत्वं धर्मत्वमिति धर्मलक्षणमुपपन्नम् । यत्तु विहितद्रव्यादावव्याप्तिरिति । तन्न । दध्यादेरर्थत्वस्येन्द्रियादिप्रयोजनवत्त्वस्य वेदप्रतिपाद्यत्वस्य च सत्त्वात् ।

यत्तु—'स्त्रीषु धर्मविवाहेषु वृत्त्यर्थे प्राणसंकटे । गोब्राह्मणार्थे हिंसायां नानृतं स्याज्जुगुप्सित'मित्याद्यभ्यनुज्ञाविधिविषयेऽनृतवदनादौ धर्मत्वापत्तिरिति । तदपि न । तत्र निरुक्तस्य धर्मलक्षणस्यापत्त्यभावात् । अभ्यनुज्ञाविधिना हि दोषाभावमात्रस्याक्षेपात्प्रयोजनवत्त्वस्य चानाक्षेपात्प्रागप्राप्तप्रयोजनसाधनत्वस्याप्यनृतवदनादेर्वेदबोधितप्रयोजनसाधनताकत्वाभावान्न धर्मत्वापत्तिः । तस्माल्लक्षणे न कोऽपि दोष इति सिद्धम् । इदमधर्मस्याप्युपलक्षणम् । तस्यापि प्रासङ्गिकशास्त्रविषयत्वात् । तथा चोक्तम्—'धर्मस्योपक्रान्तत्वेऽपि प्रसङ्गात्प्रतिषेधचोदनार्थो निरूपित' इति । तथा खण्डदेवेनाप्युक्तम्—यद्यपि 'धर्मः क्षरति कीर्तना'दित्यादौ, वैशेषिकतन्त्रे च "क्रियाजन्यादृष्टे धर्माधर्मशब्दप्रयोगस्तथापि 'धर्मः स्वनुष्ठितः पुंसा'मित्यादौ तज्जनकविहितनिषिद्धक्रियादावपि तच्छब्दप्रयोगात्ताविह प्राधान्येन विचार्येते" इति । यथा च वेदबोधितानिष्टसाधनताकत्वमधर्मत्वमित्यधर्मलक्षणं सिद्धम् । अत्रानिष्टसाधनताकत्वं विषभक्षणादेरप्यस्तीति तद्वारणाय—वेदेति । ब्रह्मयागादेरपि वेदबोधितत्वमस्तीति तद्वारणायानिष्टेति । एवं धर्मस्य लक्षणमुक्तम् ।

धर्म को वेदाध्ययन का प्रयोजन सिद्ध करने के पश्चात् उसके स्वरूप आदि का ज्ञान आवश्यक हो जाता है। स्वरूप के बोधक वाक्य को लक्षण कहते हैं, सामान्य दैनिक शब्दावली में इसे 'परिभाषा' कहते हैं। लक्षण करते समय वाक्य के प्रत्येक पद पर ध्यान रखना अनिवार्य रहता है। प्रतिक्षण ध्यान रखना पड़ता है कि लक्षण वाक्य में कहीं ऐसे पद का सन्निवेश न हो जाये कि लक्ष्य के अतिरिक्त भी विषयों का बोध होने लगे। ऐसी दशा को जब लक्षण से लक्ष्य के अतिरिक्त विषयों का बोध होने लगता है, **'अतिव्याप्ति दोष'** कहा जाता है। उदाहरणार्थ—गाय का यह लक्षण कि 'गाय वह पशु है जिसके सींगे होती हैं' इस दोष से ग्रस्त है, क्योंकि गाय के अतिरिक्त भैंस, भेंड, मृग आदि पशुओं के भी सींगे होती हैं। इस दोष का उल्लेख ग्रन्थ की सम्प्रति चर्चित पंक्तियों में अनेक बार हुआ है। लक्षण के दोष और भी होते हैं जिनको 'अव्याप्ति' एवं 'असंभव' कहते हैं। 'अव्याप्तिदोष' में लक्षण लक्ष्य को सर्वांशतः ग्रहण न करके अंशमात्र का बोध कराता है, जैसे 'काले रंग का पशु घोड़ा होता है।' यह लक्षण अतिव्याप्ति की ओर जा रहा है, क्योंकि काले रंग के पशु अन्य भी होते हैं, वहीं घोड़े भी केवल काले नहीं होते, वे कपिल, कर्बुर, श्वेत आदि भी होते हैं, अतः यह लक्षण अश्व जाति के एक अंशमात्र का ज्ञापक है। 'असंभव' दोष तब होता है जब लक्ष्य में लक्षणोक्त एक भी विषय घटित न हो। जैसे यह उक्ति कि—"गधे के सींगे हुआ करती हैं।" गधे में सींगें नहीं होती।

संस्कृत के दार्शनिक सम्प्रदायों में लक्षण का बहुत महत्त्व है। न्यायदर्शन का प्रादुर्भाव तो मानो इसीलिये हुआ था। विषय का लक्षण देने के बाद उसकी परीक्षा भी की जाती है, प्रत्येक पद का औचित्य सिद्ध किया जाता है कि कहीं कुछ छूट तो नहीं गया, अथवा किसी पद से किसी

अनपेक्षित का ग्रहण तो नहीं हो जाता और अपने लक्ष्य का स्वरूपग्रहण पूर्णतः हो तो जाता है। धर्म के स्वरूप एवं लक्षण की इच्छा के पश्चात् धर्मलक्षण के वाक्य की परीक्षा की जा रही है।

धर्म का लक्षण—भ्वादिगणीय √धृञ् धारणे' धातु से निष्पन्न 'धर्म' के मूल में "धारण करने वाला" अर्थ निहित है, किन्तु विभिन्न सम्प्रदायों में यह पद 'पारिभाषिक' हो गया है और वहाँ उसका एक विशिष्ट अर्थ स्वीकार किया गया है। उदाहरणार्थ महाभारत में 'धारणाद् धर्म इत्याहुः' कहा गया है, वहीं अन्यत्र "यतोऽभ्युदयनिःश्रेयसिद्धिः स धर्मः" उक्ति है। अवैदिक सम्प्रदायों में धर्म के विभिन्न अर्थ किये गये हैं, कोई गौतमबुद्ध को पूजता है, स्तूप और विहारों का वन्दन करता है तो कोई महावीरस्वामी को। वेदाश्रित आस्तिक समाज में भी यही दशा है। किन्तु अर्थसंग्रहकार ने 'यागादि' को ही धर्म माना है, अन्य को नहीं। 'एव' पद को रखकर उन्होंने 'यागादि' के अतिरिक्त किसी भी अन्य कर्म को धर्म नहीं स्वीकार किया है। कुछ विद्वानों के अनुसार 'एव' पद से अवैदिक बौद्ध आदि सम्प्रदायों में स्वीकृत 'चैत्य वन्दन' आदि का निराकरण किया गया है, क्योंकि इनको वेदों में धर्म नहीं माना गया है।[1] कुछ विद्वानों का मत है कि—"तत्र आदौ धर्मस्वरूपमाह यागादिरेवेति। तस्यैव वेदवाक्येन इष्टसाधनतया प्रतिपादितत्वादिति भावः, 'एव' कारेण वैशेषिकतन्त्रोक्तं यागादिजन्यमात्मनिष्ठगुणविशेषरूपं वेदान्तिमतं तथाभूतमन्तःकरण-वृत्तिविशेषरूपञ्चादृष्टं व्यावर्त्यते"।[2] अर्थात् धर्म के रूप में यागादि ही मान्य हैं, क्योंकि उसको ही वेदवाक्य के द्वारा इष्टसाधक प्रतिपादित किया गया है। 'एव' शब्द से वैशेषिकसम्प्रदाय में मान्य धर्म जिसको यागादि द्वारा उत्पादित एवं आत्मा में रहने वाला एक विशेषगुण कहा गया है और वेदान्तसम्प्रदाय में मान्य धर्म जो अन्तःकरण में रहने वाला और अदृष्ट माना गया है, इन सब मान्यताओं का निवारण हो जाता है।

रामेश्वर शिवयोगी तथा जीवानन्द विद्यासागर के शब्दों को देखने से जहाँ यह ज्ञात होता है कि नास्तिक बौद्धादि सम्मत चैत्य, स्तूप आदि का वन्दन धर्म नहीं है, वहीं 'प्रतिपादिका' आदि के शब्दों से यह भी स्पष्ट हो जाता है कि मीमांसा से भिन्न न्याय, वैशेषिक, वेदान्त आदि आस्तिक सम्प्रदायों को भी मान्य यागादि से भिन्नरूप वाला धर्म यहाँ स्वीकार्य नहीं है। इस प्रकार यह स्पष्ट हो जाता है कि 'धर्म' चाहे वैदिक सम्प्रदायों में मान्य हो अथवा अवैदिक, किन्तु यदि वह यागादि नहीं है तो मीमांसक उसको धर्म नहीं कह सकते।

यागादि—'याग' पद उभयपदी भ्वादिगणीय '√यज-देवपूजा-सङ्गतिकरण-दानेषु' धातु से निष्पन्न हुआ है। इसके अनुसार √यज धातु का प्रयोग देवपूजन अर्थात् देवविशेष के उद्देश्य से द्रव्यत्याग, सङ्गतिकरण अर्थात् एकत्र होना, जुटकर सत्संग करना आदि तथा दान अर्थात् श्रद्धा, दया आदि भावों से किसी वस्तु पर से अपना स्वामित्व हटा लेना और उस पर दूसरे का स्वामित्व स्थापित करना इन तीन अर्थों में होता था। वैदिककाल में यागकृत्य के अन्तर्गत यद्यपि विद्वानों एवं कर्मकाण्डियों की जमघट भी होती थी, कृत्यपूर्णता पर दक्षिणायें भी दी जाती थीं, किन्तु 'देव-पूजा' अर्थ का ही प्राधान्य था। परवर्ती काल में देवपूजा, सत्संग, दान यह सब पृथक् पृथक् भी धर्म स्वीकार किया जाने लगा।

अब प्रश्न है कि 'याग' शब्द देवपूजा 'अर्थ में रूढ़ और प्रधानतः मीमांसा में वही धर्म के रूप में स्वीकार्य होने पर भी "आदि" पद (याग+आदि) कहने की क्या आवश्यकता रही। यहाँ "आदि" से क्या अभीष्ट है, इस पर अर्थसंग्रह के टीकाकार यहाँ मौन हैं। श्रीचिन्नस्वामी ने 'मीमांसान्यायप्रकाश' पर अपनी 'सारविवेचिनी' में 'यागादि' पद पर विचार करते समय अवश्य ही कहा है--'आदिपदेन दानहोमादयो द्रव्यगुणादयश्च गृह्यन्ते"। और आगे चल कर कृष्णनाथ ने

---

१. यागादिरेवेत्येवकारेण चैत्यवन्दनादिधर्मत्वं वारयति। न चैत्यवन्दनादिधर्मस्तत्र प्रमाणाभावात् इत्यर्थः। जीवानन्द पृ० ८

२. प्रतिपादिकाटीका पृ० ८

दूसरे प्रसङ्ग में 'आदि' का अर्थ किया है "आदिपदात् दध्ना जुहोति" 'शुचिना कर्त्तव्यम्' 'नातिरात्रे षोडशिनं गृह्णाति' इत्यादि श्रुतिभिर्ये ये कर्मातिरिक्ता द्रव्यगुणाभावादयः क्रतूपकारकादिकमुद्दिश्य पुरुषं प्रति विधीयते तेषां परिग्रहः। (प्रतिपादिका पृ० १२) अर्थात् आदिपद से 'दही से होम करता है' 'पवित्र होकर कार्य करना चाहिये' 'अतिरात्र में षोडशी का ग्रहण नहीं करता है' आदि श्रुतियों द्वारा जो कर्म के अतिरिक्त द्रव्य, गुण, अभाव आदि यज्ञोपकारक पुरुष के लिये विहित हैं उनका ग्रहण होता है। टीकाकार की पंक्तियों का आधार कुमारिलभट्ट के ये वचन हैं—

'द्रव्यक्रियागुणादीनां धर्मत्वं स्थापयिष्यते।' श्लो० वा० सूत्र २।१३॥

मीमांसकों का मत है कि धर्म आदि वेद से ही ज्ञेय हैं, अन्य साधन से नहीं, अतः इन्द्रियगोचर भी नहीं है। उनके अनुसार यागादि इसीलिये धर्म कहे जाते हैं क्योंकि वे निःश्रेयस के साधन हैं। उनकी निःश्रेयससाधनता केवल वेद से ज्ञात होती है, किसी अन्य उपाय से नहीं। यदि वेदों का समर्थन न होता तो यागादि की श्रेयस्करता ज्ञात न होती। यह सब हमको वेद से ही ज्ञात होता है कि किस याग को करने से कैसी श्रेयस्कर वस्तु प्राप्त होगी, कौन उसे करने का अधिकारी है, आदि। जिसे वेदों ने किसी कर्म का अधिकारी नहीं बतलाया है, उसके लिये वह कर्म दृष्ट होते हुये भी धर्म नहीं है। इसी को भट्टपाद ने कहा था—

'द्रव्यक्रियागुणादीनां धर्मत्वं स्थापयिष्यते।
तेषामैन्द्रियकत्वेऽपि न ताद्रूप्येण धर्मता॥
श्रेयःसाधनता ह्येषां नित्यं वेदात्प्रतीयते।
ताद्रूप्येण तु धर्मत्वं तस्मान्नेन्द्रियगोचरः॥ श्लो० वा० सूत्र २।१३,१४॥

इसी बात को पार्थसारथि मिश्र ने भी कहा था—"यद्यपि गोदोहादि द्रव्यं, यागादि क्रिया, नीचैस्त्वादिगुणश्च फलसाधनत्वात् धर्मशब्देनोच्यते नापूर्वादयः इति श्रेयस्करभाष्ये वक्ष्यते तथापि तेषां फलसाधनत्वेन धर्मत्वात् फलस्य जन्मान्तरादिभावित्वात् धर्मरूपेण प्रत्यक्षविषयत्वं न भवति।[1]

संस्कृत में 'आदि' लगाने की सबल परम्परा है। यदि कोई टीकाकार "आदि" का अर्थ लिखते भी तो भी उसमें एक-दो विषय गिना कर पुनः 'आदि' जोड़ देते। जैसा पं० चिन्नस्वामी ने भी किया है। यहाँ ऐसा प्रतीत होता है कि 'धर्म' से सामान्यतः जो इज्या, आचार, दम, अहिंसा, दान, स्वाध्याय आदि समझे जाते हैं[2] उनमें से 'इज्या' यज्ञ—देवनिमित्त द्रव्य का त्याग—प्रधान रूप में इष्ट है। शेष इसके अङ्ग हैं। उनका भी यदि कोई ग्रहण करना चाहे तो कर सकता है, सम्भवतः इसी लिये 'आदि' पद का प्रयोग है। 'यज्ञ' के सङ्गतिकरण और दान अर्थों का भी इसी में समावेश हो जाता है।

वेदप्रतिपाद्य—धर्म को अनिवार्यतः वेद के वाक्यों से प्रतिपादित होना चाहिये अर्थात् धर्म में वेद ही प्रमाण है। अपौरुषेय वाक्य वेद कहे गये हैं। इसके अनुसार संहितायें ही वेद के नाम से अभिहित हो सकती हैं, किन्तु बाद में संहिता के मन्त्र अंश के साथ ब्राह्मण-ग्रन्थों को भी वेद कहा जाने लगा।[3] उसके भी बाद इन पर आश्रित अथवा इनको प्रमाण मानने वाले शास्त्र भी वेदवत् पूज्य हो गये। संहिता को ही अपौरुषेय होने से वेद मानने का उद्देश्य यह प्रतीत होता है कि यागादि धर्म कर्मों के अनुष्ठान में प्रयुक्त होने वाले मन्त्र उनके ही होते थे। ब्राह्मण, स्मृति आदि का आधार संहितायें ही हैं।

---

१. और भी देखिये—"यागादिरेव—धर्म consists in sacrifice and the like alone. The word आदि includes जप, तपस्, दान etc., which also are enjoined by the Veda & possess a purpose. The Arthasamgraha p. 77.

२. इज्याचारदमाहिंसादानस्वाध्यायकर्मणाम्।
अयं तु परमो धर्मः.................. ॥ याज्ञवल्क्यस्मृति, आचाराध्याय।

३. मन्त्रब्राह्मणयोर्वेदनामधेयम्—ऋग्वेदभाष्यभूमिका

धर्म के लक्षण में इस पद के ग्रहण का उद्देश्य यह है कि भोजन आदि भी धर्म के अन्तर्गत न आ जायें। यद्यपि भोजन आदि से क्षुधा निवृत्तिरूप प्रयोजन की सिद्धि होती है अतः वह प्रयोजनवान् हुआ और अभीष्ट है अतः 'अर्थ' भी हुआ तथापि इसका ज्ञान वेद से ही नहीं होता है। भोजन इसलिये करते हैं क्योंकि भूख लगती है, अतः भोजन की क्रिया स्वाभाविक भूख से प्राप्त होती हैं, वैदिक विधि भोजन कराने के लिये अपेक्षित नहीं है।[1] जब कि वैदिक विधि का उद्देश्य है अज्ञात अर्थ का ज्ञापन।[2] स्मृतियों में कहा गया है—

'अष्टौ ग्रासा मुनेर्भक्ष्याः षोडशारण्यवासिनाम्।
द्वात्रिंशत्तु गृहस्थस्य यथेष्टं ब्रह्मचारिणाम्॥

इन पंक्तियों को देखने से भ्रम हो सकता है कि ये विधान भोजन से सम्बद्ध हैं किन्तु मीमांसकों के अनुसार ये भोजन के नियम न होकर ग्रास के नियम सिद्ध होंगे।[3] इस प्रकार भोजन प्रयोजनवान् है क्योंकि इससे तृप्ति आदि लक्ष्यों की सिद्धि होती है, अभीष्ट होने से अर्थरूप भी है किन्तु धर्म इसीलिये नहीं है क्योंकि यह वेदप्रतिपाद्य नहीं है। 'भोजनादौ' पद में 'आदि' पद का अर्थ इसी प्रकार के रागतः या व्यवहारतः ज्ञात होने वाले क्रीडा[4] घट आदि का भी निराकरण हो जाता है।[5]

प्रयोजनवत्—लक्षण में इस पद के ग्रहण का अभिप्राय है कि वेदप्रतिपाद्य वही अर्थ धर्म है जो प्रयोजनवान् हो, अर्थात् जो स्वयं में प्रयोजन या उद्देश्य न हो, बल्कि उसका ही कोई उद्देश्य हो। इस पद के ग्रहण से लक्षण की अतिव्याप्ति स्वर्ग आदि में नहीं होती, स्वर्ग आदि को धर्म नहीं कहा जा सकता, क्योंकि ये स्वयं सुखस्वरूप हैं और लक्ष्यभूत हैं, इनका कोई प्रयोजन अवशिष्ट नहीं रहता जिसकी प्राप्ति इनके द्वारा हो सके।[6] ज्योतिष्टोम आदि याग धर्म हैं क्योंकि वे स्वयं साध्य या फल नहीं, अपितु साधन हैं, इनका प्रयोजन-साध्य-स्वर्ग आदि है। यही कारण है कि स्वर्ग आदि वेदों में फलरूप से प्रतिपादित होने से वेदप्रतिपाद्य हैं, एवं इष्ट होने से 'अर्थ' हैं किन्तु प्रयोजनवान् न होने से धर्म नहीं।

'अर्थ' पद का ग्रहण लक्षण में विशेष महत्त्व रखता है। 'अर्थ' का अभिप्राय यहाँ न धन से है, न मतलब (meaning) से और न प्रयोजन से, अपितु 'अर्थ' है वह वस्तु जो इष्ट का साधन है। (सर्वथा इष्टफलजनकत्वेन अर्थ्यते प्रार्थ्यते इति अर्थः) इष्ट वह है जो परिणामतः सुखरूप हो, दुःखरूप नहीं। अतः धर्म वह वेदप्रतिपाद्य प्रयोजनवान् पदार्थ है जिससे ऐसे फल की प्राप्ति हो जो सुखरूप हो--निःश्रेयसकारक हो। इस पद का लक्षण में समावेश होने से अभ्युदय एवं निःश्रेयसफल वाले ही पदार्थों का धर्मरूप में ग्रहण हो पाता है और उन समस्त कर्मों का निराकरण हो जाता है जो परिणाम में दुःखदायी हों, उदाहरणार्थ 'श्येन' आदि याग। श्येन एक पक्षी का नाम है जिसे लोक में बाज कहते हैं। जिस प्रकार बाज अपने लक्ष्यभूत पक्षी को झपट कर पकड़ लेता है और मार डालता है उसी प्रकार सम्पादित करने पर शत्रु को पकड़ कर मार डालने

---

१. भोजनादेः इष्टसाधनत्वेऽपि तथात्वेन वेदबोध्यत्वं नास्ति इतिभावः–प्रतिपादिका पृ० ९

२. अज्ञातार्थज्ञापको वेदभागो विधिः। अर्थसंग्रह

३. "अष्टौ··'ब्रह्मचारिणा'मित्यादिवचनस्य च ग्रासादिनियमपरत्वाद् भवति तेन तद्वारणमिति भावः" जीवानन्द पृ० ८

४. The word आदि in भोजनादौ includes क्रीडा for example : The Arthasamgraha, p. 79.

५. भोजनादाविति। आदिपदात् धारादिग्रहणम्। प्रतिपादिका, पृ० ९

६. स्वर्गादेः प्रयोजनान्तराजनकतया प्रयोजनवदर्थत्वाभावात्। वही पृ० ८

वाला आभिचारिक कर्मविशेष भी 'श्येन' के नाम से ख्यात है। 'श्येनादौ' में 'आदि' पद से सन्दंश, गवादि सदृश कर्म भी गृहीत होते हैं। ये सब परपीडक या शत्रुघातक अभिचार कर्म हैं। यह कर्म उनके लिये विहित है जो अभिचार कर्मों द्वारा अपने शत्रु का वध करना चाहते हैं। यहाँ शङ्का की जा सकती है कि 'श्येनेनाभिचरन् यजेत' 'अथैष सन्दंशेनाभिचरन् यजेत' 'अथैष गवाभिचरन् यजेत' आदि वेदप्रतिपादित हैं, शत्रुमारणरूप प्रयोजन से ये युक्त हैं, अतः इनको धर्म कहना चाहिये। इसी पूर्वपक्ष का निराकरण करने के लिये 'अर्थ' पद का ग्रहण किया गया है। जिसका अभिप्राय यह है कि वेदप्रतिपाद्य तथा प्रयोजनवत् होने पर भी 'अर्थ' न होने से श्येनादियाग धर्म नहीं है। प्रतिपादिका टीका के अनुसार-"एवञ्च श्येनादिभिः शत्रुवधः, शत्रुवधाच्च नरकमिति श्येनादिफलस्य शत्रुवधस्य नरकजनकत्वादनिष्टफलकत्वेन श्येनादयोऽप्यनर्था एव। अत एव 'अभिचारो मूलकर्म' चेत्यादिवाक्यैर्मन्वादयस्तेषामुपपातकत्वं स्मरन्ति। अतस्तेषां निःश्रेयससाधनत्वरूपार्थत्वाभावान्नातिव्याप्तिरिति भावः।"[1] अर्थात् श्येन आदि कर्मों से शत्रु का वध होता है और शत्रुवध से हिंसा के कारण नरक होता है, इस प्रकार श्येनादि के फल शत्रुवध आदि से नरक मिलता है, अतः अनिष्टफलकारी होने से श्येनादि भी अनर्थ हुये। इसी से मनु आदि स्मृतिकार 'अभिचारो मूलकर्म०' आदि श्लोकों में इनकी गणना उपपातकों में करते हैं। इसलिये निःश्रेयससाधनत्वरूप अर्थत्व का अभाव होने से इनमें धर्म के लक्षण की अतिव्याप्ति नहीं होती है।

श्येनक्रिया स्वयं साक्षात् रूप से नहीं अपितु फलरूप में अनर्थकारी है। अर्थात् श्येनादि से शत्रु का वध होता है और वध से नरक मिलता है अतः शत्रुवध के हिंसा होने से नरकजनक होने पर परम्परया वह भी अनर्थ होता है।[2] अनर्थफलता के कारण ही श्येनादि की अनर्थकता अर्थसंग्रहकार को भी अभीष्ट है।

कौमुदीकार श्येनादि के फलस्वरूप शत्रुवधरूप अभिचार को लोकतः प्राप्त और रागतः प्रवृत्त मानकर श्येनादि तथा उसमें प्रवृत्ति को वेदप्रतिपाद्य ही नहीं मानते। उनके अनुसार वेद से श्येन के मात्र साधनत्व का बोध होता है। इसके अतिरिक्त उन वाक्यों से श्येन आदि का निवारण ही अभीष्ट है, अतः निवारण में ही उन वाक्यों की सार्थकता है, न कि श्येनादि के विधान में[3] किन्तु यह तर्क हृदय को पूर्णतः तुष्ट नहीं करता। वस्तुतः बलवदनिष्ट के अननुबन्धी इष्टसाधन को ही अर्थपद का वाच्य कहा गया है, इसका श्येनादि में अभाव है, अतः वह अनर्थ है। वेदों में इसका विधान हिंसा के इच्छुक व्यक्ति के लिये है। शत्रुवध के उपाय के रूप में श्येनादि का निर्देश है। श्येनादि सदृश वधकर्मों का उपदेश आततायी आदि लोकपीडकों के विनाशार्थ है। आततायियों का वध करने वालों के लिये श्येन आदि भी अर्थरूप हैं क्योंकि इस रूप में वह बलवदनिष्ट से अननुबन्धी-असम्बद्ध इष्ट का साधक है। इसके अतिरिक्त श्येन आदि का अवलम्बन हिंसात्मक होने से नरकरूप बलवदनिष्ट का अनुबन्धी है।[4]

प्रतिपादिकाकार के मत से अनर्थफल वाले श्येन आदि में अतिव्याप्ति का 'अर्थ' पद से निवारण उपलक्षण मात्र है। वस्तुतः इससे निवर्तक वेदवाक्य से प्रतिपाद्य हिंसा आदि समस्त निषिद्धकर्मों में अतिव्याप्ति का निवारण हो जाता है।[5] ज्योतिष्टोम आदि यज्ञों में अग्नीषोमीय पशु का

१. प्रतिपादिका, पृ० ९

२. "यद्यपि श्येनस्य शत्रुवधः फलं न तु नरकः, तथापि तस्य वधस्य नरकहेतुत्वात् वधद्वारा श्येनोऽनर्थः" जैमिनिन्यायमालाविस्तरः पृ० १५

३. शाब० भा० १।१।२।

४. प्रतिपादिका पृ० १०

५. अत्र अर्थपदस्य अनर्थफलकश्येनाद्यतिव्याप्तिवारकत्वाभिधानमुपलक्षणम्। निवर्तकवेदवाक्यप्रतिपाद्यहिंसादिनिषिद्धकर्ममात्रातिव्याप्तिवारकत्वात् तस्य॥ वही, पृ० १०

आलम्भन अनर्थ नहीं है, क्योंकि ज्योतिष्टोम याग से प्राप्य महान् फल के समक्ष अङ्गविधि द्वारा प्राप्त हिंसा बलवदनिष्ट से सम्बद्ध साधन नहीं है। अतः "न हिंस्यात् सर्वाभूतानि" आदि सामान्य-निषेधों का तात्पर्य केवल रागतः प्राप्त हिंसा आदि का निषेध है। अनर्थफलकत्व की ओर ध्यान कुमारिलभट्ट का भी था—

अतः स्वतो न धर्मत्वं श्येनादेर्नाप्यधर्मता।
फलानर्थानुबन्धित्वात्तद्वारेणोपचर्यते ॥
यदा त्वप्रीतिहेतुर्यः साक्षाद् व्यवहितोऽपि वा।
सोऽधर्मश्चोदनार्थः स्यात् तदा श्येनेऽप्यधर्मता ॥[1]

प्रभाकर मत में 'अर्थ' पद कर्मजन्य 'अपूर्व' का ज्ञापक है, जब कि शबर स्वामी, कुमारिल, पार्थसारथिमिश्र, माधवाचार्य आदि 'यागादि' का ही मानते हैं।

(३) न च 'चोदनालक्षणोऽर्थो धर्म' (जै० सू० १।१।२) इति सौत्रतल्लक्षण-विरोधः,† चोदनापदस्य विधिरूपवेदैकदेशपरत्वादिति वाच्यम्। तत्रापि चोदना-शब्दस्य वेदमात्रपरत्वात्। वेदस्य सर्वस्य धर्मतात्पर्यवत्त्वेन‡ धर्मप्रतिपादकत्वात्।

चोदनापद के विधिरूप वेद के अङ्ग का वाचक होने से 'चोदनालक्षणोऽर्थो धर्मः'—प्रेरक विधि से लक्षित अर्थ धर्म है—इस सूत्र से लक्षित धर्म के लक्षण तथा (लौगाक्षिभास्कर कथित) धर्मलक्षण (वेदप्रतिपाद्यः आदि) में विरोध है, ऐसा नहीं कहा जा सकता, क्योंकि वहाँ भी (चोदना० आदि में भी) चोदनाशब्द सम्पूर्ण वेद का वाचक है, (न कि केवल विधिभाग का) वस्तुतः समस्त वेद भाग का तात्पर्य धर्म में होने से वह धर्म का ही प्रतिपादक माना जायगा।

तत्र च सौत्रचोदनापदपरित्यागेन वेदपदप्रदानं सूत्रविरुद्धमित्याशङ्क्य परिहरति—न चेत्यादिना। न च वाच्यमित्यत्र हेतुमाह—तत्रापीति। तत्रापि सूत्रेऽपि। वेदमात्र-परत्वादिति। चोदनाप्रकरणपठितकृत्स्नवेदपरत्वादित्यर्थः। तेन न ब्रह्ममीमांसाविरोधः। नापि सौत्रचोदनापदविरोधः, चोदनाशेषार्थवादादेर्वेदस्य स्वप्रकरणपठितस्य तथा गृहीतात्प्रकरणान्तरपठितस्य ब्रह्मवाक्यस्य ग्रहीतुमशक्यत्वेऽपि। ननु 'सोऽरोदीद्यदरोदीत्तद्रुद्रस्य रुद्रत्वं', 'स प्रजापतिरात्मनो वपामुदखिद'दित्यादिवाक्यानां धर्मप्रतिपादकत्वादर्शनात् कथं चोदनापदस्य यागादिधर्मविधायकस्य वेदपरत्वमित्याशङ्क्य, विधिविशेषस्य स्तुत्यादेः प्रतिपादकत्वेन सर्वस्यापि तादृशवेदवाक्यस्य धर्मतात्पर्यकत्वान्नैवमित्याह—सर्वस्येति। ननु 'चोदनालक्षणोऽर्थो धर्म' इत्यत्र सूत्रेऽर्थत्वे सति चोदनागम्यत्वं धर्मलक्षणं प्रत्यक्षाद्य-गोचरेऽपि धर्मे चोदनागम्ये गमकं चोदनावाक्यमेव प्रमाणमिति प्रतीयते। तच्चायुक्तम्। एकसूत्रवाक्यस्य स्वरूपप्रमाणपरत्वे वाक्यभेदप्रसङ्गादिति चेत् सूत्रस्यार्थतो धर्मलक्षणत्वेऽपि मुखतः प्रमाणपरत्वात्। तथा चोक्तम्—'धर्मलक्षणपरं सूत्रमर्थात्प्रमाणप्रतिज्ञेति' प्राभा-कराः। 'मुखतः प्रतिज्ञार्थाद्धर्मलक्षणत्वमिति वार्तिककारीया' इति।

यहाँ यह प्रतिपादित किया गया है कि ग्रन्थकारकृत धर्म के लक्षण—'वेदप्रतिपाद्यः०' आदि तथा जैमिनि महर्षि द्वारा दत्त—'चोदना-लक्षणोऽर्थो धर्मः—(मी० सू० १।१।२) इन दोनों धर्म

१. श्लोकवार्तिक, चो० सू० २६६, २६७, २७२, २७३।

† सौत्रलक्षणविरोधः, इति पाठा०।

‡ तात्पर्यकत्वेन, इति पाठा०।

के लक्षणों में विरोध की प्रतीति हो सकती है, किन्तु वस्तुतः वह है नहीं। यह विरोध इसलिये प्रतीत होता है क्योंकि 'वेदप्रतिपाद्यः' कहने से वेद शब्द से उसके सभी भागों—विधि, मन्त्र, नामधेय, निषेध और अर्थवाद—का ग्रहण हो जाता है, जिसका अर्थ यह निकलता है कि इन पाँचों वेद भागों से धर्म का प्रतिपादन होता है, केवल विधिभाग से नहीं, जबकि जैमिनि मुनि के धर्मलक्षण में 'चोदनापद' से सामान्यतः केवल विधिभाग का ही ग्रहण होता है, मन्त्र आदि का नहीं। 'चोदना' शब्द √'चुद् प्रेरणे' धातु से निष्पन्न होता है जिसका अर्थ है प्रेरणा या प्रवर्तना, जबकि 'विधि' का भी सीधा अर्थ विधायक, प्रेरक, प्रवर्तक आदि लिया जाता है। इस प्रकार 'चोदना' और 'विधि' समानार्थक हुये। शाबरभाष्य के 'चोदनेति क्रियायाः प्रवर्तकवचनमाहुः' तथा श्लोकवार्तिक के 'चोदना चोपदेशश्च विधिश्चैकार्थवाचिनः' (औत्प० सू० ११) शब्दों से भी दोनों की समानार्थकता ज्ञात होती है। इस प्रकार सूत्र में प्रयुक्त 'चोदनापद' से वेद के पाँच अंशों में से केवल एक विधिमात्र का ग्रहण होता है, इसको ही धर्म का प्रदिपादक मानना चाहिये। शेष मन्त्र, नामधेय आदि को भी धर्मप्रतिपादक स्वीकार करने पर जैमिनि के सूत्र का विरोध होगा। अतः यहाँ 'वेदप्रतिपाद्यः' न कहकर 'विधिप्रतिपाद्यः' कहना था। यह पूर्वपक्षी की शङ्का समझी जानी चाहिये।

किन्तु इस शङ्का का निराकरण ग्रन्थकार कर देते हैं। इनके अनुसार सूत्र में प्रयुक्त चोदनापद का अर्थ विधिमात्र न लेकर उसको पूरे वेद का वाचक मानना चाहिये। इनका कहना है कि सम्पूर्ण वेद अर्थात् उसके विधि, मन्त्र, नामधेय आदि सभी अङ्गों का तात्पर्य धर्म है, केवलविधि का नहीं, क्योंकि सभी अंशों से धर्म का ही प्रतिपादन होता है।

वेद के सभी अङ्गों की धर्म प्रतिपादकता—मीमांसकों का अभिमत है कि वेद के सभी वाक्य क्रियापरक होने से ही सार्थक है, अक्रियार्थक मन्त्र अनर्थक है--व्यर्थ हैं--'आम्नायस्य क्रियार्थत्वादानर्थक्यमतदर्थानाम्' (जै० सू० १।२।१)। इससे यह प्रतीति हो सकती है कि कुछ मन्त्र क्रियार्थक नहीं होंगे, अतः अनर्थक होंगे, किन्तु ऐसा है नहीं। मीमांसक वेद के किसी भी अंश को अनर्थक नहीं मानते। वे सम्पूर्ण वैदिकमन्त्रराशि को विधि, मन्त्र, नामधेय, निषेध और अर्थवाद इन पाँच भागों में विभक्त कर देते हैं और सबको किसी न किसी रूप में क्रियार्थक सिद्ध कर देते हैं, जिससे उनकी सार्थकता अक्षुण्ण रह जाती है। प्रवर्तक होने से विधि की क्रियार्थकता तथा प्राधान्य स्वतः सिद्ध हैं। मन्त्र भाग की सार्थकता इसमें है कि वे प्रयोग में समवेत अर्थ का स्मरण कराते हैं—'प्रयोगसमवेतार्थस्मारका मन्त्राः'। नामधेय की अर्थवत्ता इसलिये है क्योंकि इनसे विधेय अर्थ का स्पष्टतः पृथक् रूप में बोधन होता है 'नामधेयानां च विधेयार्थपरिच्छेदकतयार्थवत्त्वम्'। अर्थवाद वाक्य प्राशस्त्य या निन्दा का ज्ञान लक्षणा द्वारा कराकर सार्थक होते हैं। अर्थात् प्रशस्ति या निन्दा के वाचक वाक्य स्वयं नहीं अपितु देवता, द्रव्य आदि के साथ उनके गुण-दोषों का प्रदर्शन कर प्रवर्तन या निवर्तन में सहायक होते हैं। रही बात निषेध की, तो वह भी पुरुष को निषिद्ध कर्म से निवृत्त करता है—'पुरुषस्य निवर्तकं वाक्यं निषेधः।' श्लोकवार्तिककार की दृष्टि में प्रवृत्ति एवं निवृत्ति अर्थात् विधि और निषेध में बहुत अन्तर नहीं है, दोनों ही 'चोदना' पद से वाच्य है—'प्रवृत्तौ वा निवृत्तौ वा या शब्द श्रवणेन धीः। सा चोदना…।' (चो० सू० २१०) इस प्रकार 'चोदना' पद का अर्थ 'विधि' होने पर भी शेष अङ्ग भी विधि के सहायक या तत्स्वरूप होने से सभी धर्म के प्रतिपादक हैं और 'चोदनापद' में समावेश के योग्य हैं।

'प्रतिपादिका' कार 'धर्मतात्पर्यवत्वेन' का अर्थ 'धर्माधर्मप्रतीतिजननयोग्यता' समझते हैं। उनके अनुसार ये धर्माधर्म की प्रतीति कराने में सक्षम वेदांश साक्षात्, परम्परया अथवा औदासीन्य पूर्वक उनका बोध कराते है। इस प्रकार विधिभाग तो साक्षात् रूप से धर्म का प्रतिपादक होता है, किन्तु मन्त्र, अर्थवाद आदि साक्षात् नहीं अपितु विधि से कुछ ही न्यून या सदृश होने से प्रधान विधि को सहयोग देकर परम्परया वे धर्म के प्रतिपादक सिद्ध होते हैं। अतः सूत्रकार द्वारा प्रयुक्त 'चोदना' का ग्रहण प्राधान्यबोध के लिये है—"धर्मतात्पर्यवत्वेन धर्माधर्मप्रतीतिजनन-

योग्यत्वेन। धर्मप्रतिपादकत्वात् साक्षात् परम्परौदासीन्येन धर्माधर्मबोधकत्वात्। तथा च क्लृप्त-विधीनां साक्षादेव धर्माधर्मप्रतिपादकत्वम्। मन्त्रार्थवादादीनान्तु न साक्षात् तत्प्रतिपत्तिजनकता। किन्तु विधिकल्पकतया क्लृप्तविध्युपकारकतया चेति परम्परयेति सर्वेषामेव वेदानां धर्मप्रतिपादकतया धर्मस्य वेदप्रतिपाद्यत्वोक्तिरविरुद्धा। सूत्रकृता तु प्राधान्याच्चोदनेत्युक्तमिति भावः।[1]

वाक्य का अन्वय तथा शेषांश—'न च०' आदि वाक्य कुछ टेढ़ा है, अतः अर्थ की स्पष्टता के लिए उसका अन्वय इस प्रकार करना चाहिये—"चोदनापदस्य विधिरूपवेदैकदेशपरत्वात् 'चोदनालक्षणोऽर्थो धर्मः' इति सौत्रतल्लक्षणविरोधः इति च न वाच्यम्।" कुछ विद्वानों के अनुसार 'चोदनापदस्य' के पूर्व 'सूत्रस्थस्य'[2] पद समझना चाहिये। इससे अर्थ में सरलता होगी, इसी प्रकार 'सर्वस्य' और 'वेदस्य' के मध्य में कर्मकाण्डीयस्य'[3]—अर्थात् कर्मकाण्डपरक वेदभागों का ग्रहण कर लेना चाहिये। इनमें प्रथम योजना तो उचित प्रतीत होती है किन्तु द्वितीय नहीं। वस्तुतः वेद का कर्मकाण्ड और ज्ञानकाण्ड आदि विभाजन शङ्कराचार्य के मतानुसार किया जा सकता है, प्रकरण की भिन्नता प्रदर्शित की जा सकती है, किन्तु मीमांसक ऐसा नहीं स्वीकार करते। उनके अनुसार सबका एक ही प्रकरण से सम्बन्ध है, और वह है कर्मकाण्ड या यागादि, यह बात अलग है कि वे साक्षात् विधि न होकर मन्त्र, नामधेय, अर्थवाद आदि के रूप में हो।

कहीं पाठ 'सौत्रलक्षणविरोधः'[4] है और कहीं 'सौत्रतल्लक्षणविरोध' है। इसमें प्रथम पाठ का अर्थ स्पष्ट है—सूत्र में दिये गये लक्षण का विरोध। दूसरे पाठ का—जो प्रायः सभी प्रतियों में मिलता है—अर्थ भी लोग इसी प्रकार का स्वीकार करते हैं और 'सौत्र' तथा 'तत्' को परस्पर पूरक मानते हैं। किन्तु उचित यह होगा कि 'सौत्र' शब्द से 'सूत्रगत' लक्षण और 'तत्' से अर्थसंग्रह-प्रतिपादित 'वेदप्रतिपाद्यः०' आदि समझा जाये। अन्त में पठित लक्षण दोनों से पृथक्-पृथक् संयुक्त किया जाना चाहिये अर्थात् उसको 'सौत्रलक्षण' तथा 'तल्लक्षण' समझना चाहिये। डा० थीबो के अंग्रेजी अनुवाद से भी यही भाव व्यक्त होता है।[5] इसके अतिरिक्त 'सौत्रतल्लक्षण' का एक और स्पष्ट अर्थ हो सकता है—'सूत्रेण 'चोदनालक्षणोऽर्थो धर्मः' इत्यनेन सूत्रेण कृतम् सौत्रम्। तस्य धर्मस्य लक्षणं तल्लक्षणम्। सौत्रं यत् तल्लक्षणं तेन विरोधः' यहाँ सौत्र का अर्थ है 'सूत्रगत' और 'तत्' का 'धर्म' अर्थात् 'सूत्र में दिये गये धर्म के लक्षण' का विरोध। यही अर्थ अधिक समीचीन लगता है।

(४) स च यागादिः 'यजेत स्वर्गकाम' इत्यादिवाक्येन स्वर्गमुद्दिश्य पुरुषं प्रति विधीयते। तथा हि—यजेतेत्यत्रास्त्यंशद्वयं यजिधातुः प्रत्ययश्च। प्रत्ययेऽप्य-स्त्यंशद्वयमाख्यातत्वं लिङ्त्वं च। तत्राख्यातत्वं दशलकारसाधारणं लिङ्त्वं पुनर्लिङ्मात्रे। उभाभ्यामप्यंशाभ्यां भावनैवोच्यते।

और उस (धर्म के रूप में स्वीकृत) याग आदि का 'यजेत स्वर्गकामः'—स्वर्ग के इच्छुक व्यक्ति को यज्ञ करना चाहिये—आदि वाक्य द्वारा स्वर्ग को लक्ष्य करके पुरुष के लिये विधान किया जाता है। जैसे कि—'यजेत' इस (धातु) के दो अंश हैं—यजि धातु तथा प्रत्यय। प्रत्यय में भी दो अंश हैं—आख्यातत्व और लिङ्त्व। इन (दोनों) में आख्यातत्व दसों लकारों में समान रूप से रहता है, किन्तु लिङ्त्व केवल लिङ् में ही होता है। (आख्यात तथा लिङ्) इन दोनों अंशों से भावना का ही कथन होता है।

---

१. प्रतिपादिका पृ० १२
२. सूत्रस्थस्येति शेष—वही पृ० ११
३. कर्मकाण्डीयस्येति शेषः—वही पृ० १२
४. वही पृ० ११
५. अर्थसंग्रहः अंग्रेजी अनुवाद पृ० २

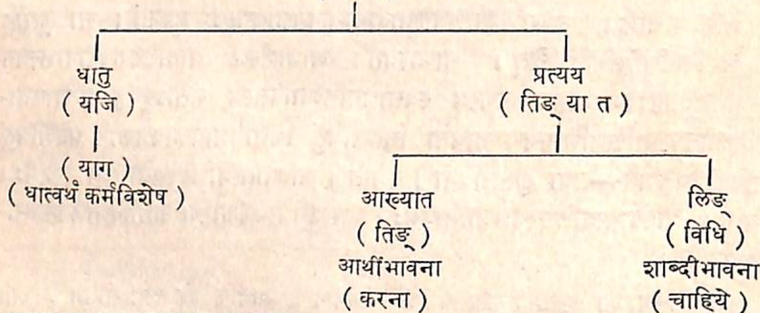
ननु पूर्वं प्रयोजनवत्त्वमपि धर्मलक्षणे विशेषणं दत्तं ततश्च किं तत्प्रयोजनं किंच तदुद्देशेन धर्मविधायकं चोदनावाक्यमिति वीक्षायामाह—स चेत्यादिना। यद्यपि यथा प्रत्यक्षादीनां धर्मे न प्रामाण्यं तथा चोदनावाक्यस्यापि न तत्र प्रामाण्यं संभवति, यतः शक्तिग्रहणपूर्वकं लोके ह्याप्तवाक्यस्य प्रामाण्यं इष्टम्, शक्तिश्च लोकप्रसिद्धे गवादौ गृह्यते, धर्मस्य चालौकिकत्वात्तत्र शक्तिग्रहणं न संभवति, शक्तिग्रहणमन्तरेण च डुंफडादिवच्चोदनावाक्यस्यापि धर्माबोधकत्वान्न तत्र प्रामाण्यम्। तथापि 'प्रभिन्नकमलोदरे मधूनि मधुकरः पिबती'त्यत्र वाक्ये यथा मधुकरपदस्यार्थमजानन् तदन्यपदार्थांश्च जानन् तत्समभिव्याहारात्कमलमध्यगते मधुपानं कुर्वति दृश्यमाने भ्रमरे मधुकरशब्दस्य सङ्गतिं गृहीत्वार्थं प्रतिपद्यते। तथा 'कारीर्या वृष्टिकामो यजेते'त्यादौ लोकप्रसिद्धार्थवृष्ट्यादिपदसमभिव्याहारादलौकिकेऽपि भावनापदार्थे चोदनायाः सङ्गतिं गृहीत्वा चोदनावाक्यार्थं प्रतिपद्यत इति धर्मबोधकत्वाच्चोदनाया धर्मे नाप्रामाण्यमस्ति। तथा धर्मस्यालौकिकत्वेन प्रमाणान्तरागोचरत्वाद्वेदस्य च तत्र स्वतःप्रामाण्याभ्युपगमान्न चोदनाया धर्मबोधने मानान्तरसापेक्षत्वमपि। तस्मादप्रामाण्यकारणयोरबोधकत्वसापेक्षत्वयोरसंभवाच्चोदनायाः सिद्धं स्वतःप्रामाण्यं धर्मे। ततश्च विधायकत्वमुपपन्नमित्यभिप्रेत्योक्तं—स्वर्गमुद्दिश्य पुरुषं प्रति विधीयत इति। एतेन विध्यादेर्धर्मे प्रामाण्यं प्रथमाध्यायार्थो ध्वनितः। मानसविषयत्वाकारेण स्वर्गं सिद्धवन्निदर्श्य तत्साधनत्वेनाज्ञातस्य यागस्यानुष्ठेयत्वं प्रतिपाद्यत इति तदर्थः। तथा चोक्तम् 'फलस्योद्देश्यत्वं नाम मानसापेक्षी विषयत्वाकार' इति।

ननु 'यजेत स्वर्गकाम' इत्यादौ साधनत्ववाचकशब्दस्यादर्शनात्कथं स्वर्गसाधनत्वेन वेदेन यागस्यानुष्ठेयत्वं प्रतिपाद्यत इत्याशङ्क्य प्रकृतिप्रत्यययोर्विभागपुरःसरं प्रत्ययस्यांशविवेकेन भावनां प्रतिपादयन् तत्सामर्थ्येन यागस्य स्वर्गसाधनत्वं दर्शयति—तथा हीत्यारभ्य अथ क इत्यतः प्राक्तनेन ग्रन्थेन। यद्वा ननु यागादीनां स्वर्गसाधनत्वं स्वर्गस्य कालान्तरभावित्वादपूर्वमन्तरेण तन्निष्पादकत्वासंभवात्। न च यागादीनामपूर्वनिष्पादकत्वं स्यादिति वाच्यम्। सिद्धस्यैव लोके साध्यनिष्पादकत्वदर्शनात्साध्यस्वभावस्य यागदानादिरूपस्य भावार्थस्यापूर्वनिष्पादकत्वासंभवात्। तस्मान्न यागादेः स्वर्गसाधनत्वम्। ततश्च न तदुद्देशेन यागादिविधिरिति चेन्न। क्रियामन्तरेण द्रव्यादेः सिद्धस्यापि लोके फलविशेषसाधनत्वादर्शनात्। नहि पचिक्रियामन्तरेण काष्ठस्थाल्यादीनामोदनसाधनत्वं दृश्यते। मा भूत्तर्हि न तावता भवदिष्टसिद्धिरिति चेत्। साध्यस्यापि भावार्थस्य यागादेरेकपदोपात्तत्वेन भावनाभाव्यनिर्वृत्तिद्वारेण भावनाकरणस्य स्वसाधननिष्पादितस्य सतोऽपूर्वद्वारा भावनाभाव्यस्वर्गनिष्पादकत्वादित्यभिप्रायेण भावनां निरूपयितुं विधेर्विधायकत्वप्रकारं प्रदर्शयितुं च प्रकृत्यादिकं विभजते—तथा हीत्यादिना। तत्रेति। आख्यातत्वलिङ्त्वयोर्मध्य इत्यर्थः। उभाभ्यामिति। आख्यातत्वलिङ्त्वाभ्यामित्यर्थः। भावनैवेत्येवकारेण कर्त्रादिवाचकत्वमाख्यातस्य वारयति।

पहले प्रदर्शित किया जा चुका है कि धर्म प्रयोजनवान् है अर्थात् वह स्वयं साधन है और उसका साध्य उससे भिन्न स्वर्गादि है। उसी भाव को 'स च' आदि वाक्य से स्पष्ट किया गया है। 'यजेतस्वर्गकामः' इस वाक्य को उद्धृत करके उसका अर्थ भी देकर और भी पुष्ट कर दिया गया है कि धर्मरूप यागादि साधन से स्वर्गादिरूप लक्ष्य की प्राप्ति संभव है।

यद्यपि प्रकटरूप में दृष्टिगोचर नहीं होते, तथापि दो विचारणीय प्रश्न उक्त पंक्तियों पर उठते हैं। **प्रथमप्रश्न** तो यह है कि यागादि इस जीवन में पुरुषद्वारा सम्पन्न होने पर ही समाप्त हो जाते हैं और स्वर्गपर्यन्त स्थायी भी नहीं रहते, फिर उनसे मरणोत्तरकाल में प्राप्य स्वर्गादि की सिद्धि कैसे हो सकती है? यहाँ मूल में न तो यह प्रश्न उठाया गया है और न उत्तर ही दिया गया है, अपितु सीधे सिद्धान्त का प्रतिपादन है। इसका उत्तर है कि जिस प्रकार चिरविनष्ट अनुभव संस्कार के द्वारा स्मृति का हेतु बनता है उसी प्रकार यागादि भी अपूर्व के माध्यम से ही स्वर्ग आदि के साधन परम्परया बनते हैं। यह अपूर्व फलभागी यज्ञकर्त्ता पुरुष में निष्ठ रहता है। कुछ आचार्य अपूर्व को यागादि का अवान्तर व्यापार मानते हैं।[1] मीमांसक अवान्तर व्यापार को भी इस प्रसङ्ग में करण से भिन्न नहीं मानते। वस्तुतः अपूर्व आदि व्यापार के साथ याग आदि को ही उनके फलपर्यन्त स्थायी माना जाता है क्योंकि बिना इनको सम्पन्न किये अपूर्व नहीं बनता और अपूर्व बने बिना स्वर्गादि फल की प्राप्ति नहीं हो सकती।

दूसरा प्रश्न सामान्य बुद्धि में यह उठ सकता है कि मूल पंक्तियों में 'यजेत स्वर्गकामः' इत्यादि वाक्यों से स्वर्ग को लक्ष्य करके पुरुष के लिये यागादि का विधान किया गया है" यह कहने के अनन्तर 'यजेत' पद के धातु, प्रत्यय आदि का विवेचन प्रारम्भ कर दिया गया है। प्रथम दृष्टि में 'तथाहि' आदि पद कुछ असङ्गत तथा अप्रासङ्गिक से खटकने लगते हैं। किन्तु किञ्चित् विचार करने पर ही सङ्गति स्पष्ट हो जाती है। मूल के शब्दों का अभिप्राय यह है कि पुरुष के लिये अभीष्ट स्वर्ग आदि का साधन 'याग' आदि ही है अन्य कोई साधन नहीं और इन यागादि के ज्ञापक वेदवाक्य ही हैं, कोई दूसरा नहीं। धर्म होने के लिये याग आदि को वेदप्रतिपाद्य मानना ही पड़ेगा। ग्रन्थकार का मन्तव्य है कि स्वर्ग आदि के साधन के रूप में 'यागादि' वेदवाक्यों में ही कहे गये हैं—उदाहरणार्थ 'यजेत स्वर्गकामः' यह एक वेदवाक्य है। इसमें आया हुआ 'स्वर्ग' पद लक्ष्य का वाचक है। लक्ष्य अथवा साध्य रूप में 'स्वर्ग' का निर्देश इस वाक्य में स्पष्टतः किया गया है किन्तु यहाँ न तो प्रवर्तक पुरुष स्पष्टतः उक्त है और न साधनभूत 'यागादि' ही। प्रवर्तक पुरुष तथा साधन यागादि का ज्ञान कैसे होता है इसी को स्पष्ट करने के लिये 'तथा हि' पदों का प्रयोग करके 'यजेत' पद का प्रकृति-प्रत्यय विभाग किया गया है और बतलाया गया है कि 'यजेत' में विहित 'यजि' धातु ही 'याग' रूप साधन का वाचक है,[2] और उसमें लगा प्रत्यय प्रवर्तक का। पुरुष के अभाव में प्रत्यय के 'लिङ्' अंश से ही प्रवर्तक का काम लिया जाता है। 'यजेत' के प्रकृति प्रत्यय विभाग का रेखाचित्र इस प्रकार होगा—



१. यद्वा दण्डादेर्भ्रमिरिव यागादेरवान्तरव्यापाररूपं तत्। तच्च यागादिजन्यं फलाश्रयसमवेतं स्वर्गादिपर्य्यन्तस्थायि स्वर्गजनकम्। प्रतिपादिका पृ० १३

२. साधनाकाङ्क्षायां यागादिः करणत्वेनान्वेति। अर्थसंग्रहः

इस प्रकार 'तथा हि' आदि अंश से यह स्पष्ट किया गया है कि कैसे याग आदि स्वर्ग-सदृश फलों का साधन हैं, कैसे इसे वेदमात्र से जाना जा सकता है ।

क्रियापद और प्रकृति प्रत्यय—उस मूल शब्द को जिसमें प्रत्यय लगाये जाते हैं 'प्रकृति' कहते हैं । जिन वर्ण या वर्णों के प्रकृति में लगने से अर्थ व्यक्त होता है उसे प्रत्यय कहते हैं । कुछ प्रत्यय ऐसे होते हैं जो संज्ञा, सर्वनाम, विशेषण आदि में लगकर एकत्व, द्वित्व या बहुत्व तथा कर्तृत्व, कर्मत्व, करणत्व आदि व्यक्त करते हैं । इनको सुप् प्रत्यय या विभक्ति कहते हैं । ये संख्या में इक्कीस हैं । उदारणार्थ 'राम' शब्द में 'सु' प्रत्यय लगकर 'रामः' पद बनता है जिसका अर्थ है एकत्व एवं कर्तृत्व से युक्त पुरुषविशेष । जब तक 'सु' प्रत्यय नहीं लगा था तब तक यह ज्ञात नहीं था कि 'राम' नाम की वस्तु एक है या अनेक, कर्त्ता है या कर्म आदि, पुरुष है या स्त्री अथवा नपुंसक । प्रत्यय के कारण ही यह ज्ञात हो सका ।

क्रियावाचक भू, वा आदि शब्द धातु कहे जाते हैं ।[1] यास्क इनको ही आख्यात कहते हैं । धातुओं में लगनेवाले काल तथा अवस्थाओं के वाचक प्रत्ययों को 'लकार' कहते हैं । ये संख्या में सामान्यतः दस हैं[2] और सकर्मक धातुओं में लगकर कर्म और कर्त्ता तथा अकर्मक धातुओं में लग कर भाव तथा कर्त्ता का ज्ञापन करते हैं[3] । इन दसों लकारों के स्थान पर तिङ् प्रत्ययों का आदेश हो जाता है,[4] अर्थात् धातुओं में काल, वचन[5] और पुरुष[6] का ज्ञान कराने के लिये लगने वाले प्रत्ययों को तिङ् कहते हैं । इनमें से तिप् से लेकर मस् तक परस्मैपद तथा 'त' से लेकर महिङ् तक आत्मनेपद की धातुओं में लगते हैं ।[7] युष्मद् के स्थान पर मध्यम, अस्मद् के उत्तम तथा शेष के प्रथम तीन-तीन के समूह होते हैं ।[8] इनके लगे विना धातु का अर्थ निष्पन्न नहीं हो सकता । यह भी नहीं मालूम हो सकता है कि वस्तु या क्रिया किस समय की है, क्या भाव हैं और इसे एक पुरुष द्वारा सम्पन्न होना है या अनेक, सम्पादक पुरुष 'मैं' हूँ 'तुम' या अन्य । उदाहरणार्थ 'यजेत' क्रिया पद है । इसमें √यजि धातु है और 'त' प्रत्यय (√यजि+त) । यजि का सामान्य अर्थ है देवपूजा, सङ्गतिकरण एवं दान किन्तु इनका सम्बन्ध न किये जाने से है न, न किये जाने से, न पुरुष का ज्ञान है न काल का । किन्तु 'त' प्रत्यय के लगने से 'यजेत' पद बनता है । इनका अर्थ निकलता है कि एक (संख्या) पुरुष को देवपूजा सङ्गति अथवा दान अभी या भविष्य में (काल) करनी चाहिये (विधान) । अतः यहाँ 'यजि' धातु याग सामान्य का तथा 'त' प्रत्यय अनुष्ठान के साथ ही प्रथम पुरुष (पुरुष), एकत्व संख्या तथा विधित्व का ज्ञापक है ।

इस प्रकार 'यजेत' में √यजि धातु का अर्थ 'याग' निकला । 'त' प्रत्यय से प्रथम पुरुष, एकत्व संख्या, वर्तमान या भविष्यत् काल तथा विधान या प्रेरणा का अर्थ निकला । ध्यान रहे कि प्रेरणा या विधान अर्थ केवल 'लिङ्' लकार में ही मुख्यतः विद्यमान है, अन्य लकारों में नहीं । उदाहरणार्थ द्रष्टव्य है कि वचन अर्थात् संख्या, और पुरुष के अतिरिक्त लट् लकार से केवल

---

१. भूवादयो धातवः । पा० १।३।१ ॥

२. लट् वर्तमाने लेट् वेदे भूते लुङ्लङ्लिटस्तथा ।
विध्याशिषोस्तु लिङ्लोटौ लुट् लृट् लृङ् च भविष्यति ।

३. लः कर्मणि च भावे चाकर्मकेभ्यः ।। पाणिनि ३।४।६९ ॥

४. तिप्-तस्-झि–सिप् थस् थ-मिप् वस् मस्–ताऽऽता—झ-थासाऽऽथा ध्वम्—इड् वहि महिङ् ॥ पा० ३।४।७८ ॥

५. तान्येकवचन-द्विवचन-बहुवचनान्येकेशः ॥ पा० १।४।१०० ॥

६. तिङस्त्रीणि त्रीणि प्रथममध्यमोत्तमाः । पा० १।४।१०१ ॥

७. तङाऽऽनावाऽऽत्मनेपदम् ॥ पा० १।४।१०० ॥

८. युष्मद्युपपदे समानाधिकरणे स्थानिन्यपि मध्यमः । पा० १।४।१०५ ॥, अस्मद्युत्तमः । पा० १।४।१०७ ॥, शेषे प्रथमः । पा० १।४।१०८ ॥

वर्तमान काल का,[१] लिट् से परोक्षत्व का,[२] लुट् से अनद्यतनत्व का,[३] लृट् से भविष्यार्थक क्रियार्थक क्रिया का,[४] लङ् से भूतार्थ वृत्ति का,[५] तथा लुङ् से भी भूतार्थता का[६] ही ज्ञान होता है। नियमानुसार इनसे प्रेरणा का भाव नहीं निकलता। विभिन्न प्रकार की प्रेरणायें तो मात्र लिङ् से ही प्राप्त होती हैं। पाणिनि के अनुसार—"विधि-निमन्त्रण-आमन्त्रण-अधीष्ट-संप्रश्न-प्रार्थनेषु लिङ् ॥ ३।३।१३१ ॥ है। अर्थात् विधि-विधान या आज्ञा जैसा भृत्य या निकृष्ट को अनिवार्यतः प्रवर्तित करने में, निमन्त्रण—आवश्यक कर्म में आत्मसदृश सम्बन्धियों से आग्रह, आमन्त्रण—वह प्रेरणा जिसमें आहूत का आना या न आना उसकी इच्छा पर रहता है—अधीष्ट–सत्कारपूर्वक अपने से बड़ों से अनुरोध–, संप्रश्न-परामर्श लेने की प्रेरणा–, तथा प्रार्थना—'बड़ों से याचना–, इन अर्थों को प्रकट करने के लिये मुख्यतः विधिलिङ् ही विहित है। आशीर्वाद[७] के भावबोधन हेतु लिङ् और लोट् का भी प्रयोग होता है। इस प्रकार विधि से लेकर आशीर्वाद तक जिनमें प्रेरणा का भाव भरा हुआ है मुख्यतः लिङ् से ही व्यक्त होते हैं। अवशिष्ट लोट्[८] और लृङ्[९] स्वतन्त्र अर्थों का प्रकटन न करके लिङ् के ही अर्थों को व्यक्त करते हैं। इस प्रकार लिङ्त्व अर्थात् प्रेरणा या प्रवर्तन की अभिव्यक्ति लिङ् लकार से ही होती है, इसके अतिरिक्त व्यापार अर्थात् आख्यातत्व जिसमें वचन, पुरुष एवं काल भी संनिविष्ट है समान रूप से दसों लकारों में हैं। इसी भाव को मूल में 'दशलकारसाधारणम्' आदि शब्दों से व्यक्त किया गया है।

इस प्रकार विचार करने से स्पष्ट हो जाता है कि 'यजेत' सदृश क्रियापदों से सर्वप्रथम दो भागों में अर्थ निकलता है—प्रथमतः याग आदि कर्म जिससे अभीष्ट की सिद्धि होती है और अपरतः संख्या, काल, पुरुष आदि के साथ प्रवर्तना या प्रेरणा भी। याग आदि अर्थ यजि आदि धातु का है और संख्या आदि 'त' प्रत्यय का। 'त' प्रत्यय से भी प्रकट होने वाला अर्थ दो भागों में विभक्त हो जाता है—एक तो वचन, काल, पुरुष और व्यापार तथा दूसरा प्रवर्तना या प्रेरणा। वचन आदि की अभिव्यक्ति 'त' प्रत्यय के 'आख्यात' अंश से होती है जिसे दूसरे शब्दों में 'तिङ्' भी कहते हैं। इतना अर्थ दसों लकारों से समान रूप से निकलता है, किन्तु 'चाहिये' या 'प्रवर्तना अर्थ तभी निकलता है जब लिङ् लकार लगा हो। अतः लिङ्त्व अर्थात् प्रेरणा तो केवल लिङ् लकार से ही संभव है। स्पष्ट है कि 'स्वर्गकामो यजेत' में स्वर्ग आदि फल की सिद्धि में हेतु याग आदि साधनों का उपयोग ज्ञात होता है। ये याग आदि साधन अन्यत्र से नहीं अपितु 'यजेत' सदृश क्रियापदों के यजि आदि धातुओं से ही प्राप्त होते हैं और उनका विधान भी अन्यत्र से नहीं अपितु वेदों में प्रयुक्त 'यजेत' सदृश क्रियाओं के 'त' आदि प्रत्ययांशों से ही हुआ करता है।

ध्यान देने का विषय यह है कि यहाँ यद्यपि लिङ् से ही प्रवर्तना मानी गयी है, तथापि अन्य लकारों से भी प्रेरणा का अर्थ लिया ही जाता है। ग्रन्थ में आगे ऐसे अनेक उदाहरण मिलेंगे जहाँ 'यजति' का अर्थ 'यजेत' और 'जुहोति' का 'जुहुयात्' लिया गया है। कृष्णयज्वन् ने 'मीमांसा-परिभाषा' में इस भाव को व्यक्त किया है—"ननूपांशुयोगवाक्ये यजेः श्रवणेऽपि विधिप्रत्ययलिङ्गादेरभावात् कथं विधायकत्वम् इति चेन्मैवम्। यजतीत्यस्य यजेतेति विपरिणामेन विधायकत्वसम्भवात्। एवं 'व्रीहीन् प्रोक्षति' 'समिधो यजति' इत्यादावपि विपरिणामो बोध्यः। केचित्तु यजतीत्यस्य "पञ्चमलकारत्वाङ्गीकारात् विधायकत्वसम्भव इत्याहुः।" (पृ० ११)

प्रत्यय के आख्यात तथा लिङ् इन दोनों अंशों से 'भावना' का ही कथन होता है—भावनैवोच्यते—ऐसा कहने पर सामान्यतः दो प्रश्न होते हैं। प्रथम यह कि यदि दोनों अंशों से एक ही

१. वर्तमाने लट् (पा० ३।२।१२३)
२. परोक्षे लिट् (पा० ३।२।११५)
३. अनद्यतने लुट् ३।३।१५
४. लृट् शेषे च ॥ ३।३।१३
५. अनद्यतने लङ् ॥ ३।२।१११
६. लुङ् ॥ ३।२।११०
७. आशिषि लिङ् लोटौ ॥ ३।३।१७३ ॥
८. लोट् च। ३।३।१६२ ॥
९. लिङ् निमित्ते लृङ् क्रियातिपत्तौ ३।३।३ ॥

विषय का कथन होता है तो उसके दो भाग करने की ही आवश्यकता क्यों पड़ी ? इस प्रश्न का उत्तर थोड़ा सा ही आगे मिल जायेगा कि दोनों अंश एक ही प्रकार की भावना का नहीं अपितु उसके भी दो भेदों का पृथक्-पृथक् कथन करते हैं। आख्यात से आर्थी तथा लिङ् अंश से शाब्दी भावना का बोध होता है। दूसरा प्रश्न यह है कि प्रत्यय मात्र से, विशेषतः तिङ् प्रत्यय से, वचन, काल, पुरुष आदि का भी बोध होता है, केवल भावना का नहीं। उदाहरणार्थ—'गच्छति' कहने से ज्ञात होता है कि गमन करने वाला व्यक्ति अकेला है, एक वचन है, उसकी गमन क्रिया वर्तमान काल में हो रही है और कर्त्ता अन्य पुरुष का है, उत्तम या मध्यम पुरुष का नहीं। फिर 'अवधारणार्थक 'एव' पद का प्रयोग क्यों किया गया ? इसका उत्तर यह है कि भावना की तुलना में ये सब गौण हैं। यदि 'गमन क्रिया' ही नहीं होगी तो उनके कर्त्ता अथवा उनके एक-दो आदि होने का प्रश्न ही नहीं उठता है। भावना के प्रधान होने से उसका ग्रहण तथा कर्त्ता आदि के अविवक्षित होने से उनका निवारण यहाँ अभिमत है। मीमांसा की मान्यता के अनुसार—

प्रत्ययार्थं सह ब्रूतः प्रकृतिप्रत्ययौ सदा।
प्राधान्याद् भावना तेन प्रत्ययार्थोऽवगम्यते ॥
तथा क्रमवतोर्नित्यं प्रकृतिप्रत्ययांशयोः।
प्रत्ययश्रुतिवेलायां भावना त्माऽवगम्यते ॥[1]

भावनाविचारः

(५) भावना नाम भवितुर्भवनानुकूलो भावयितुर्व्यापारविशेषः। सा च द्विधा†—शाब्दीभावना आर्थीभावना चेति।

भावना उत्पन्न होने वाले (फल या क्रिया) की उत्पत्ति में सहायक उत्पादयिता (उत्पादक) का विशेष प्रकार का व्यापार है। वह (भावना) दो प्रकार की है—शाब्दी भावना तथा आर्थी भावना।

भावनासामान्यं लक्षयति—भवितुरिति। भवितुरुत्पद्यमानस्योत्पत्त्यनुकूलो भावयितुरुत्पादयितुः प्रयोजकस्य व्यापारविशेषो भावनेत्यर्थः। प्रयोजकव्यापारत्वादेव णिजन्तेन भावनाशब्देनोच्यते। यथोत्पद्यमानस्यौदनस्योत्पत्त्यनुकूलो देवदत्तस्य व्यापारविशेषो भावनेत्यर्थः। यथा चोत्पद्यमानाया देवदत्तप्रवृत्तेरुत्पत्त्यनुकूलः प्रवर्तकस्य चैत्रस्याभिप्रायविशेषः। यथा वा 'यजेत स्वर्गकाम' इत्यत्रोत्पद्यमानस्य धात्वर्थस्य स्वर्गस्य वोत्पत्त्यनुकूलः स्वर्गकामस्य व्यापार उत्पद्यमानायाश्च स्वर्गकामप्रवृत्तेरुत्पत्त्यनुकूलो लिङो व्यापारविशेषः। तथा चान्योत्पादनानुकूलो भावुकस्य व्यापारविशेषो धात्वर्थादन्यः सर्वधात्वर्थसंबद्धाकारेण भासमानो भावनासामान्यमिति सिद्धम्। तथा चोक्तम्—'अन्योत्पादानुकूलात्मा भावना साध्यरूपिणी' इति। तथाचार्यैरप्युक्तम्—'धात्वर्थव्यतिरेकेण यद्यप्येषा न लभ्यते। तथापि सर्वसामान्यरूपेणैवावगम्यते ॥' इति। भावनां विभजते—सा द्विधेति।

भावना मीमांसा का एक महत्त्वपूर्ण पारिभाषिक शब्द है जिसकी निष्पत्ति 'भू' धातु से प्रेरणार्थक णिच् तथा ल्युट् (अन) लगने से स्त्रीलिङ्ग में होती है। सामान्यतः लौकिक व्यवहार में इसका अर्थ किसी गन्ध या रस से किसी पदार्थ को वासित करना-भावना देना-इच्छा आदि होता है। किन्तु यहाँ यह विशेष अर्थ में प्रयुक्त है। भावना उत्पादयिता-फल को उत्पन्न कराने के प्रेरक

१. भाट्टालङ्कारयुक्त मीमांसान्यायप्रकाशः पृ० १४-१५

† द्वेधा, इति पाठा०।

का विशेष प्रकार का व्यापार है जिससे होने वाले फल या क्रिया को सम्पन्न करने में सहायता मिलती है। इसे एक उदाहरण से स्पष्ट किया जा सकता है।

भावनाओं का लौकिक उदाहरण—यज्ञदत्त नाम का व्यक्ति अपने पुत्र देवदत्त को गाय लाने का आदेश देता है—'गामानय'–गाय लाओ। इसके फलस्वरूप देवदत्त के मन में इच्छा उत्पन्न होती है कि उसे एक निश्चित क्रिया करनी है जिससे गाय आ सके। वह इस इच्छा को कार्यरूप में परिणत करता है और गाय ले आता है। इस कार्य को दो दृष्टियों से देखने पर दोनों प्रकार की भावनायें स्पष्ट हो जाती हैं।

प्रथमतः यज्ञदत्त चाहता है कि एक निश्चित प्रवृत्ति उसके पुत्र देवदत्त में हो। इस प्रसंग में यज्ञदत्त भावयिता है क्योंकि यह अपने पुत्र में प्रवृत्ति का प्रेरक है। देवदत्त की प्रवृत्ति ही यहाँ 'भवितृ' (भविता) है, अर्थात् वह विषय है जिसे उत्पन्न होना है। चूँकि भविष्य में होने वाली प्रवृत्ति (भवितृ) की, उत्पत्ति के अनुकूल (भवनानुकूल) भावयिता का व्यापार-विशेष ही भावना है, अतः प्रस्तुत उदाहरण में यज्ञदत्त में रहने वाला अभिप्रायविशेष जिससे देवदत्त को गाय लाने में प्रेरणा मिलती है, और जिसे 'देवदत्त, गाम् आनय' आदि शब्दों में अथवा संकेत आदि अन्य उपायों से व्यक्त किया जा सकता है, भावना हुई। भले ही यज्ञदत्त का अभिप्राय शारीरिक न होकर मानसिक हो, तथापि वह अभिप्राय या व्यापार तो है ही, अतः उसकी प्रवृत्ति, व्यापार या अभिप्राय को व्यापारविशेष तो कहा ही जा सकता है। इस दृष्टिकोण से देवदत्त को एक निश्चित कार्य के लिये प्रवृत्त करने हेतु यज्ञदत्त की प्रवृत्ति भावना हुई।

इसी प्रसंग को देवदत्त की स्थिति से भी आँका जा सकता है। देवदत्त भी चाहता है कि गाय का आनयन रूप कार्य सम्पन्न होना चाहिये। इस दशा में देवदत्त भावयिता हुआ, गाय का आनयन भविता हुआ, और देवदत्त की गवानयन के अनुकूल प्रवृत्ति भावना हुई। देवदत्त की यह प्रवृत्ति उसकी उस इच्छा से भिन्न कोई वस्तु नहीं है जो गवानयन (अर्थात् उसके शरीर के आसन से उठने, बँधी हुई गाय की ओर जाने, उसे खोलने और अपेक्षित स्थान की ओर खींच लेने) के अतिरिक्त कुछ नहीं। इस दृष्टि से गवानयन के सन्दर्भ में देवदत्त की प्रवृत्ति भी भावना ही हुई।

इस उदाहरण में यज्ञदत्त का अभिप्राय और देवदत्त की गवानयन की प्रवृत्ति दोनों भावना है। इनमें प्रथम शाब्दी या शब्द भावना है और दूसरी आर्थी या अर्थ भावना है।

भावनाओं का वैदिक उदाहरण—इनको एक वैदिक उदाहरण से भी स्पष्ट किया जा सकता है। 'स्वर्गकामो यजेत' इस वैदिक वाक्य से यह अभिप्राय निकलता है कि स्वर्ग को चाहने वाले व्यक्ति में एक निश्चित प्रवृत्ति हो—यज्ञ के प्रति प्रवृत्ति हो। यहाँ वैदिक वाक्य ही भावयिता हुआ और स्वर्गाकांक्षी पुरुष की प्रवृत्ति 'भवितृ'–होने वाली क्रिया–हुई। अतः यहाँ भावना हुई वैदिक वाक्यनिष्ठ अभिप्राय। वैदिक वाक्य के प्रसंग में कोई ऐसा व्यक्ति नहीं है जिसमें यह प्रवृत्ति निहित मानी जा सके। क्योंकि मीमांसा के सिद्धान्तानुसार वेदवाक्य अपौरुषेय एवं शाश्वत हैं। वे किसी भी पुरुष के द्वारा उच्चरित या रचित नहीं हैं। अतः इनके अनुसार यह प्रवृत्ति, अभिप्राय, व्यापार या भावना किसी पुरुष में न रहकर वैदिक वाक्यों में 'लिङ्' में रहती है। शब्दगत होने से ही इसको शाब्दी कहते हैं। लौकिक वाक्यों में वाक्य के उच्चारणकर्त्ता में (परम्परया उसके शब्दों में) यह अभिप्राय रहता है, अतः उसको शाब्दी कहते हैं। पुरुषनिष्ठ होने से इसको 'पौरुषेयी' आदि भी कहा जा सकता था, किन्तु यह लक्षण वैदिक विधियों में अव्याप्त होता, और दोषपूर्ण हो जाता, क्योंकि वैदिक वाक्य पौरुषेय नहीं हैं, वहाँ इसकी अभिव्यक्ति शब्दों–लिङ्–से होती है, अतः इसको शाब्दी भावना कहा जाता है। वेद के समक्ष मीमांसक लौकिक वाक्यों को महत्त्व नहीं देते, अतः वेदों के साथ घटित होने वाले लक्षण को ही वरीयता देते हैं।

इस वैदिक वाक्य को स्वर्ग के इच्छुक व्यक्ति के सन्दर्भ में भी देखना चाहिये। यह पुरुष भी चाहता है कि उसे स्वर्ग की प्राप्ति हो। अतः स्वर्गकामी पुरुष हुआ भावयिता, स्वर्ग की प्राप्ति हुई

भवितृ (या भविता), और भावना हुई इच्छुक पुरुष की वह प्रवृत्ति जो उसकी स्वर्गप्राप्ति का जनक होगी। यह प्रवृत्ति है पुरुष की यागसम्पन्न करने की इच्छा। अतः इस दृष्टिकोण से यागविषयक पुरुष की प्रवृत्ति ही भावना हुई। इसको आर्थी भावना कहते हैं—अर्थात्–'अर्थः प्रयोजनं स्वर्गप्राप्तिः इत्यर्थः, तत्सम्बन्धिनी भावना स्वर्गकामस्य यागविषया प्रवृत्तिः आर्थीभावना।'

इस प्रकार स्पष्ट हो जाता है कि जहाँ शाब्दी भावना से प्रवर्तना या प्रेरणा व्यक्त होती है जिससे कोई पुरुष किसी कार्य की ओर प्रवृत्त होता है, वही आर्थी भावना उस कार्य को सम्पन्न करने की प्रवृति है। दोनों भावनायें मानसव्यापार ही हैं, दोनों ही अभिप्राय विशेष हैं। जहाँ शाब्दी भावना दूसरे को किसी कर्म में प्रेरित करना है, वहीं आर्थी भावना है स्वयं ही किसी कर्म में प्रवृत्त होना। शाब्दी भावना कारण है और आर्थी भावना है उसका परिणाम या फल।[1]

इस पूरे निरूपण से स्पष्ट हो गया है 'भावना' का लक्षण सामान्य 'भवितुः भवनानुकूलो भावयितुः व्यापारविशेषः' शाब्दी तथा आर्थी दोनों भावनाओं में समानरूप से घटित हो जाता है। यहाँ भवितृ (भवितुः) का अर्थ है होने वाला, भवन का सम्पन्न होना, अनुकूल का सहायक या जनक तथा भावयितृ (भावयितुः) का प्रेरक, उत्पादयिता अथवा करने वाला है। भिन्न २ प्रत्ययों के योग से 'भू' धातु के ये रूप हैं।

शाब्दीभावना

(६) तत्र पुरुषप्रवृत्त्यनुकूलो भावयितुर्व्यापारविशेषः शाब्दीभावना। सा च लिङंशेनोच्यते। लिङ्श्रवणेऽयं मां प्रवर्तयति मत्प्रवृत्त्यनुकूलव्यापारवानयमिति नियमेन प्रतीतेः। यद्यस्माच्छब्दान्नियमतः प्रतीयते तत्तस्य वाच्यम्। यथा गामानयेत्यस्मिन्वाक्ये गोशब्दस्य गोत्वम्।

स च व्यापारविशेषो लौकिकवाक्ये पुरुषनिष्ठोऽभिप्रायविशेषः। वैदिकवाक्ये तु पुरुषाभावाल्लिङादिशब्दनिष्ठ एव। अत एव शाब्दीभावनेति व्यवह्रियते।

उनमें (शाब्दी तथा आर्थी भावनाओं में) व्यक्ति की प्रवृत्ति का जनक अथवा सहायक प्रयोजक का व्यापारविशेष शाब्दी भावना है। वह (शाब्दीभावना प्रत्यय के) लिङ् अंश से व्यक्त होती है, क्योंकि लिङ् का श्रवण होने पर निश्चित रूप से प्रतीत होता है कि यह मुझे प्रवृत्त कर रहा है अर्थात् यह मेरी प्रवृत्ति के अनुकूल व्यापार करने वाला है। जो (अर्थ) जिस शब्द से नियमित प्रतीत होता है, वह (अर्थ) उस शब्द का वाच्य हो जाता है। जैसे 'गाम् आनय', इस वाक्य में गोशब्द का गोत्व अर्थ होता है। और वह व्यापारविशेष लौकिक वाक्य में पुरुष में स्थित अभिप्राय विशेष है, किन्तु वैदिक वाक्य में पुरुष का अभाव होने से (वह अभिप्रायविशेष) लिङ् आदि शब्दों में ही स्थित रहता है। इसीलिये उसे (शब्दनिष्ठ अभिप्रायविशेष को) 'शाब्दी भावना' इस नाम से व्यवहृत करते हैं।

तत्र शब्दभावनां लक्षयति—तत्रेति। तत्र तयोः शब्दभावनार्थभावनयोर्मध्य इत्यर्थः।

१. Both शाब्दी भावना and आर्थी भावना are mental activities. Both of them can be looked upon as अभिप्रायविशेष—But hile शाब्दी भावना is the iutention to instigate another towards a certain tendency आर्थी भावना is the intention oneself to undertake a certain action. शाब्दी भावना is the cause, आर्थी भावना the effect arising therefrom'. The Arthasamgraha p. 85.

परिस्पन्दपरिणामविलक्षणः पुरुषप्रवृत्त्यात्मकार्थभावनोत्पत्त्यनुकूलो लिङादिशब्दस्य व्यापारविशेषः शब्दभावनेत्यर्थः। शब्दभावनैव लिङ्त्वादिना लिङाद्यर्थ इत्याह—सा चेति। तस्या लिङाद्यर्थत्वेऽनुभवं प्रमाणयति—लिङ्श्रवण इति। अनुभवमभिनयति—मदिति। यद्वा, ननु कथमननुभूयमानत्वाल्लिङादिवाच्यत्वं भावनाया लिङादेः प्रवर्तकत्वेऽपि तत्र भावनारूपव्यापारस्याननुभवादित्याशङ्क्य तं व्यापारं स्पष्टतयानुभावयति—मदित्यादिना। पुरुषप्रवृत्त्यनुकूलं व्यापारं लिङादिशब्दनिष्ठतयानुभावयित्वा तस्य लिङादिशब्दान्नियमेन प्रतीयमानत्वाल्लिङादिशब्दवाच्यत्वमित्यनुमानप्रदर्शनाय व्याप्तिं दर्शयति—यदित्यादिना। तत्रोदाहरणमाह—यथेत्यादि। सा च शब्दभावना लोके वेदे च प्रवर्तनात्वेनैव लिङादिशब्दवाच्या तत्त्वेनैव च पुरुषप्रवृत्तिहेतुरिति स्वीकर्तव्यम्। अन्यथा प्रैषादेरनेकस्य पुरुषाशयविशेषस्य विधिवाच्यत्वानुपपत्तिः स्यात्, आनन्त्यव्यभिचारदोषप्रसङ्गात्। प्रवर्तनात्वं च प्रवृत्त्यनुकूलव्यापारत्वम्। अनुकूलत्वं च जनकत्वम्।

तच्च लोके पुरुषाशयवृत्ति, वेदे तु पुरुषाभावात्पुरुषाशयभिन्नस्यैव कस्यचिल्लिङादिशब्दनिष्ठव्यापारविशेषस्य प्रवर्तनात्वमित्याशयेनाह—स चेत्यादिना। अत्रेदं बोध्यम्—तस्य व्यापारविशेषस्य प्रवृत्तिविषयस्येष्टसाधनत्वानुमानद्वारा प्रवृत्तिजनकत्वमङ्गीकरणीयम्। अन्यथा प्रवृत्तिविषयस्येष्टसाधनत्वानालेपे प्रवृत्त्यनुपपत्तिः स्यात्। तथा चानुमानम्—विमतमिदमिष्टसाधनमप्यत्र प्रवर्ततामित्याकारकाप्तेष्टव्यापारविशेषविषयत्वाद्यन्नैवं तन्नैवं यथा प्रतारकवाक्योपस्थितम्। अत्र सुखे सुखं मे जायतामित्युदासीनस्य कस्यचिदिच्छाविषयत्वेऽपीष्टसाधनत्वाभावात्तत्र व्यभिचारव्यावृत्तये हेतावाकारकान्तम्। प्रतारकस्य तादृशेच्छाविषये व्यभिचारवारणायाप्तेति। आप्तत्वं च लोकवेदसाधारणं प्रतारणाद्यजन्यहिताहितोपदेशकर्तृत्वे सति तद्भिन्नोपदेशाकर्तृत्वम्। प्रतारणया तु सर्वदा हिताहितोपदेशकर्तर्यनाप्तेऽतिप्रसङ्गवारणायाजन्यान्तम्। कदाचित्प्रतारणाद्यजन्यतत्कर्तरि तद्दोषवारणायोत्तरदलम्। हितस्योपदेशस्तत्संग्रहायाहितस्योपदेशश्च तत्परिहाराय बोध्यः। ततश्च तत्कर्तृत्वं लोके पुरुषविशेषे वेदे च 'यजेत स्वर्गकामः', 'न कलञ्जं भक्षये'दित्यादिवाक्ये भवति। तथा च लौकिकवैदिकव्यापारयोर्व्यापारविशेषत्वेन संग्रहाय हेतौ विशेषपदम्। वैदिकश्च स व्यापारविशेषः प्रवर्तनाप्रेषणाविध्यपरपर्याया भावनैव नञ्रहिते वाक्ये लिङाद्यर्थः। लौकिकस्तु प्रैषोऽतिसर्गः प्रेषणाज्ञाध्येषणानुज्ञानुमतिरित्यादिबहुविधो भवति। प्रमाणान्तरप्रमितेऽर्थे पुरुषनिष्ठा पुरुषप्रवर्तना प्रैषः। अतिसर्गः कामचारः। उत्कृष्टस्य निकृष्टं प्रति प्रवर्तना प्रेषणाऽऽज्ञा चोच्यते। निकृष्टस्योत्कृष्टं प्रति प्रवर्तना प्रार्थनाध्येषणा चोच्यते। समं प्रति समस्य प्रवर्तनोत्कर्षनिकर्षौदासीन्येन जातानुज्ञानुमतिश्चोच्यते। ते च प्रैषादयो ज्ञानविशेषा इच्छाविशेषा वा चेतनधर्माः। पुरुषस्याशयविशेषा एवेत्यभिप्रायेण ग्रन्थकारेणाप्युक्तम्—लौकिकवाक्ये पुरुषनिष्ठोऽभिप्रायविशेष इति। तथा च त एव लोके लिङाद्यर्थाः। तस्माल्लोके वेदे च व्यापार एव प्रवर्तनाख्यो लिङादिवाच्योऽर्थ इति फलितम्। ननु किमत्र वाच्यताख्यं शक्यतावच्छेकं शक्ततावच्छेदकं च? अन्यथातिप्रसङ्गापत्तेरिति चेत्। अत्रोच्यते—लौकिके हि प्रैषादौ वैदिके च भावनारूपे व्यापारे साधारणव्यापारत्वमेव पूर्वोक्तप्रवर्तनात्वरूपं शक्यतावच्छेदकमस्ति च लौकिके लिङादिपदोपस्थाप्येतत्प्रवृत्तिहेतुभूतेष्टसाधनताद्यनुमितिजनकं पुरुषाशयविशेषे प्रवृत्तिप्रयोजकव्यापारत्वं वेदेऽपि

लिङादिशब्दश्रवणादुत्तरकाले यागादिप्रवृत्तिदर्शनेनेयं देवदत्तस्य यागादिप्रवृत्तिः व्यापाराख्य-प्रवर्तनाज्ञानपूर्विका अन्यप्रेरितप्रवृत्तित्वाच्चैत्राशयज्ञानजन्यमैत्रगवानयनप्रवृत्तिवदित्यलौकिक-मेव व्यापारमपौरुषेये वेदे इच्छादेर्बाधादनुमाय तत्प्रतीतेर्लिङादिज्ञानान्वयव्यतिरेकानु-विधायित्वेन तत्र लिङादिवाच्यत्वं च परिकल्प्य तस्य पूर्वोक्तविधिना प्रवृत्तिहेतुभूतेष्ट-साधनताद्यनुमापकतया बालस्तत्रापि प्रवृत्तिप्रयोजकव्यापारत्वं प्रतिपद्यते। कथं तर्हि लोकेऽपि व्यापारप्रतिपत्तिरिति चेदित्थम्—उत्तमवृद्धस्य सविधिकवाक्यश्रवणोत्तरकाल-भाविनीं मध्यमवृद्धस्य गवानयनप्रवृत्तिमुपलभ्य बालो लोकेऽपि तत्प्रयोजकव्यापारमनु-मिमीते। यथा हि गवानयनानुकूलोत्तमवृद्धवाक्यश्रवणोत्तरभाविनी मध्यमवृद्धप्रवृत्तिः प्रवर्तनाज्ञानपूर्विका अन्यप्रेरितप्रवृत्तित्वान्मद्वोदनपूर्वकमदीयभोजनादौ मदभिप्रायजन्य-मन्मातृप्रवृत्तिवत्। अत्र स्वतःसिद्धप्रवृत्ताविष्टसाधनताज्ञानजन्यस्वप्रवृत्तौ च व्यभिचार-वारणायान्यप्रेरितेति विशेषणम्। किंच प्रवर्तनाज्ञानमुत्तमवृद्धवाक्यजन्यं तदन्वयव्यतिरेकानु-विधायित्वाद्दण्डान्वयव्यतिरेकानुविधायिघटवत्। किंच यस्माच्छब्दाद्यत्प्रतीयते तत्तद्वाच्यं घटपदवाच्यघटत्ववदित्युत्तमवृद्धवाक्यस्य मुग्धाकारां शक्तिं व्यापाराख्यप्रवर्तनायामवधार्य तत्र चावापोद्वापाभ्यां विधिशक्तिं तस्यामवधारयति, एवं सर्वत्रोह्यम्। तस्माल्लोकवेद-साधारण्येन व्यापारत्वमेव शक्यतावच्छेदकमिति सिद्धम्। शक्ततावच्छेदकं तु लिङ्त्वलेट्-त्वलोट्त्वादिकं बोध्यम्। किंच यद्यपि निरुक्तविधया व्यापारत्वेनैव सामान्यरूपेण व्यापारज्ञानं तच्च विशेषज्ञानसापेक्षमतिप्रसङ्गवारणाय तथापि प्रमाणान्तरेण विशेषबोधः सुलभः। यथा घटवद्भूतलमित्यादौ घटपदाद् घटत्वावच्छिन्नघटमात्रप्रतीतावपि तस्य योग्य-संसर्गेण भूतलादावन्वये बुद्धे तत्संसर्गस्य तत्त्वेन जिज्ञासायां प्रत्यक्षादिप्रमाणान्तरेणैव संयो-गत्वादिना संयोगादिरूपसंसर्गप्रतीतिर्भूतलवृत्तिघटविशेषप्रतीतिश्च भवति, तथा लिङादि-पदाद्व्यापारत्वावच्छिन्नव्यापारमात्रस्योपस्थितावपि तस्याख्यातोपात्तार्थभावनाया योग्यसंसर्गे-णान्वये बुद्धे पश्चात्तत्संसर्गस्य तत्त्वेन जिज्ञासायां प्रवृत्तिप्रयोजकत्वानुपपत्त्यादिना प्रमाणेनैव विशेषरूपेण संसर्गविशेषप्रतीतिर्यागादिप्रवृत्तिसंबन्धिव्यापारविशेषप्रतीतिश्च भवति, संसर्ग-विशेषस्तु तत्तत्प्रवृत्तिप्रागभावकाले यल्लिङादिपदज्ञानं तेनोत्पादितं यत्प्रेरणाज्ञानं तज्जन्येष्ट-साधनताद्यनुमितिप्रयोज्यत्वम्। तेन च व्यापारवती यागादिप्रवृत्तिरिति भवति विशेषनिर्णयः। एवं च लोके वेदे च लिङादिश्रवणे प्रैषादिरूपस्य वक्त्रभिप्रायस्य भावनारूपस्य च व्यापार विशेषस्यव्यापारत्वेनैव रूपेण प्रतीतिर्न विशेषरूपेण, तथैव शक्तिग्रहात् विशेषरूपेण प्रतीतिस्तु लोकेऽजहल्लक्षणयैव। वेदे तु विशेषरूपाकाङ्क्षायां प्रैषादिरूपस्य वक्त्राशयविशेषस्यापौरुषेये वेदेऽसंभवेन लिङादिशब्दनिष्ठ एव प्रेरणापरपर्यायः कश्चिद्व्यापारो विशेषरूप इत्युक्तमेव, तस्मान्निरुक्तव्यापार एव लिङाद्यर्थो नेष्टसाधनत्वादिरिति सिद्धम्। नन्विष्टसाधनत्वमेव प्रवर्तनात्वेन रूपेण वेदे लिङाद्यर्थ इति मण्डनमिश्रा वदन्ति। अर्थभावनाभिधानानुकूलाया लिङादिनिष्ठशक्तेरेवाभिधाख्यायाः प्रवर्तनात्वेन रूपेण लिङादिवाच्यत्वं परिकल्प्य तज्ज्ञान-स्य प्रवृत्तिं प्रति कारणत्वमात्रं वेदे कल्प्यत इति तु पार्थसारथिर्वदति। लिङादिश्रवणा-नन्तरं प्रवृत्तिदर्शनात्प्रवृत्तिसामग्रीजननद्वारा लिङादिज्ञानस्य प्रवृत्त्याद्युपयोग इति तावद-विवादम्। तत्सामग्री च कृतिसाध्यत्वप्रकारकेच्छारूपा चिकीर्षा, तस्याश्च स्वरूपसत्याः

कारणत्वात्तत्र लिङादिज्ञानस्यानुपयोगेऽपि चिकीर्षाकारणीभूतज्ञाने तदुपयोगः कल्प्यते। तच्च बलवदनिष्टाननुबन्धित्वज्ञानं कृतिसाध्यत्वज्ञानमिष्टसाधनत्वज्ञानं च अन्यतमाभावे इतरद्वय सत्वेऽपि मधुविषान्नभोजने चन्द्रस्पर्शे मण्डलीकरणादौ वा प्रवृत्त्यनुत्पत्तेः। तस्माल्लिङादिज्ञानेन त्रितयज्ञानजननाल्लिङादेर्बलवदनिष्टाननुबन्धित्वे कृतिसाध्यत्वे इष्टसाधनत्वे च शक्तिरिति तार्किकाः, तस्मात्कथं व्यापारस्य लोकवेदसाधारणस्य लिङाद्यर्थत्वमिति चेद्, अत्रोच्यते—न तावदिष्टसाधनत्वं लिङाद्यर्थः, इष्टसाधनत्वज्ञानादेव प्रवृत्त्युपपत्तौ, गुरुप्रेरितोऽहं जलमानयामीत्यादौ गुर्वादेः प्रवर्तकत्वव्यवहारानुपपत्तेः। न च प्रवृत्तिजनकेष्टसाधनताबोधकलिङुच्चारयितृत्वात्तस्य प्रवर्तकत्वव्यवहार इति वाच्यम्। राजप्रेरितपदातेस्तादृशलिङुच्चारयितृत्वेन प्रवर्तकत्वापत्तौ पदातिप्रेरितोऽहं न गामानयामि किंतु राजप्रेरित इति पदातौ प्रवर्तकत्वाभावव्यवहारानुपपत्तेः। न चान्याप्रेरितत्वे सति तादृशलिङुच्चारयितृत्वं प्रवर्तकत्वमिति वाच्यम्। पिशुनप्रेरिते राज्ञि प्रवर्तकत्वानुपपत्तेः। ततश्च तादृशव्यवहारबलात्प्रवृत्तिकारणीभूतज्ञानविषयाशयविशेषाश्रयत्वेनैव राजादेः प्रवर्तकत्वं वाच्यं न चाशयविशेषस्य लिङादिवाच्यत्वाभावे ततस्तज्ज्ञानं संभवति तस्माल्लिङादिवाच्यत्वं तस्येति। नाप्यर्थभावनाभिधानानुकूलायाः शक्तेर्लिङाद्यर्थत्वं संख्याभिधानानुकूलशक्त्या लिङ्त्वादिनैव वा विनिगमनाविरहात्। नापि बलवदनिष्टाननुबन्धित्वादेर्लिङाद्यर्थत्वं, शक्तित्रयकल्पनायां गौरवप्रसङ्गात् बलवदनिष्टाननुबन्धित्वज्ञानाभावेऽपि बलवदनिष्टानुबन्धित्वज्ञानाभावमात्रेणेष्टसाधनत्वज्ञानादिनैव प्रवृत्तेरनुभवसिद्धत्वाच्च। तस्माद्बलवदनिष्टानुबन्धित्वज्ञानं प्रवृत्तिप्रतिबन्धकं तदभावश्च स्वरूपसन्नेव तत्कारणमिति स्वीकर्तव्यम्। तस्मान्निरुक्तस्य व्यापारस्यैव लिङाद्यर्थत्वं सर्वत्र नेष्टसाधनत्वादेरिति सिद्धम्। 'अभिधाभावनामाहुरन्यामेव लिङादय' इति वार्तिकानुरोधेनाह—अत एवेति। शब्दनिष्ठत्वादेवेत्यर्थः। अभिधाशब्देनाभिधीयतेऽनेनेति व्युत्पत्त्या शब्द उच्यते, तस्य व्यापारविशेषो भावना, तां स्वनिष्ठामन्यामर्थभावनाभिन्नां लिङादय आहुरिति वार्तिकवचनार्थः।

यहाँ शाब्दी भावना का स्वरूप, प्रवर्तन की प्रक्रिया आदि को स्पष्ट किया गया है। पूर्ववर्ती अंशों से स्पष्ट है कि किसी भी क्रिया में मुख्यतः दो तत्त्व होते हैं, एक वह सूत्र जो क्रिया के लिये प्रेरित करता है और दूसरा वह जो क्रिया में प्रवृत्त होता है। प्रेरित करने वाले का सम्बन्ध शाब्दी भावना से है और प्रवृत्त होने वाले का आर्थी भावना से। प्रेरक का मानसव्यापार—प्रवृत्ति अथवा व्यापारविशेष—प्रेरित व्यक्ति के मानस व्यापार का जनक होता है। प्रेरक का ही व्यापारविशेष शाब्दी भावना है। इसको ही 'पुरुषप्रवृत्त्यनुकूलो०' आदि शब्दों से स्पष्ट किया गया है।

शाब्दीभावना के लक्षण में प्रयुक्त 'पुरुष' तथा 'भावयितुः' पद विशेष महत्त्व के हैं। लोकव्यवहार में कोई पुरुष ही प्रेरक होता है और कोई पुरुष ही प्रेरित भी होता है, किन्तु वैदिक व्यवहार में यह अनिवार्य नहीं। वहाँ प्रेरित होने वाला तो पुरुष होता है किन्तु प्रेरक पुरुष ही हो यह आवश्यक नहीं। इसी भाव को स्पष्ट करने के लिये प्रेरित के स्थान पर ग्रन्थकार ने 'पुरुष' शब्द का प्रयोग किया है किन्तु 'प्रेरक' के स्थान पर 'भावयिता' का। 'भावयिता' पुरुष भी हो सकता है और लिङ् आदि भी। लौकिक वाक्यों के जनक प्रेरकपुरुष का प्रत्यक्षतः ग्रहण हो जाता है। वैदिक वाक्यों का रचयिता मीमांसा के अनुसार कोई नहीं है, अतः लौकिकव्यवहार में व्यापारविशेष वक्ता पुरुष में स्थित माना जाता है और वैदिकव्यवहार में लिङ् में, जो वस्तुतः

धातु में लगने वाले प्रत्यय का एक अंश है। इस प्रकार शाब्दीभावना सामान्यतः दो प्रकार की हो जाती है—१–वैदिकी २–लौकिकी।

लिङंशेनोच्यते—शाब्दीभावना का ज्ञान वाक्य में प्रयुक्त धातु में लगी 'त' प्रत्यय के लिङ् अंश को सुनने पर होता है। जैसे ही उपासीत, यजेत आदि लिङ् लकारान्त धातुयें सुनने को मिलती हैं, वैसे ही सुनने वाला समझने लगता है कि इन शब्दों का प्रयोक्ता उपासना आदि कार्यों में प्रवृत्त करना चाहता है, अर्थात् इसका मानसिकव्यापार—उसकी इच्छा—मुझमें किसी व्यापार को उत्पन्न करना चाहता है, वह चाहता है कि मैं कोई व्यापार करूँ, उसकी इच्छा मेरी इच्छाओं का जनक है। प्रेरक प्रयुक्त लिङ् को सुनते ही सहज रूप से अपनी प्रवृत्ति के अनुकूल उसके व्यापार का ज्ञान हो जाता है, अर्थात् प्रेरित का व्यापारविशेष लिङ् का वाच्य होता है, क्योंकि जिस शब्द को सुनने से जिस अर्थ की स्वतः प्रतीति होने लगती है, वह अर्थ उस शब्दविशेष का वाच्य कहा जाता है। मूल में प्रयुक्त 'नियमेन' विशेष महत्त्व का है। 'नियमेन' का सामान्य अर्थ 'नियमानुसार' अथवा 'एक निश्चित विधि के अनुसार है', किन्तु यहाँ इसका अर्थ 'साक्षात् रूप से' लेना चाहिये। किसी भी शब्द का वाच्य अर्थ वही होता है जो उस शब्द से बिना किसी बाध या व्यवधान के प्रकट होता है। जहाँ बाध आदि का प्रसंग होता है वहाँ लक्ष्य या व्यङ्ग्य अर्थ प्रतीत होता है, वाच्य नहीं। अतः वाच्य अर्थ की नियमतः प्रतीति का अर्थ साक्षात् प्रतीति मानना चाहिये। वाच्य अर्थ को ही अभिधेय, मुख्य, साक्षात्–संकेतित आदि भी कहा जाता है।[1] चूँकि लिङ् का श्रवण होने के बाद ही प्रेरित पुरुष की प्रवृत्ति में अनुकूलता आती है, अतः यह प्रेरित की प्रवृत्ति-व्यापार-लिङ् का अर्थ हुआ, जैसे गोशब्द को सुनने पर उससे 'गोत्व' अर्थ की साक्षात् प्रतीति होती है, अतः 'गोत्व' को 'गो' का वाच्य अर्थ समझा जाता है। कुमारिल भट्ट ने भी अभिधा को ही वाच्य का हेतु माना है।[2]

गोशब्दस्य गोत्वम्—सामान्यतः शब्द चार प्रकार के माने जाते हैं–(१) जातिशब्द जो जाति या सामान्य का ज्ञान कराते हैं, जैसे गोशब्द गोत्व का। (२) गुणशब्द—जो गुणों के वाचक हैं जैसे 'शुक्ल' आदि। (३) क्रियाशब्द—जो क्रिया का बोध कराते हैं जैसे, पाकः, पचति आदि (४) द्रव्य, संज्ञा, यदृच्छाशब्द—जो किसी पिण्ड के स्वेच्छा कल्पित नाम होते हैं जैसे बैल के लिये 'डित्थ' आदि का प्रयोग। व्यावहारिक प्रक्रिया यह है कि किसी भी पदार्थ की आवश्यकता होने पर उसके वाचक पद का उच्चारण किया जाता है, उस पद से उसके वाच्य अर्थ के रूप में वह वस्तु ही उपस्थित होती है जिससे आवश्यकता की पूर्ति होती है। जैसे 'गामानय' 'गाय को लाओ' कहने पर एक चतुष्पाद प्राणी लाया जाता है। यह शरीरवान् प्राणी ही गोपद का वाच्य अर्थ द्रव्य, पिण्ड या व्यक्ति है। यह पिण्ड ही लाया तथा ले जाया जा सकता है। वास्तविकता यही है, किन्तु मीमांसकों का मत है कि 'गोपद' का उच्चारण करने पर गोपिण्ड, व्यक्ति या द्रव्य नहीं प्राप्त होगा, अपितु उसके स्थान पर 'गोत्व' जाति ही साक्षात् अर्थ के रूप में उपस्थित होगी, गोत्वजाति स्वयं अर्थक्रियाकारित्व में—इच्छापूर्ति में—सहायक नहीं हो सकती, अतः लक्षणा से उसका अर्थ 'गो-व्यक्ति' लिया जायेगा। इसी अभिप्राय को व्यक्त करने के लिये ग्रन्थ के मूल अंश में 'गोशब्दस्य गोत्वम्' कहा गया है।

वस्तुतः भारतीय परम्परा के विभिन्न सम्प्रदाय के आचार्यों ने मुख्यार्थ के विषय में भिन्न-भिन्न मत प्रकट किया है। जहाँ नव्यनैयायिक केवलव्यक्ति को ही मुख्यार्थ मानते हैं, वहीं प्राचीन-नैयायिक जातिविशिष्ट व्यक्ति को, बौद्ध लोग अपोह को, मीमांसक जाति को तथा वैयाकरण और अलङ्कारशास्त्री जात्यादि को।[3]

---

१. स मुख्योऽर्थस्तत्र मुख्यो व्यापारोऽस्याभिधोच्यते ॥ काव्यप्रकाश २।८ ॥

२. अभिधाभावनामाहुरन्यामेव लिङादयः। अर्थात्मभावना त्वन्या सर्वाख्यातेषु गम्यते ॥

३. द्रष्टव्य मम्मटकृत काव्यप्रकाशः २।८ ॥ तथा उस पर वृत्ति एवं The Arthasamgraha p. 86.

वैदिकवाक्ये तु पुरुषाभावात्—इन शब्दों में यह व्यक्त किया गया है कि लौकिक वाक्यों के कहने वाले अथवा उत्पादक का प्रत्यक्ष होता है। लौकिक वाक्य पुरुषकृत होते हैं, उनका वक्ता या रचयिता कोई पुरुष होता है, अतः वे पौरुषेय हैं। पौरुषेय वाक्यों में विहित अभिप्राय का आधार उनका कहने वाला पुरुष होता है, इसलिये इनका व्यापारविशेष पुरुषगत होता है। वैदिक वाक्यों में यह बात नहीं।

मीमांसकों के अनुसार वेद शाश्वत, अनादि एवं नित्य हैं। ये किसी भी लौकिक पुरुष-मनुष्य आदि अथवा अलौकिक पुरुष-ईश्वर आदि द्वारा रचे नहीं गये, न उनकी वाणी हैं। पुरुषों में दोष सम्भव हैं, अतः उनकी कृतियाँ भी दोषपूर्ण हो सकती हैं। वेद किसी पुरुष की कृति नहीं हैं अतः वे समस्त दोषों से रहित एवं शुद्ध प्रामाणिक है। नित्यरूप से विद्यमान वेद प्रलयों के बाद भी विद्यमान रहते हैं और प्रतिकल्प के प्रारम्भ में ब्रह्मा उनका स्मरण किया करते हैं, न कि रचते हैं। उनके अनुसार ही मनुष्यगण शास्त्र की रचना करते रहते हैं।[1] नैयायिक वेदों को ईश्वरकृत मानते हैं। ईश्वर को सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान् आदि मानकर वे वेदों को आप्त स्वीकार करते हैं। वेदान्ती भी 'व्यवहारे यथा भाट्टनयः' के अनुसार वेदों को अपौरुषेय मानते हैं तथापि भगवत्पाद आद्यश्रीशङ्कराचार्य ने अपने ब्रह्मसूत्र के 'शास्त्रयोनित्वात्' (ब्र० सू० १।१।३) के भाष्य के एक वर्णक में वेदों को ईश्वरकृत स्वीकार करने में आपत्ति नहीं की है। मीमांसकों के पक्ष को 'मीमांसा-न्यायप्रकाश' में सरल शब्दों में खूब स्पष्ट किया गया है—

"न हि वेदः पुरुषनिर्मितः।
वेदस्याध्ययनं सर्वं गुर्वध्ययनपूर्वकम्।
वेदाध्ययनसामान्यादधुनाध्ययनं यथा॥ (श्लोकवा० वाक्या० ३६६)

इत्यादिना वेदापौरुषेयत्वस्य साधितत्वात्। 'यः कल्पः स कल्पपूर्वः' इति न्यायेन संसारस्यानादित्वादीश्वरस्य च सर्वज्ञत्वादीश्वरो गतकल्पीयं वेदमस्मिन् कल्पे स्मृत्वा उपदिशतीत्येतावता एव उपपत्तौ प्रमाणान्तरेणार्थमुपलभ्य रचितत्वकल्पनानुपपत्तेश्च। ततश्च पुरुषाभावाच्छब्दनिष्ठैव सा।" (पृ० ३२–४१) वेद के अपौरुषेयत्व पर जैमिनि के मीमांसा सूत्र (१।१।२७–३२), उन पर शावर-भाष्य, सर्वदर्शनसंग्रह में सम्बद्ध अंश, सायण की ऋग्वेदभाष्योपक्रमणिका, आदि ग्रन्थों को देखना चाहिये। जैमिनिन्यायमालाविस्तर में कहा गया है कि संहिताओं का काठक, कौथुम, तैत्तिरीयक आदि नाम इन ग्रन्थों के अध्ययन के सम्प्रदाय के प्रवर्तकों के नाम पर हैं न कि रचयिताओं के 'अध्ययनसंप्रदायप्रवर्तकत्वेन समाख्योपपद्यते' आदि (पृ० २१)।

भावना की लिङ्निष्ठता—लौकिक वाक्यों में शाब्दी भावना को पुरुषनिष्ठ एवं वैदिक वाक्यों में लिङ्निष्ठ कहा गया है। वास्तविकता यह है कि दोनों प्रकार के वाक्यों में भावना को लिङ् में ही स्थित मानना चाहिये, क्योंकि प्रयोजक पुरुष वर्तमान भले ही हो, जबतक वह लिङ् का उच्चारण नहीं करता उसका अभिप्राय व्यक्त नहीं होता। यह कोई तर्क नहीं है कि वैदिक वाक्य का कोई कर्त्ता नहीं है, अतः उसमें भावना को लिङ्निष्ठ माना जाये और लौकिक वाक्य का है, अतः उसमें उसे पुरुषनिष्ठ स्वीकार किया जाये। इस ओर 'मीमांसान्यायप्रकाश'कार का ध्यान नहीं गया और उनके अनुगामी अर्थसंग्रहकार का भी। लगता है यह भूल बहुत पहले से शुरू हुई और उसको आप्त मानकर स्वीकारने की परम्परा चल पड़ी।

इस प्रसङ्ग में कृष्णनाथ भट्टाचार्य का तर्क अधिक संगत है जहाँ उन्होंने कहा है—'वस्तुतः लोके वेदे च लिङादिशब्दनिष्ठ एवं भावनाख्यव्यापारो, लाघवात्। लिङादिशब्दमन्तरेण पुरुषाभिप्रायस्यानिश्चेयतया लोकेऽपि लिङादेरेव अन्वयव्यतिरेकावश्यम्भावाच्च। अन्यथा लौकिकलिङः

---

१. न कश्चित् वेदकर्त्ता च वेदस्मर्त्ता पितामहः।
तथैव धर्मं स्मरति मनुः कल्पान्तरान्तरे॥

प्रवर्तकत्वं व्याहन्येत । भावनायाः पुरुषनिष्ठत्वे शब्दनिष्ठत्वेन शाब्दभावनात्वव्यपदेशानुपपत्तेश्च इति द्रष्टव्यम् ।'[1] अर्थात् वस्तुतः लौकिक एवं वैदिक दोनों वाक्यों में भावना नाम का व्यापार लिङादि शब्दों में स्थित है, ऐसा ही मानने पर प्रयत्नलाघव होगा, समझने में आसानी होगी । लिङ् आदि शब्द के बिना पुरुष का अभिप्राय निश्चित रूप से ज्ञात न हो सकेगा, अतः लौकिकवाक्य में भी अन्वय एवं व्यतिरेक दोनों हेतुओं से लिङ् आदि की आवश्यकता पड़ेगी ही । यदि लिङ की आवश्यता नहीं स्वीकार की जाती है तो लौकिकवाक्यों में लिङ् का प्रयोग अनावश्यक होगा और उससे प्रवर्त्तन नहीं हो सकेगा । इसके अतिरिक्त यदि भावना को पुरुषनिष्ठ भी मान लिया गया तो शब्दनिष्ठता के कारण ही 'शाब्दी' कही जाने वाली भावना का 'शाब्दीभावना' यह नाम अनुपपन्न हो जायेगा ।'

अर्थसंगति के लिये 'पुरुषनिष्ठोऽभिप्रायविशेषः' का अर्थ यह लेना चाहिये कि लौकिकवाक्य में तो लिङ् आदि से व्यक्त होने वाला व्यापारविशेष उसका उच्चारण करने वाले पुरुष का ही अभिप्राय विशेष होता है, लौकिकवाक्य का लिङ् किसी स्वतन्त्र, निर्दुष्ट अथवा शुद्ध प्रामाणिक व्यापार का ही बोध नहीं कराता, उसमें निहित भावना पुरुष के भीतर विहित व्यक्तित्व से प्रभावित होती है, जब कि वैदिकवाक्यों में इन सबका अभाव होने से स्वतःप्रामाण्य है । यह अर्थ लेने पर विरोध परिहार तथा इष्टपूर्ति दोनों हो जाते हैं । 'वैदिकवाक्ये तु पुरुषाभावाल्लिङ्गादिशब्दनिष्ठ एव' में 'एव' पद महत्त्वपूर्ण है, जिसका यह भी अर्थ निकलता है कि वैदिक वाक्य में पुरुष का अभाव होने से व्यापार विशेष केवल लिङ् आदि शब्दों में ही रहता है, न कि पुरुष में भी जैसा कि लौकिकवाक्यों में होता है ।

(७) सा च भवना अंशत्रयमपेक्षते—साध्यं साधनमितिकर्तव्यतां च, किं भावयेत्, केन भावयेत्, कथं भावयेदिति ।

तत्र साध्याकाङ्क्षायां वक्ष्यमाणांशत्रयोपेता आर्थीभावना साध्यत्वेनान्वेति एकप्रत्ययगम्यत्वेन समानाभिधानश्रुतेः । संख्यादीनामेकप्रत्ययगम्यत्वेऽप्ययोग्यत्वान्न साध्यत्वेनान्वयः ।

साधनाकाङ्क्षायां लिङादिज्ञानं करणत्वेनान्वेति । तस्य च करणत्वं न भावनोत्पादकत्वेन, तत्पूर्वमपि तस्याः शब्दे सत्त्वात् । किन्तु भावनाज्ञापकत्वेन शब्दभावनाभाव्यनिर्वर्तकत्वेन वा ।

इतिकर्तव्यताकाङ्क्षायामर्थवादज्ञाप्यप्राशस्त्यमितिकर्तव्यतात्वेनान्वेति ।

और वह (शाब्दी) भावना तीन अंशों साध्य, साधन तथा इतिकर्त्तव्यता की अपेक्षा करती है । (इन तीनों अंशों का क्रमशः अभिप्राय यह है कि इस शाब्दी भावना से) किस (फल) को सिद्ध किया जाये, किस (साधन) से निष्पन्न किया जाये, तथा किस प्रकार से सिद्ध किया जाये । इन (तीनों) में से साध्य के विषय में आकांक्षा होने पर आगे कही जाने वाली तीनों अंशों से युक्त आर्थी भावना साध्य के रूप में अन्वित होती है, क्योंकि एक ही (त) प्रत्यय से ज्ञात होने के कारण एक ही अभिधान से (शाब्दी भावना के साथ ही आर्थी भावना का भी) ग्रहण हो जाता है । संख्या आदि का भी एक (त) प्रत्यय से ही ज्ञान होने पर भी अयोग्य होने से—(साध्य के रूप में आकांक्षा की पूर्ति में अक्षम अथवा अविवक्षित होने से) उनकी साध्य के रूप में संगति नहीं बैठती । साधन की आकांक्षा होने पर लिङ् आदि का ज्ञान साधकतम साधन के रूप में अन्वित होता है । उस (लिङ् आदि के

१. प्रतिपादिका टीका पृ० १९.

ज्ञान की) करणता इसलिये नहीं है कि उससे भावना की उत्पत्ति होती है क्योंकि उस (लिङ् आदि का ज्ञान होने से) पहले भी भावना शब्द में रहती ही है। अपितु (लिङ् आदि का ज्ञान) भावना के ज्ञापक के रूप में अथवा शाब्दी भावना के साध्य के साधक के रूप में (करण होता है।) इति कर्त्तव्यता (अर्थात् व्यापार को कैसे किया जाये) को जानने की इच्छा होने पर अर्थवाद से ज्ञाप्य प्रशस्तता (अथवा निन्दितता) इतिकर्त्तव्यता के रूप में अन्वित होती है।

सा च निरुक्ता शब्दभावना साध्याद्यंशत्रयापेक्षा तादृशांशत्रयवती भवतीत्याह—सा चेत्यादिना। साध्याकाङ्क्षामभिनयति—किमित्यादिना।

तत्रेति। साध्यादिभावनांशेऽपीत्यर्थः। वक्ष्यमाणेति। वक्ष्यमाणा या स्वर्गादिरूपसाध्याद्यंशत्रयोपेतेत्यर्थः। एकप्रत्ययगम्यत्वेन समानाभिधानश्रुतेरिति। अर्थभावनाया एव शब्दभावनासाध्यत्वमनयोरेकलिङादिप्रत्ययगम्यत्वेनैकलिङादिप्रत्ययशब्दात्मिकायाः समानाभिधानश्रुतेः सत्वादित्यर्थः। एतेन यागादेः साध्यत्वाशङ्का निरस्ता, तस्यैकपदादिश्रुतिगम्यत्वेनैकप्रत्ययरूपसमानाभिधानश्रुत्यगम्यत्वात्। शब्दार्थभावनयोस्त्वेकाभिधानश्रुतिगम्यत्वेन संनिकृष्टयोर्भवति विवक्षितः संबन्ध इति द्रष्टव्यम्। ननु संख्यादीनामपि शब्दभावनाभाव्यत्वं स्यात्तेषामप्येकप्रत्ययगम्यत्वेन समानाभिधानश्रुतेरविशेषादितिचोद्यमुद्भाव्य परिहरति—संख्यादीनामित्यादिना। आदिना कालादिपरिग्रहः। संख्यादीनां साध्यत्वेनान्वयाभावे हेतुमाह—अयोग्यत्वादिति। अपुरुषार्थत्वेन च तत्साधनशून्यत्वेन संख्यादीनां साध्यत्वयोग्यतानाश्रयत्वादित्यर्थः। शब्दभावनाया भाव्यसाकाङ्क्षत्वाद्भाव्यान्तरस्य चादर्शनादर्थभावनायाश्च विधिप्रयोज्यत्वात्पुरुषार्थानुबन्धित्वाच्च तस्या एव समानाभिधानश्रुतेः शब्दभावनाभाव्यत्वमिति समुदायतात्पर्यम्। तदेवमर्थभावनायाः पुरुषार्थहेतुतया शब्दभावनाभाव्यत्वमुक्तम्।

तत्र च करणाकाङ्क्षायां करणान्तरस्यादर्शनात्करणांशं लिङादिविधिशब्दज्ञानमेवाह—साधनेत्यादिना। यद्वा, लिङादिशब्दव्यापारस्य सर्वदा पुरुषप्रवृत्तिजनकत्वं किं न स्यादित्याशङ्क्य करणरूपसहकार्यभावान्नैवमित्याशयेनाह—साधनेत्यादिना। अत एव ग्रन्थकारेणाप्युक्तं भावना ज्ञापकत्वेनेति। स्वज्ञानस्यैव स्वज्ञापकत्वम्। लिङादीत्यादिना लेट्लोटादिपरिग्रहः। तथा च लिङादिज्ञानं शब्दभावनायां करणत्वेनैवान्वयं लभते, न तु शब्दभावनाकरणत्वेनापि कल्पनायां गौरवप्रसङ्गात्। ज्ञानस्य पुरुषनिष्ठत्वेन शब्दनिष्ठत्वाभावाच्छब्दभावनात्वासंभवप्रसङ्गाज्ज्ञानस्य तृतीयक्षणवृत्तिध्वंसप्रतियोगित्वेन शब्दभावनाया नित्यत्वव्याघातप्रसङ्गाच्च। शब्दभावना तु निरुक्त एव व्यापारविशेष इति भावः। लिङादिज्ञानमित्यत्र लिङादिधर्मस्य भावनारूपस्य वा ज्ञानं विवक्षितम्। तदेव च शब्दभावनायाः करणांशम्। तथा चोक्तम्–लिङादिशब्दव्यापारः पुरुषप्रवृत्तिलक्षणार्थभावनालक्षणभाव्यनिष्ठः स्वज्ञानकरणक इति द्रष्टव्यम्। ज्ञापकत्वमत्र प्रकाशकत्वमेव, तथा च तादृशधर्मज्ञाने सत्येव पुरुषप्रवृत्तिदर्शनेन तस्य वक्ष्यमाणपुरुषप्रवृत्तिनिर्वर्तकत्वेन शब्दभावनाकरणत्वं नानुपपन्नमिति भावः। अन्ये त्वाहुः–विधिशब्दस्य पुरुषप्रवृत्तिरूपार्थभावनाज्ञानहेतुर्व्यापारस्तद्वाचकशक्तिमत्तया विधिशब्दज्ञानं स एव च तस्य प्रवृत्तिहेतुर्व्यापार इति प्रवर्तनाभिधानीयकं लभते, ज्ञानद्वारेणैव शब्दस्य प्रवृत्तिजनकत्वात्

ज्ञानजनकव्यापारातिरिक्तव्यापारकल्पने मानाभावात् । ज्ञानकरणकश्च व्यापारस्तस्य स्वज्ञानं शक्तिज्ञानं शक्तिविशिष्टस्वज्ञानं च । तत्राद्ययोरन्यतरस्य शब्दभावनात्वं तृतीयस्य तु तत्र करणत्वमिति विवेक इति । तस्य च लिङादिज्ञानस्य न शब्दभावनोत्पादकत्वेन तत्करणत्वं संभवति । तस्माल्लिङादिज्ञानात्पूर्वमपि तस्याः शब्दभावनायाः शब्दे विद्यमानत्वेन तदुत्पादकत्वासंभवादित्याह—तस्य चेत्यादिना । ननु कथं लिङादिज्ञानस्य भावनासाधकत्वेन तत्करणत्वं न स्वीक्रियते, चक्षुरादेस्तत्सं निकर्षस्य वा रूपादिज्ञानसाधकत्वेनैव तत्करणत्वदर्शनादिति चोदयति—किंत्विति । समाधत्ते—भावनेत्यादिना । यथा कुठारस्य छिदिक्रियाभाव्यद्वैधीभावनिर्वर्तकत्वेन छिदिभावनाकरणत्वं तथा लिङादिज्ञानस्य शब्दभावनाभाव्यार्थभावनानिर्वर्तकत्वेन शब्दभावनाकरणत्वमिति भावः । तथा चोक्तं कुठारादीनामपि छिदिक्रियाभाव्यद्वैधीभावनिर्वर्तनद्वारेण छिदिभावनाकरणत्वदर्शनादिति । किंच रूपादिज्ञानस्य चक्षुःसंनिकर्षादेः प्रागसत्त्वेन तस्य तत्साधकत्वेन तत्करणत्वं, शब्दभावनायास्तु प्रागपि सत्त्वेन लिङ्गादिज्ञानस्य तत्साधकत्वेन तत्करणत्वासंभवेऽपि तद्भाव्यार्थभावनानिर्वर्तकत्वेन तस्य शब्दभावनाकरणत्वं कुठारवदुपपद्यते । ननु कुठारस्य तु छिदिक्रियानिर्वर्तकत्वमपि भवतीति चेत्सत्यम् । दृष्टान्तस्तु यथा कुठारस्य छेदननिर्वर्तकत्वेऽपि तस्याफलत्वेन छिदिक्रियाभाव्यद्वैधीभावफलनिर्वर्तकत्वेनैव तत्करणत्वमिति द्रष्टव्यम् ।

ननु पुरुषो लिङादिज्ञानेन स्वप्रवृत्तिं भावयेदित्युक्ते सर्वेषामेव यागादौ प्रवृत्तिः किं न स्यादित्याशङ्क्य सर्वेषां प्राशस्त्यज्ञानाभावेन न सर्वेषां प्रवृत्त्यापत्तिः, किंतु यस्य पुरुषस्य कर्मप्राशस्त्यज्ञानं भवति तस्यैव तत्फलरागादिना तत्र प्रवृत्तिरित्याशयेनाह—इति कर्तव्यतेत्यादिना । कर्तव्यस्येतिप्रकार इतिकर्तव्यता, इतिशब्दस्य प्रकारवाचकत्वात् । प्रकारश्च सामान्यस्य भेदको विशेष इत्यर्थः । तथा च कर्तव्यसामान्यस्य भेदकः कर्तव्यविशेष एव प्राशस्त्यरूपः शब्दभावनायामितिकर्तव्यतात्वेनान्वयं लभते, तच्च कर्तव्यसामान्यं लिङादिज्ञानरूपं भावनाकारणमेव, करणगतप्रकाराकाङ्क्षापूरकस्येतिकर्तव्यतात्वात् । लिङादिज्ञानेन भावयेत्कथमित्याकाङ्क्षायां कर्मप्राशस्त्यविशिष्टेनेति प्रकारान्वयात् तस्य च प्राशस्त्यविशेषस्य ज्ञापकोऽर्थवादविशेष एवेति भावः । स चार्थवादः 'स प्रजापतिरात्मनोवपामुदखिद'-दित्यादिः, तं चार्थवादं चतुर्विधविभागेन निरूपयिष्यामोऽर्थवादनिर्णये ।

शाब्द्या विशेषविचारः

ननु किं नाम प्राशस्त्यं यच्छब्दभावनायामितिकर्तव्यतात्वेनान्वेतीति चेत् विधेयतावच्छेदकसामानाधिकरण्येन बलवदनिष्टाननुबन्धित्वे सति क्रियाजन्यदुः(सु)खापेक्षयाऽधिकेष्टजनकत्वं प्राशस्त्यं, तदेव च विध्यर्थवादेषु लक्ष्यते । निषेधार्थवादेषु तु निषेध्यतावच्छेदकसामानाधिकरण्येन क्रियाफलापेक्षयाधिकदुःखसाधनत्वमप्राशस्त्यं लक्ष्यत इति बोध्यम् । लक्षणा च सर्वत्र वाक्ये, लक्षणायां बाधकाभावादर्थवादस्थपदसमुदाये वैकस्मिन्नेव वा पदे भवन्तीतरपदानि तात्पर्यग्राहकाणीत्यनाग्रहः । तच्च प्राशस्त्यादिकमितिकर्तव्यतात्वसंबन्धेन शब्दभावनायामन्वेतीति बहवो वदन्ति । स्वरूपसंबन्धेन धात्वर्थादावेवान्वेतीति केचित् । वस्तुतस्तु प्राशस्त्यं स्वविषयकज्ञानजन्येष्टविषयकोत्कटरागजन्यत्वसंबन्धेन प्रवृत्तावन्वेति ।

अप्राशस्त्यमपि स्वविषयकज्ञानजन्यानिष्टविषयकोत्कटद्वेषप्रयोज्याभावप्रतियोगित्वसंबन्धेन प्रवृत्तावेवान्वेतीत्यन्यत्र विस्तरः। इत्थं च पुरुषप्रवृत्तिलक्षणार्थभावनाभाव्यको लिङादिज्ञानकरणकः स्वज्ञानकरणको वा स्तुतिनिन्दार्थवादबोधितप्राशस्त्यादीतिकर्तव्यताको लिङादिशब्दस्य व्यापारविशेषः शब्दभावना लिङादिशब्देन लिङ्त्वांशेनोच्यते। तत्र चार्थवादबोधितप्राशस्त्यादिनोपकारं संपाद्य लिङादिज्ञानेन पुरुषप्रवृत्तिलक्षणामर्थभावनां भावयेद्यागविषयप्रवृत्तिलक्षणां कुर्यादिति फलितम्।

पूर्व प्रकरणों में स्पष्ट हो चुका है कि शाब्दीभावना एक अभिप्राय, प्रवृत्ति या व्यापारविशेष है जिसके द्वारा कोई कार्य सम्पन्न होता है। यहाँ प्रश्न उठता है कि कौन वस्तु उत्पन्न की जाती है, अर्थात् प्रवृत्ति का साध्य क्या है? फिर प्रश्न उठता है कि उस साध्य को सिद्ध करने का साधन क्या है, उसे किससे सम्पन्न किया जा सकता है। तीसरा प्रश्न है कि उस साध्य को सिद्ध करने की रीति क्या होगी? इसको ही सामान्यतः साध्याकांक्षा, साधनाकांक्षा तथा इतिकर्त्तव्यताकांक्षा (या कथंभावाकांक्षा) कहते हैं और 'किं भावयेत्' 'केन भावयेत्' 'कथं भावयेत्' शब्दों में व्यक्त करते हैं। यही तीनों शाब्दीभावना के अंशत्रय हैं।

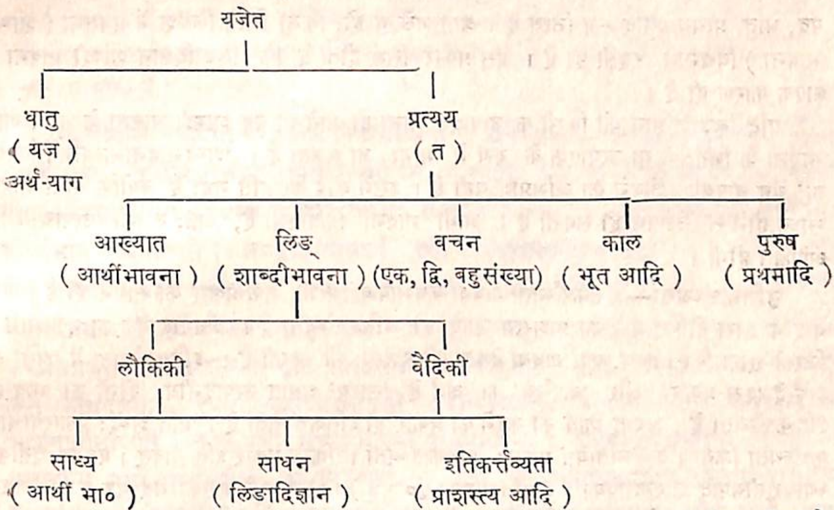
आर्थी भावना शाब्दीभावना का साध्य है। जिस प्रकार से शाब्दी के तीन अंश होते हैं वैसे ही उन्हीं शब्दों द्वारा वाच्य साध्य, साधन तथा इतिकर्त्तव्यतारूप तीन अंश आर्थी के भी होते हैं। ग्रन्थकार के अनुसार इन तीनों अंशों से युक्त आर्थी भावना शाब्दी का साध्य है। आर्थी भावना का स्वरूप और उसके भेद शाब्दी भावना के प्रसङ्ग के बाद ही निरूपित होंगे।

शाब्दी भावना का साध्य आर्थी भावना क्यों है इसका कारण ग्रन्थकार के अनुसार दोनों का एक ही प्रत्यय से बोध होना है। यह पहले ही निरूपित किया जा चुका है कि धातु में लगे एक ही 'त' प्रत्यय के आख्यात एवं लिङ् इन दोनों अंशों से क्रमशः आर्थी तथा शाब्दी भावनाओं का ज्ञान होता है। एक ही प्रत्यय से ज्ञात होने के कारण दोनों का एक ही अभिधान अर्थात् नाम से श्रवण, कथन अथवा ग्रहण होता है। एक ही अभिधान से दोनों के अभिहित होने से दोनों में काफी निकटता हो गयी। इसके अतिरिक्त धातु आदि का अर्थ प्रत्यय के अर्थ से अपेक्षाकृत दूर पड़ जाता है। समानाभिधान श्रुति का अर्थ है--समान अर्थात् एक ही या एक जैसी नाम वाली श्रुति--शब्द या शब्दखण्ड प्रत्यय आदि--ही है अभिधान जिनका। 'यजेत' का 'त' प्रत्यय भी वैदिक पद का अंश होने से श्रुति ही है, वही समानरूप से आख्यात वाच्य आर्थी तथा लिङ् वाच्य शाब्दी का बोधक है। वस्तुतः एक प्रत्ययगम्यता तथा समानाभिधान श्रुति यहाँ समानार्थक है। एक प्रत्ययगम्य होने से शाब्दी तथा आर्थी दोनों भावनाओं में अत्यन्त निकटता होने से शाब्दी भावना को साध्य की अपेक्षा होते ही निकटवर्तिनी आर्थी भावना प्राप्त हो जाती है।

यहाँ समानाभिधान श्रुति के साथ 'एकप्रत्ययगम्य' पद महत्त्वपूर्ण है। क्योंकि 'यजेत' एक पद है जिसमें यज् धातु तथा 'त' प्रत्यय दोनों समानरूप से संनिहित हैं। 'त' प्रत्यय से शाब्दी एवं आर्थी भावनायें ज्ञात होती हैं। एकप्रत्ययगम्य कहने से शाब्दी, आर्थी भावना आदि का ग्रहण होता है, किन्तु एकपदगम्य कहने पर यज् धातु का वाच्य याग भी शाब्दी भावना के उतना ही निकट हो जायेगा जितना कि आर्थी भावना। याग को अपेक्षाकृत दूर सिद्ध करने के लिये ही यहाँ 'एकप्रत्ययगम्य' पद का प्रयोग है न कि 'एकपदगम्य' का।

संख्या आदि का निराकरण—यहाँ पर शाब्दी तथा आर्थी भावना को एकप्रत्यय से गम्य कहा गया है, किन्तु वस्तुतः व्याकरण के नियमानुसार 'त' आदि प्रत्ययों से केवल इन दोनों का ही नहीं अपितु संख्या (वचन), काल (वर्तमान, भूत आदि), तथा पुरुष (उत्तम, मध्यम एवं अन्य या प्रथम) का भी बोध होता है। यथा--'गम्' धातु मात्र से इन सबका ज्ञान नहीं होता किन्तु 'तिप्' प्रत्यय विधि में लगाने से 'गच्छेत्' रूप बनेगा जिससे यह व्यक्त होगा कि—

एक (संख्या) प्राणी (प्रथम पुरुष) वर्तमानकाल में गमन क्रिया (आख्यात) करे (लङ्)। ऐसे ही 'गच्छेतम्' कहने से अन्य अर्थों के साथ तुम दोनों अर्थात् मध्यम पुरुष और द्विवचन का भी ज्ञान होगा। अब प्रश्न है कि एकप्रत्ययगम्य तो काल, वचन और पुरुष भी है, अतः केवल भावनाद्वय की ही समानाभिधान श्रुति नहीं है, उनका भी ग्रहण होना चाहिए।



इस प्रश्न का उत्तर यह कह कर दिया जाता है कि संख्या आदि साध्य बनने के अयोग्य हैं। इनकी अयोग्यता अनुत्पाद्यता है।[1] कहने का अभिप्राय यह है कि वस्तुयें सिद्ध तथा साध्य दो प्रकार की होती हैं। साध्य को सिद्ध किया जा सकता है, असिद्ध अर्थात् साध्य को सिद्ध करने में पुरुष का पुरुषार्थ—धर्मादि की उपलब्धि-निहित होता है, किन्तु सिद्ध वस्तु को साधना पिष्टपेषण मात्र है, निरर्थक है। पुरुष के द्वारा क्रिया साध्य होती है, संख्या आदि नहीं। यह तो पूर्वतः सिद्ध है। उदाहरण के लिये याग सम्पन्न होना है, उसमें क्रिया होती है। कितने व्यक्ति कब लगेंगे उसको सम्पन्न करने के लिये यह निश्चित हो जाता है तब क्रिया शुरू की जाती है। अतः यहाँ अनुत्पन्न होने के कारण क्रिया ही साध्य है, उत्पाद्य है, पुरुष, संख्या और समय पूर्वतः प्राप्त होने से सिद्ध होते हैं। जो स्वतः सिद्ध हैं वे सहायक हो सकते हैं, साध्य नहीं। यही इनकी अयोग्यता है, यही अनुत्पाद्यता और पुरुषार्थत्वहीनता है।

लिङ् आदि के ज्ञान की करणता—शाब्दी भावना के करण के रूप में लिङ् आदि का ज्ञान गृहीत होता है। यहाँ करण का अर्थ प्रकृष्ट कारण है। ग्रन्थकार के मतानुसार लिङ्ज्ञानरूप कारण शाब्दी भावना का उत्पादक न होकर मात्र ज्ञापक है। अर्थात् कारण सामान्यतः दो प्रकार के हो सकते हैं। प्रथम तो वह जिससे कोई वस्तु नये रूप में उत्पन्न की जाती है। इसको कारक या उत्पादक कारण कहते हैं, जैसे घटज्ञान के विषय में इन्द्रियार्थसन्निकर्ष, क्योंकि विना चक्षु इन्द्रिय तथा घट के संयोग के घटविषयक ज्ञान उत्पन्न ही नहीं हो सकता। इसी प्रकार दण्ड आदि घट के, कुठार आदि कटाई के कारण हैं। किन्तु अन्धकार में रखे घड़े का दीपक के सहयोग से प्रत्यक्ष होता है। दीपक को लाने से घड़ा उत्पन्न नहीं होता, अपितु पूर्वतः उपस्थित घड़ा ज्ञात हो जाता है। इस उदाहरण में दीपक घट का ज्ञापक कारण हुआ। जहाँ कार्य एवं कारण में उत्पाद्य एवं उत्पादक भाव होता है वहाँ कार्य पहले से विद्यमान नहीं रहता है, वह कारण से उत्पन्न होता है,

१. तयोः (संख्याकालयोः) अनुत्पाद्यत्वसम्भवात्—प्रातिपदिका पृ० २०

किन्तु ज्ञाप्यज्ञापक भाव होने पर कार्य पहले से विद्यमान रहता है, नये सिरे से उत्पन्न नहीं किया जाता, अपितु मात्र ज्ञात होता है।

लिङ् आदि का ज्ञान शाब्दी भावना का ज्ञापक कारण है न कि उत्पादक। यदि लिङज्ञान शाब्दी भावना का उत्पादक कारण होता तो वह लिङ् में पहले से विद्यमान रहती और लिङ् का ज्ञान होने पर ही उत्पन्न होती। किन्तु मीमांसकों के अनुसार वेद नित्य हैं, अतः इनके वाक्य, पद, धातु, प्रत्यय आदि सब नित्य हैं। ज्ञात भले न हो, किन्तु नित्य लिंडंश में प्रवर्तना (शाब्दी-भावना) विद्यमान रहती ही है। इस प्रकार सिद्ध होता है कि लिङादिज्ञान शाब्दी भावना का ज्ञापक कारण ही है।

यदि लिङादिज्ञान को किसी का उत्पादक माना ही जाये तो वह शाब्दी भावना के भाव्य आर्थी भावना के निर्वर्तक या उत्पादक के रूप में माना जा सकता है। 'शब्दभावनाभाव्यनिर्वर्तकत्वेन वा' यह वाक्यांश जोड़ने का अभिप्राय यही है। इसमें कोई असङ्गति नहीं है क्योंकि आर्थी भावना साध्य होने से उत्पाद्य हो सकती है। आर्थी भावना क्रियारूपा है, अतः उसकी उत्पाद्यता ही अपेक्षित होगी।

इतिकर्त्तव्यता—इतिकर्त्तव्यता अथवा कथंभावाकांक्षा भी एक प्रकार का साधन ही है। अर्थ-वाद के द्वारा बोधित कर्म का प्राशस्त्य आदि ही इतिकर्त्तव्यता है। अथवाद वेद का एक भाग है जिसके द्वारा किसी द्रव्य, कर्म अथवा देवता की प्रशंसा की जाती है। इतिकर्त्तव्यता में 'इति' का अर्थ है 'इस प्रकार' और 'कर्त्तव्य' का अर्थ है 'साध्य' अर्थात् उत्पादनीय, दोनों का भाव ही इतिकर्त्तव्यता है। अर्थात् कार्य को करने का प्रकार ही इतिकर्त्तव्यता है। 'इति शब्दः प्रकारवाची। कर्त्तव्यता क्रिया। कर्त्तव्यतायाः प्रकारः इतिकर्त्तव्यता। क्रिया प्रकार इति यावत्। एवमेव तृतीया-ध्यायतृतीयपादे शास्त्रदीपिका। (प्रतिपादिका पृ० २४)। साधन से इसका भेद यह है कि साधन सामान्य कारण का बोध कराता है और इतिकर्त्तव्यता साधन को और भी प्रभावशाली बनाने के लिये विशेषण जोड़ देती है। उदाहरणार्थ कहा गया है—'वायव्यं श्वेतमालभेत भूतिकामः'—'वैभव का इच्छुक वायुदेवता के लिये श्वेतपशु का आलम्भन करे।' यहाँ श्वेतपशुद्वारा वायुदेवता को प्रसन्न करना है। इस विषय में अर्थवाद वाक्य है 'वायुर्वै क्षेपिष्ठा देवता'—वायु शीघ्रकारी देवता है। इससे वायु का प्राशस्त्यगुण शीघ्रकारित्व व्यक्त होता है जिससे शीघ्र ही वैभव-प्राप्ति का ज्ञान होता है। इतिकर्त्तव्यता का वैशिष्ट्यसम्पादन इस प्रकार कहा गया है।—

लिङोऽभिधा सैव च शब्दभावना भाव्या च तस्यां पुरुषप्रवृत्तिः।
सम्बन्धबोधः करणं तदीयं प्ररोचना चाङ्गतयोपयुज्यते॥

यहाँ अभिधा शक्ति है, सम्बन्धबोध शक्तिज्ञान है तथा प्ररोचना है स्तुत्यर्थवाद जो अङ्ग के रूप में विधिशक्ति को उत्तम्भित करती है।

आर्थीभावनालक्षणम्

(८) प्रयोजनेच्छाजनितक्रियाविषयव्यापार आर्थीभावना, सा चाख्यातत्वांशेनोच्यते, आख्यातसामान्यस्य व्यापारवाचित्वात्।

आर्थीभावनाया अंशत्रयम्

(९) साप्यंशत्रयमपेक्षते—साध्यं साधनमितिकर्तव्यतां च, किं भावयेत्, केन भावयेत्, कथं भावयेदिति। तत्र साध्याकाङ्क्षायां स्वर्गादिफलं साध्यत्वेनान्वेति। साधनाकाङ्क्षायां यागादिः करणत्वेनान्वेति। इतिकर्तव्यताकाङ्क्षायां प्रयाजाद्यङ्गजातमितिकर्तव्यतात्वेनान्वेति।

(स्वर्ग आदि) उद्देश्य की इच्छा से होने वाली (याग आदि) क्रिया से सम्बद्ध व्यापार आर्थी भावना है। वह (प्रत्यय के) आख्यातत्व अंश से व्यक्त होती है क्योंकि सभी आख्यात व्यापार को ही प्रकट करते हैं। उसे (आर्थी भावना को) भी तीन अंशों साध्य, साधन और इतिकर्त्तव्यता (अर्थात्) किसकी भावना करे, किससे भावना करे और कैसे भावना करे—की अपेक्षा होती है। इनमें से साध्य की आकांक्षा होने पर स्वर्ग आदि फल साध्य के रूप में अन्वित होता है। साधन की आकांक्षा होने पर याग आदि करण के रूप में अन्वित होता है और इतिकर्त्तव्यता की आकांक्षा होने पर प्रयाज आदि अङ्गसमूह इतिकर्त्तव्यता के रूप में अन्वित होता है।

अर्थभावनां लक्षयति—प्रयोजनच्छेत्यादिना। प्रयोजनस्य स्वर्गादिरूपफलस्य येच्छा रागविशेषः 'फलेच्छा साधनमुपसंक्रामती'ति न्यायात् तेन च रागविशेषेण जनितो यो यागादिक्रियाविषयः पुरुषस्य व्यापारविशेषः सार्थीभावनेत्यर्थः। ननु कोऽयं व्यापारो नाम योऽर्थभावनात्वेनोच्यते। तावत्प्रयत्नमात्रं, रथो गच्छतीत्यत्राव्याप्त्यापत्तेः। स्पन्द इति चेत् 'देवदत्तो ग्रामं गच्छति', 'स्वर्गकामो यजेत', 'यागेन स्वर्गं कुर्या'दित्यादौ गमनाद्यनुकूलकृतावव्याप्तेः कृतेश्चेतनधर्मत्वेन तत्र स्पन्दत्वाभावात्, गच्छतीत्यादौ गमनं करोतीति करोतिप्रयोगदर्शनात् स्पन्दत इति स्पन्दसंयोगादर्शनात् स्पन्द इति स्पन्दिप्रयोगादर्शनाच्चेति चेत् केचिदत्राहुः—स्वर्गादिफलेच्छाजनितो यागादिक्रियाविषयः प्रयत्न एव सव्यापारोऽर्थभावनात्वेनोच्यते। न च रथो गच्छतीत्यत्राव्याप्त्यापत्तिः। रथवोढ़ृणामश्वानां प्रयत्नं रथे समारोप्य रथो गच्छतीति प्रयोगोपपत्तेः। येषां मतेऽन्योत्पादनानुकूलव्यापारसामान्यमेवार्थभावना तेषामपि रथे गमन-व्यतिरिक्तस्य व्यापारविशेषस्यानुपलब्धेः रथो गच्छतीति प्रयोगस्यौपचारिकत्वमन्तरेणानिर्वाहात्तस्य तत्त्वं स्वीकर्तव्यम्। स च प्रयत्न आख्यातसामान्येन कथ्यते, 'यजेत पचति गच्छती' त्याद्याख्यातश्रवणे प्रयत्नप्रतीतेः। यागेन कुर्यात्पाकं करोति गमनं करोतीति प्रयत्नार्थककरोतिना आख्यातस्य विवरणदर्शनात्प्रयत्न-एवाख्यातसामान्यस्यार्थो न स्पन्दादिः। प्रयत्नपूर्वकगमनादिकर्तरि गमनं करोति पाकं करोतीति प्रयत्नार्थककरोतिप्रयोगदर्शनात्। वायुवेगादिना स्पन्दमाने त्वयं वायुवेगादिना स्पन्दते न किंचित्करोतीति तत्प्रतिषेधदर्शनाच्चेति।

अन्ये त्वाचार्या आहुः—अन्योत्पादनानुकूलात्मा स व्यापारो योऽर्थभावनात्वेनोच्यते यस्मिन्व्यापारे कृते करणस्य फलोत्पादनसामर्थ्यं भवति तादृशो व्यापार इति यावत्। स एव च व्यापार आख्यातसामान्यस्यार्थः। 'यजेत स्वर्गकाम' इत्याख्यातश्रवणे हि यागेन तथा व्याप्रियेत यस्मिन्व्यापारे कृते यागः स्वर्गजननसमर्थो भवतीति बोधः। कुठारेण छिन्द्यादिति कुठारेण तथा व्याप्रियेत यस्मिन्व्यापारे कृते कुठारश्छेदनसमर्थो भवतीतिवत्। स च व्यापारोऽन्योत्पादनानुकूलत्वेन सामान्येन रूपेणाख्यातादेवावगम्यते पश्चात्तु कथंभावाकाङ्क्षायां विशेषरूपेण क्वचिदुद्यमननिपतनादिरूपेण क्वचित्त्वग्न्यन्वाधानादिब्राह्मण-तर्पणान्तप्रवृत्तिरूपेण चावगम्यते। न च रथो ग्रामं गच्छतीत्यत्राव्याप्तिः, अन्योत्पादनानुकूलव्यापारस्य रथे गमनव्यतिरिक्तस्याभावादिति वाच्यम्। रथस्तथागमनेन व्याप्रियते यस्मिन्व्यापारे कृते गमनेन ग्रामप्राप्तिर्भवतीति प्रतीतेः। कोऽसौ व्यापार इत्याकाङ्क्षायां पूर्वोत्तरावान्तरदेशविभजनसंयोजनरूप इति पश्चादवगम्यते। उद्यम्य निपात्य कुठारेण

छिनत्तीतिवत्पूर्वप्रदेशेन विभज्योत्तरप्रदेशेन च संयोगं लब्ध्वा रथो ग्रामं गच्छतीति प्रत्ययात्। न चात्र गमनमात्रमाख्यातार्थ इति वाच्यम्। 'अनन्यलभ्यो हि शब्दार्थ' इति न्यायात्तस्य धातुलभ्यत्वेनाख्यातार्थत्वायोगात्। एवं चैत्रः प्रयतत इत्यत्रापि चैत्रस्तथा व्याप्रियते यथा प्रयत्नो भवतीति प्रयत्नानुकूलव्यापार एवाख्यातस्यार्थो न तु प्रयत्न एव, प्रयत्नस्य धातुमात्रलभ्यत्वात्। कोऽसौ व्यापार इत्याकाङ्क्षायां पश्चाज्ज्ञानेच्छादिकमवगम्यते। न च रथो गच्छतीत्यादिप्रयोगस्यौपचारिकत्वं स्यादिति वाच्यम्, मुख्ये संभवत्यौपचारिकत्वस्यान्याय्यत्वात्। न च गच्छति गमनं करोति पचति पाकं करोतीति प्रयत्नार्थककरोतिनाख्यातस्य समानार्थकत्वदर्शनात्प्रयत्न एवाख्यातस्यार्थ इति वाच्यम्, चैत्रः प्रयतत इत्यादौ व्यभिचारेण प्रयत्नस्याख्यातार्थत्वासंभवात्, औपचारिकत्वस्य निरस्तत्वाच्च। करोत्यर्थोऽपि व्यापारविशेष एव न तु प्रयत्नः, चैत्रो गच्छति रथो गच्छतीति चेतनाचेतनकर्तृकाख्यातसमानार्थकस्य करोतेः प्रयत्नार्थकत्वासंभवात्, तस्मादन्योत्पादनानुकूलव्यापार एवाख्यातसामान्यस्यार्थ इति सिद्धमिति।

ननु प्रयोजनेच्छाजनितक्रियाविषयव्यापार इति मूलग्रन्थे स्वर्गादिप्रयोजनेच्छाजनितस्य यागादिविषयकव्यापारस्य प्रयत्नत्वमेव कल्प्यते, चेतनव्यापारत्वात्। ततश्च प्रयत्न एवाख्यातार्थ इति चेत्, सत्यम्। तथापि न सर्वत्र प्रयत्नार्थकत्वमाख्यातस्य संभवति रथो गच्छतीत्यादौ व्यभिचारस्य दर्शितत्वात्। तत्र यागादिविषयकपुरुषप्रयत्नादेरपि कृतिशब्दाभिधेयस्यान्योत्पादनानुकूलव्यापारत्वेनैव सामान्याकारेणाख्यातार्थत्वं न तु विशेषरूपेण, विशेषरूपेण तु पश्चादवगमो भवति कोऽसौ व्यापार इति वीक्षायाम्। तस्मात् सर्वत्रान्योत्पादनानुकूलव्यापारसामान्यमेवाख्यातार्थ इति सिद्धम्।

किंच यागादिकरणेन धात्वर्थेन स्वसाधनद्रव्यादिनिष्पादितेन स्वर्गादिफलोत्पत्तौ येयमनुकूलव्यापारस्वरूपा कृतिशब्दाभिधेया फलोत्पादनाऽऽर्थीभावना सेयं न यज्यादिधातूनामन्यतमेन केनचिदप्यभिधीयते, सर्वधात्वर्थानुगतरूपत्वात्। नापि धात्वर्थसामान्यमेव सा। प्रतिधात्वर्थविलक्षणत्वात्। तथा हि—'स्वर्गकामो यजेते'त्यत्र यागेन स्वर्गं भावयेदिति बोधः। तत्र च यागविषयकव्यापारस्य स्वर्गं प्रति विलक्षणमानुकूल्यं भवति। ओदनकामः पचेदित्यत्र च पाकेनौदनं भावयेदिति बोधः। पाकव्यापारस्य चौदनं प्रति विलक्षणमेवानुकूल्यम्। नैरोग्यकामो भेषजपानं कुर्यादित्यत्र भेषजपानेन नैरोग्यं कुर्यादिति बोधः। भेषजपानव्यापारस्य च नैरोग्यं प्रति विलक्षणमेव चानुकूल्यं भवति। तथा च विलक्षणानुकूल्यविशिष्टस्य व्यापारविशेषस्य प्रतिधात्वर्थविलक्षणरूपत्वमेव। अन्यथा फलविभागानुपपत्तिः स्यात्। ततश्च भावनात्वसामान्यं तु भिन्नासु भावनाव्यक्तिष्वनुवर्ततां नाम, नैतावता प्रकृत्यर्थसामान्यं भावना। तस्माद्यज्यादिधात्वर्थाद्विशेषरूपात्सामान्यरूपाच्च भिन्नैवाख्यातप्रत्ययसामान्यार्थभूताऽऽर्थीभावना। ततश्च सा तेनैवोच्यत इत्याशयेनाह—सा चाख्यातत्वांशेनोच्यत इति। तत्र हेतुमाह—आख्यातेत्यादिना। व्यापारवाचित्वादिति। अन्योत्पादनानुकूलव्यापारसामान्यवाचित्वादित्यर्थः।

सा निरुक्तार्थीभावना व्यापारविशेषात्मिका व्यापारविशेषाणां च छिदिभावनारूपव्यापारस्य द्वैधीभावरूपफलादिस्वापेक्षत्ववत्फलादिसापेक्षत्वाद्व्याद्यंशत्रयमपेक्षत इत्याशयेनाह—

साध्यंशत्रयमपेक्षत इति । अपेक्षामभिनयति—किं भावयेदित्यादिना । तत्रेति । साध्यादीनां भावनांशानां त्रयाणां मध्य इत्यर्थः । तस्यां च भावनायां स्वर्गादिफलमेव पुरुषविशेषणमपि साध्यत्वेनान्वेति पुरुषार्थत्वान्नतु धात्वर्थः । समानपदोपात्तोऽप्यपुरुषार्थत्वात्तत्त्वेनान्वयं लभत इत्याह—स्वर्गादिफलमिति । किंच तस्यां पुनः फलभावनायां प्रत्ययवाच्यभूतायामेकपदोपात्तः प्रकृत्यर्थ एव करणत्वेनान्वेति संनिकृष्टत्वात्, न तु पदान्तरोपात्तं द्रव्यादि विप्रकृष्टत्वात् । न च साध्यरूपस्य प्रकृत्यर्थस्य कथं फलसाधकत्वमिति वाच्यम्, द्रव्यादिस्वसाधननिष्पादितस्य साध्यस्यापि प्रकृत्यर्थस्य फलं साधयितुं शक्यत्वादित्युक्तमेवेत्याशयेनाह—यागादिः करणत्वेनान्वेतीति । किंच कुठारेण छिनत्तीत्यादौ कथमिति कथंभावाकाङ्क्षायामुद्यम्य निपात्येत्युद्यमननिपतनादेरितिकर्तव्यतात्वेनान्वयवद्यागेन स्वर्गं भावयेदित्यत्रापि कथमिति कथंभावाकाङ्क्षायामग्न्यन्वाधानप्रयाजावघातादिभिरुपकारं संपाद्येति प्रयाजाद्यङ्गजातमितिकर्तव्यतात्वेनान्वयं भजत इत्याशयवानाह—इतिकर्तव्यताकाङ्क्षायामित्यादिना । कथंभावाकाङ्क्षापूरकत्वमितिकर्तव्यतात्वम् । निरुक्तो वेतिकर्तव्यताशब्दार्थो बोधः । भवति च प्रयाजादिषु लक्षणसमन्वयो यागेन स्वर्गं कुर्यादिति । ततः कथमिति कथंभावाकाङ्क्षायां प्रयाजादिभिरुपकारं संपाद्येति कथंभावाकाङ्क्षापूरणात्, कर्तव्यसामान्यस्य यागादिरूपस्य भेदकविशेषरूपत्वाच्च । तच्च प्रकरणप्रमाणनिरूपणावसरे प्रदर्शयिष्यामः । तथा च 'यजेत स्वर्गकाम' इत्यत्राग्न्यन्वाधानावघातप्रयाजादिभिरुपकारं संपाद्य यागेन स्वर्गं भावयेत् । स्वर्गं कुर्यादिति वाक्यार्थः । यथौदनकामः पचेदित्यत्र लिङा भावनाभिधीयते, तत्र च किं भावयेत् कथं भावयेदिति भाव्याद्याकाङ्क्षायां तृणफूत्कारादिभिरुपकारं संपाद्य पाकेन तेजःसंयोगलक्षणेनौदनं भावयेदोदनं कुर्यादिति भाव्याद्यन्वयेन वाक्यार्थः संपद्यते तद्वदिति ।

ननु पूर्वं साध्यस्यापि यागादेः स्वसाधननिष्पादितस्य सतोऽपूर्वनिष्पादकत्वं संभवति तद्द्वारेण च विनश्वरस्याप्यचिरं स्वर्गसाधनत्वमितरस्य संभवतीत्युक्तम् । तच्च यागेन कथमुत्पाद्यते तत्र वक्तव्यं—यागेन स्वर्गं कुर्यादिति तावत्फलवाक्येन यागस्य फलसाधनत्वं बोध्यते । तत्र च कथं विनश्वरेण स्वर्गः कर्तव्यस्तस्य कालान्तरभावित्वादित्याकाङ्क्षायामपूर्वं निष्पाद्येत्युच्यते । पुनः कथमपूर्वं निष्पादनीयमित्याकाङ्क्षायां प्राच्योदीच्याङ्गविशिष्टस्य यागस्यानुष्ठानप्रकारेणेत्युच्यते । तच्चापूर्वं दर्शपूर्णमासयोरनेकविधं—फलापूर्वं समुदायापूर्वमुत्पत्त्यपूर्वमङ्गापूर्वं चेति । तत्र येन स्वर्गः क्रियते तत् फलापूर्वमित्युच्यते फलजनकत्वात्, तच्च समुदायापूर्वेण जन्यते । समुदायश्च द्विविधः—अमावास्यायां त्रयाणां यागानामेकः समुदायः, पौर्णमास्यां च त्रयाणां यागानामपरः समुदायश्च, ताभ्यां जन्यं यदपूर्वं तत्समुदायापूर्वमित्युच्यते । समुदाययोश्च भिन्नकालवर्तिनोः संहत्य फलापूर्वजननायोगात्तज्जननाय समुदायद्वयजन्यस्यापूर्वद्वयस्यावश्यं कल्पनीयत्वात् । अमावास्यायां समुदायस्तु 'ऐन्द्रं दध्यमावास्यायामैन्द्रं पयोऽमावास्याया'मिति वाक्यविहितौ सांनाय्ययागौ 'यदाग्नेयोऽष्टाकपाल' इति वाक्यविहित आग्नेयश्च तेषां त्रयाणां भवति । पौर्णमास्यां समुदायस्तु—'यदाग्नेयोऽष्टाकपालोऽमावास्यायां च पौर्णमास्यां चाच्युतो भवती'त्याग्नेययागो विहितः, 'ताभ्यामेतमग्नीषोमीयमेकादशकपालं पूर्णमासे प्रायच्छ'दित्यग्नीषोमीययागो विहितः । 'उपांशुयाजमन्तरा यजती'त्युपांशुयागः 'तावब्रूतामग्नीषोमावाज्यस्यैव तावुपांशुपौर्णमास्या'मिति

वाक्येन विहितः। तेषां त्रयाणां च भवति, तयोस्तु समुदाययोर्मध्य एकसमुदायवर्तिनां त्रयाणां यागानां भिन्नक्षणवर्तिनां संहत्य समुदायद्वयजन्ययोरपूर्वयोरेकापूर्वजननायोगात्तज्जननाय यागत्रयजन्यानि त्रीण्युत्पत्त्यपूर्वाणि कल्पनीयानि। तेषां चाङ्गोपकारमन्तरेणानुत्पत्तेरङ्गानां चानेकक्षणवर्तित्वेन संहत्योत्पत्त्यपूर्वारम्भायोगात्तदारम्भायाङ्गापूर्वाणि संनिपत्योपकारकादीनि कल्पनीयानि। तत्र चाऽयं विभागः। संनिपत्योपकारकाण्यवघातप्रोक्षणादीनि द्रव्यदेवतासंस्कारद्वारेण यागस्वरूपस्यैवातिशयजननेन यागोत्पत्त्यपूर्वोत्पत्तौ, तद्द्वारेण हि फलापूर्वे च व्याप्रियन्ते। संनिपत्योपकारकाङ्गापूर्वे यागोत्पत्त्यपूर्वस्य प्रयोजकत्वमिति केचित्। फलापूर्वस्यैव तादृशाङ्गापूर्वेऽपि प्रयोजकत्वं स्वीकर्तव्यम्, तस्यैव सर्वापूर्वप्रयोजकत्वे लाघवादित्यन्ये। आरादुपकारकाणि तु प्रयाजादीनि यागोत्पत्त्यपूर्वेभ्यः सकाशाज्जायमानं फलापूर्वमेव साक्षाज्जनयन्तीति। एवं प्रकारभेदेऽपि सर्वाण्यङ्गान्यपूर्वोत्पत्तावनुग्राहकाणीत्येकरूपेणैवेत्थंभावेन गृह्यन्ते। इत्थंभाव इतिकर्तव्यता चानर्थान्तरम्। तथा च प्रधानानामाग्नेयादीनां षण्णां स्वरूपेण सर्वाङ्गसाहित्याभावेऽपि स्वस्वोत्पत्त्यपूर्वद्वारेण सर्वाङ्गसाहित्यं तेषामङ्गानां, प्रयाजादीनामपि स्वरूपेण सर्वप्रधानसाहित्यासंभवेऽपि स्वस्वोत्पत्त्यपूर्वप्रधानसाहित्यं चोपपन्नम्। तच्च साहित्यं विहितमिति वक्ष्यते। एवं च यदेव प्रधानोत्पत्त्यपूर्वाणां प्रयाजाद्युत्पत्त्यपूर्वैः साहित्यं तदेव प्रधानानामङ्गवैशिष्ट्यरूपं साङ्गत्वमित्युच्यते। तस्मात्ताभ्यां समुदायापूर्वाभ्यामाग्नेयादिप्रधानोत्पत्त्यपूर्वत्रितयत्रितयजन्याभ्यां प्रयाजाद्यङ्गापूर्वसहिताभ्यां फलजनकीभूतं फलापूर्वापरनामकं महापूर्वं जन्यते, तेन च फलमिति यागस्यापूर्वद्वारेण फलसाधनत्वमुपपन्नतरं भवतीति सर्वं समञ्जसम्।

पर्यायत्वप्रसक्त्यैकस्यैव पदस्यैकापूर्ववाचकत्वम्। ननु 'दर्शपूर्णमासाभ्यां स्वर्गकामो यजेत, चित्रया यजेत पशुकामः, उद्भिदा यजेत पशुकामः, ज्योतिष्टोमेन स्वर्गकामो यजेते'त्यादिषु सर्ववाक्येषु कस्य पदस्यापूर्वप्रतिपादकत्वमिति वक्तव्यम्। न च भावनावाचकस्य यजतिददात्याख्यातान्तस्यापूर्ववाचकत्वं भवत्विति वाच्यम्, अपूर्वस्य साध्यत्वेन प्रधानत्वात्सर्वेषां पदानां प्रधानान्वयलाभाय तेषां सर्वेषामेव क्रियाकारकसंबन्धमनादृत्य प्रत्येकमपूर्ववाचकत्वात्, अन्यथा तेषां प्रधानान्वयित्वं न स्यादिति चेत्। अत्रोच्यते—अपूर्वस्यात्यन्तादृष्टरूपत्वादेकापूर्वकल्पनयैव वाक्यस्योपपत्तावनेकापूर्वकल्पनायां गौरवप्रसङ्गः स्यात्। सर्वेषां च पदानां तद्वाचकत्वे पर्यायत्वप्रसक्त्यैकस्यैव पदस्यैकापूर्ववाचकत्वं स्वीकर्तव्यं, पदान्तरं तु तद्गुणतयान्वेति, तच्चापूर्ववाचकं पदमाख्यातान्तमेव ननु कर्मनामधेयादिकं, तस्य भावार्थसामानाधिकरण्यादिनाप्युपपत्तेः।

ननु 'सोमेन यजेत', 'हिरण्यमात्रेयाय ददाति तस्मात्सुवर्णं हिरण्यंभार्य'मिति हि श्रुतम्। तत्र च सोमहिरण्यशब्दौ द्रव्यवाचकौ। सुवर्णशब्दस्तु शोभनवर्णरूपगुणवाचकः। तैरेव द्रव्यादिशब्दैरपूर्वमवगम्यते। द्रव्यादीनां सिद्धस्वरूपाणामेव साध्यापूर्वसाधनत्वादिति चेन्न। द्रव्यादिसिद्धस्वरूपाणां यागदानादिरूपभावार्थशेषत्वेनाप्युपपत्तेर्भावार्थस्यैवापूर्वसाधनत्वात्। क्रियां विना द्रव्यादीनां न फलसाधनत्वं संभवति, पचिक्रियामन्तरेण काष्ठस्थाल्यादीनामोदनसाधनत्वादर्शनादित्युक्तमेव। तस्माद्भावनावाचकस्यैवाख्यातान्तपदस्यापूर्वगमकत्वं न द्रव्यादिपदस्येति सिद्धम्।

नन्वेवं भवतु भावनावाचकस्याख्यातपदस्यापूर्वगमकत्वं, भवतु च भावनयाख्यातसामान्यार्थः, तथापि 'सोमेन यजेत, हिरण्यमात्रेयाय ददाति, दाक्षिणानि जुहोती'त्यादिषु वाक्येषु भावनावाचकस्याख्यातस्यैकत्वाद्भावनाया अप्येकत्वं युक्तम्। न च धातुभेदाद्भावनाया भेद इति वाच्यम्। धातोर्भावनावाचकत्वाभावात्तस्य तद्भेदाप्रयोजकत्वादिति चेत्, अत्राभिधीयते-अस्तु तावदाख्यातस्यैव भावनावाचकत्वं तच्चाख्यातं न प्रतिधातुव्यक्त्येकव्यक्तिरूपं भवति। न हि सर्वासां धातुव्यक्तीनामुपर्येकाख्यातप्रत्ययव्यक्तिः श्रूयते। व्याकरणेनापि न धातुसमूहादेकाख्यातव्यक्तिर्विहिता, तस्माद्बहूनामाख्यातव्यक्तीनामेकैकधातुविशेषानुषक्तत्वेनोत्पन्नानां भावनावाचकत्वाद्यागदानहोमभावनाः परस्परं भिद्यन्त इति भावनाभेदे तत्करणस्यापि भावार्थस्यापर्यायशब्दान्तराद्भेदः स्पष्ट एवेति सिद्धम्।

ननु 'समिधो यजति, तनूनपातं यजति, इडो यजति, बर्हिर्यजति, स्वाहाकारं यजती'ति दर्शादिप्रकरणे पञ्च प्रयाजाः श्रूयन्ते, तत्र च पञ्चकृत्वः श्रुते यजतिपदे यजतिददातिजुहोत्यादिषु पूर्वोक्तपदेष्विव धातुभेदाभावात्तदनुषक्ताख्यातस्याप्यभेद एव, ततश्चाख्यातैक्यप्रयुक्तभावनैक्यमपि दुर्वारमिति चेन्न। यजतिपदाभ्यासाद्भावनाभेदस्य स्वीकर्तव्यत्वात्। तस्मात्करणभेदः। अन्यथा कर्मैकत्वेऽभ्यासो निरर्थकः स्यात्। तस्मादविशेषपुनःश्रुतिरूपयजतिपदाभ्यासात्कर्मभेदः सिद्ध इत्यन्यत्र विस्तरः।

ननु 'तिस्र आहुतीर्जुहोती'त्यत्र जुहोतीत्याख्यातं 'समिधो यजती'त्यादिवन्नाभ्यासेनाम्नातं किंतु सकृदेव, ततश्च भावनैक्येन कर्मैक्यमेवेति चेत्, अत्र वक्तव्यम्--किमिदमाख्यातं पदान्तरान्वयनिरपेक्षस्वरूपं सदेव भावनैक्ये प्रमाणमुत पदान्तरान्वयसापेक्षस्वरूपम्? नाद्यः। पदमात्रस्य वाक्यांशरूपस्य स्मारकत्वेन वाक्यकार्यरूपप्रमितिजनकत्वासंभवात्। न द्वितीयः। त्रित्वसंख्यया विशेषितेनाख्यातेन कर्मबहुत्वावगमाद्भावनाबहुत्वावगमे तस्य भावनैक्ये प्रमाणत्वाभावात्। तस्मात् पदाभ्यासाभावेऽपि जुहोत्यर्थे होमे त्रित्वसंख्यान्वयात् परस्परं त्रयो होमा भिद्यन्त इति भावनानां त्रित्वमेवेति सिद्धम्।

ननु 'अथैष ज्योतिरथैष विश्वज्योतिरथैष सर्वज्योतिरेतेन सहस्रदक्षिणेन यजेते'त्यत्र हि प्रकृतं ज्योतिष्टोममेष ज्योतिरित्यादिनाऽनूद्य तस्मिन्सहस्रदक्षिणादानलक्षणो गुणो विधीयत इति नात्र कर्मभेदेन भावनाभेद इति चेन्न, प्रकृतस्य ज्योतिष्टोमस्याथेत्यनेन विच्छेदात्। ततश्च ज्योतिष्टोमप्रकरणे श्रूयमाणानामपि त्रयाणां यागानां ज्योतिष्टोमसंज्ञापेया पृथक्संज्ञात्रयकरणाज्ज्योतिष्टोमाद्भिन्नसंज्ञावशादेव त्रयाणां च परस्परं भेद इति भावनानां भिन्नत्वमिति सिद्धम।

ननु 'तप्ते पयसि दध्यानयति सा वैश्वदेव्यामिक्षा वाजिभ्यो वाजिन'मिति हि श्रूयते। तत्र च घनीभूतः पयःपिण्ड आमिक्षा। जलं वाजिनम्। तथा चामिक्षाद्रव्यभाजो ये विश्वेदेवास्तान्वाजिभ्य इत्यनेनानूद्य तत्र वाजिनद्रव्यरूपो गुणो विधीयते। वाजोऽन्नमामिक्षारूपमेषामस्तीति तदुत्पत्तेः। तच्च द्रव्यमामिक्षाद्रव्येण सह समुच्चीयतां विकल्प्यतां वेति चेत्। न। वैश्वदेवयागस्य पूर्वमेवामिक्षारूपगुणावरुद्धत्वेन तत्र वाजिनगुणस्य प्रवेशायोगात्। न हि व्रीहियवयोरिव वाजिनामिक्षयोर्विकल्पः। समशिष्टत्वाभावात्। आमिक्षारूपो गुणस्तु वैश्वदेवयागस्योत्पत्तिवाक्य एव शिष्यते विधीयत इत्युत्पत्तिशिष्टः। वाजिनगुणस्य तूत्पन्ने कर्मणि

विधिः कल्प्यत इत्युत्पन्नशिष्टः। उत्पत्तिशिष्टोत्पन्नशिष्टयोर्मध्य उत्पत्तिशिष्टः कर्मोत्पत्तिकाल एव तदङ्गत्वेन प्रमितत्वात् प्रबलः। उत्पन्नशिष्टस्तु तदनन्तरं प्रमितोऽपि विलम्बितत्वेन दुर्बलत्वात्तत्र प्रवेशमलभमानो वाजिशब्दार्थस्य देवतान्तरत्वमापाद्य तद्देवत्यकर्मान्तरे प्रविशति, तस्माद् द्रव्यदेवतालक्षणस्य रूपस्य भेदात्कर्मभेदेन भावनाया भेद इति सिद्धम्।

ननु 'उपसद्भिश्चरित्वा मासमग्निहोत्रं जुहोती' त्यत्र हि न कर्मान्तरभावनाया विधिः, किंतु नित्याग्निहोत्रमनूद्य तत्र मासरूपो गुणो विधीयते प्राप्तत्वादिति चेत्। न, वाक्यभेद-प्रसङ्गात्। तथा हि—किं तदनुवादेन मास एव विधीयते किमुतोपसदोऽपि? न प्रथमः। उपसदामपि नित्याग्निहोत्रेऽप्राप्तानां त्वन्मते विधेयत्वात्। नापि द्वितीयः। प्राप्ते कर्मणि मासोपसद्रूपानेकगुणविधाने वाक्यभेदस्य दुर्वारत्वात्। स चाष्टदोषदुष्टः। दोषांश्चोपरिष्टात् प्रदर्शयिष्यामः। तस्मादपूर्वकर्मविधायकात्कुण्डपायिनामयनरूपात्प्रकरणान्तरान्नित्याग्निहो-त्रधर्मकं तन्नामकं च कर्मान्तरमत्र विधीयत इति कर्मान्तरभावना सिद्धा। तथा च—शब्दान्तराभ्याससंख्यासंज्ञागुणभेदप्रकरणान्तरैः कर्मभेदोऽपि द्वितीयाध्यायस्यार्थो मूले भावना-प्रदर्शनेनैव सूचितो वेदितव्यः। अग्रे वोत्पत्तिविधिनिरूपणेन स ध्वनितोऽस्माभिस्त्वत्रैव निरूपितः। तस्मात् स्वर्गमुद्दिश्य तत्साधनत्वेन स्वर्गकामविधिर्यागादिकं विधत्ते। ततश्च तादृशवेदस्य धर्मादौ प्रामाण्यं निरवग्रहमुपपन्नमिति सर्वं निरवद्यम्।

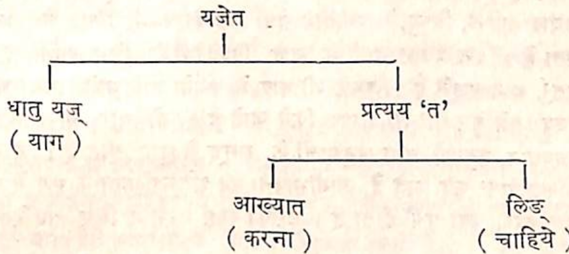
तस्य च वेदरूपप्रमाणस्य प्रमेयोऽर्थस्त्रिविध इति प्रसङ्गाच्चिन्त्यते—क्रत्वर्थः पुरुषार्थ उभयार्थश्चेति। तत्र प्रयाजादिः प्रोक्षणादिश्च केवलं क्रत्वर्थः। फलं यागादिरूपं तत्करणं च पुरुषार्थः, यथा स्वर्गादिर्दर्शपूर्णमासादिश्च। दध्यादि तूभयार्थं 'दध्ना जुहोती'ति फला-संयुक्तवाक्येन तस्य क्रत्वर्थत्वावगमात्, 'दध्नेन्द्रियकामस्य जुहुया'दिति फलसंयोगपरवाक्येन पुरुषार्थत्वावगमाच्च। एकस्य तूभयार्थत्वे विनियोजकप्रमाणभेदस्य नियामकत्वात्। तथा चोक्तम्—'एकस्य तूभयत्वे संयोगपृथक्त्व'मिति। किंच क्रत्वर्थे प्रयाजादौ क्रतुः प्रयोजकः, पुरुषार्थे च दर्शादौ फलं, प्रयोजकत्वं चानुष्ठापकत्वम्। तथा च विधिर्यदर्थं यदनुष्ठापयति स तत्र प्रयोजकः। यथा दर्शादिविधिः स्वर्गार्थं दर्शादिकमनुष्ठापयतीति स्वर्गादिर्दर्शादौ प्रयोजकः। यथा च प्रयाजादिविधिः प्रयाजादीन्दर्शाद्यर्थमनुष्ठापयतीति दर्शादिः प्रयाजादिषु प्रयोजको दध्यानयनविधिश्च दध्यानयनमामिक्षार्थमनुष्ठापयत्यामिक्षा दध्यानयने प्रयोजिका। वाजिनं तु दध्यानयनानुष्ठानेनामिक्षायां जायमानायामनुनिष्पाद्यमानत्वान्मधुररसस्य चामिक्षायामेव विशेषेणोपलभ्यमानत्वान्न दध्यानयने प्रयोजकमित्यादिका चतुर्थाध्यायार्थ-चिन्ता स्वयमूहितव्या।

शाब्दीभावना का विवेचन पहले किया जा चुका है। यहाँ स्पष्ट कर रहे हैं कि जिस प्रकार शाब्दी भावना को साध्य, साधन एवं इतिकर्त्तव्यता का ज्ञान अपेक्षित होता है, उसी प्रकार इसे भी।

यद्यपि 'भवितुर्भवनानुकूलः' आदि भावना के लक्षण से दोनों भावनाओं का निर्वचन हो जाता है, तथापि स्पष्टता के लिये आर्थी का भी लक्षण स्वतन्त्र रूप में दिया जा रहा है। शाब्दी भावना में भवित्री पुरुष की प्रवृत्ति होती है, भावक लिङ् आदि होता है और उसका व्यापार अभिधा के रूप में लिङादि में निष्ठ होता है। आर्थी भावना में भविता है स्वर्गादि, भावक है स्वर्गकाम आदि पुरुष और उसका व्यापारविशेष हैं यागादि-विषयक प्रवृत्ति अथवा कृतिविशेष। यह दोनों का भेद है। आर्थी भावना के लक्षण के दोनों अंश 'प्रयोजनेच्छाजनित' एवं 'क्रियाविषय' महत्त्व-

पूर्ण है। प्रथम अंश से स्वर्गादि लक्ष्य के प्रति अनुकूलता का ज्ञान होता है और द्वितीय अंश से यह भाव व्यक्त होता है कि आर्थी भावना का व्यापार याग आदि के रूप में नहीं होता है, अपितु वह याग आदि के अनुकूल प्रवृत्ति है।[1]

यहाँ मूल में प्रयुक्त 'आख्यातसामान्य' का अर्थ है 'आख्यातमात्र'। अर्थात् किसी भी क्रियापद के धातु, आख्यात एवं लिङ में से धात्वर्थ साधन का, आख्यात अंश क्रिया का तथा लिङ् करणीयत्व का वाचक है। क्रियापद में व्यापार का बोध केवल आख्यात से होता है। जैसे 'यजेत' में यज् धातु का अर्थ है याग, इसमें लगी 'त' प्रत्यय के आख्यात अंश का अर्थ है 'करना' और लिङ् का अर्थ है 'चाहिये'।



यह क्रिया-व्यापार ही आख्यात का प्राण है। इसके विना आख्यातत्व निरर्थक है। यथा—

'भावनैव हि यत्रात्मा सर्वाख्यातस्य गोचरः।' (श्लोकवा० वाक्या० ३३०)

साध्य के प्रसंग में 'स्वर्ग आदि फल' में 'आदि' का अर्थ यह है कि स्वर्ग ही एकमात्र फल नहीं है, अपितु विभिन्न व्यक्तियों के विभिन्न उद्देश्य हो सकते हैं जिनके बोधक विधिवाक्य वेदों में है। यथा—पुत्रकाम पुत्रेष्टि याग करेगा, पशुकाम उद्भिद् याग करेगा आदि।

साधन के प्रसङ्ग में यह प्रश्न हो सकता है कि यजधातुरूप प्रकृति का अर्थ होने से याग को ही एक पद में सन्निहित होने के कारण आख्यात का साध्य क्यों न मान लिया जाये, बाहर से स्वर्ग आदि को फल मानने की क्या आवश्यकता है। यहाँ यह उत्तर दिया जाता है कि याग आदि इष्ट नहीं हैं, अपितु उनके लिए वित्तव्यय, परिश्रम आदि कष्ट अपेक्षित होते हैं। अतः कष्ट को इष्ट नही कहा जा सकता, जब कि विधायक प्रत्यय को आनन्दप्रद स्वर्ग आदि ही इष्ट भाव्य के रूप में स्वीकार्य है। कर्तुरीप्सिततमं कर्म (पा० १।४।४९) के अनुसार ईप्सिततम ही कर्म होता है। कर्म ही साध्य होता है। कोई भी व्यक्ति आनन्दपूर्ण स्वर्ग आदि को कष्टसाध्य याग आदि की तुलना में अपना इष्ट मानेगा।[2] दूसरी बात यह है कि यदि स्वर्ग आदि को फल न माना गया तो वाक्य में उनका प्रयोग भी व्यर्थ हो जायेगा, अतः एक ही पद में उपस्थित होने से निकटता के कारण धात्वर्थ को साधन के रूप में स्वीकार किया जाता है। आचार्यों को इसी में लाघव की प्रतीति होती है—

भावनैव हि भाव्येन फलेनान्वेतुमर्हति।
धात्वर्थः करणं तस्यां लाघवात् सन्निकर्षतः॥

यागादि साधन स्वयं स्वर्गादि के साक्षात् साधन नहीं होते हैं, अपितु इनसे उत्पन्न 'अपूर्व' ही मृत्यु के पश्चात् स्वर्ग आदि की प्राप्ति कराता है।

---

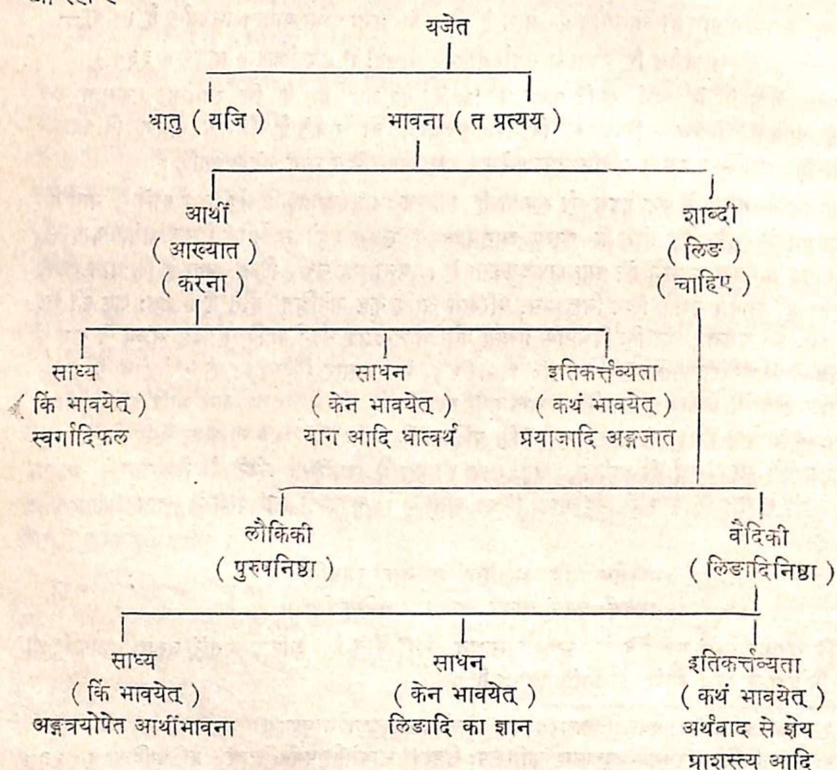
१. तथा च भवितुः स्वर्गादिफलस्य यत् भवनं तदनुकूलो भावकस्य स्वर्गादिकामस्य यो व्यापार-विशेषः यागादिक्रियाविषयकप्रवृत्त्याख्यकृतिरूपः सैवार्थी भावनेति पर्यवसितम्। प्रतिपादिका पृ० २३।

२. दुःसाध्यात्मकस्य यागस्य ईप्सिततमस्वरूपकर्मत्वायोगात्, स्वर्गस्य तु आनन्दात्मत्वेन ईप्सित-तमतया कर्मत्वेन अन्वययोग्यत्वात्। मीमांसापरिभाषा, प्रतिपादिका पृ० २४

प्रयाजाद्यङ्गजातमिति—प्रयाज आदि को आर्थीभावना की इतिकर्त्तव्यता कहा गया है। प्रयाज दर्शपूर्णमास याग के पूर्व किये जाने वाले यागों का समूह है जिसमें इडयाग, बर्हिष् याग, समिध् याग, तनूनपात याग तथा स्वाहाकार याग आते हैं। हवन किये जाने वाले द्रव्य, प्रसन्न किये जाने वाले देवता, प्रयुक्त होने वाले मन्त्र, आहुति की दिशा आदि का समूह प्रयाज आदि का अङ्ग होता है। उपकारक होने से ये सब इतिकर्त्तव्यता के रूप में स्वीकार्य होते हैं। इनमें से क्रिया की ही इतिकर्त्तव्यता मुख्य है, द्रव्यादि की गौण।[1]

प्रयाज तथा अनुयाज मीमांसा के प्रायः प्रयुक्त शब्द हैं। दर्शपूर्णमास नामक अङ्गी याग के क्रम में इनके मुख्य याग के पूर्व सम्पादित होने वाले वर्णित 'इड, समिध् आदि पाँचों याग प्रयाज कहे जाते हैं। इनके बाद अग्नि, विष्णु, अग्नीषोम तथा इन्द्र-वैमृध—इन चार देवताओं से सम्बद्ध प्रमुख याग किया जाता है। इन प्रधान यागों के बाद विश्वेदेवों के लिए आहुति दी जाती है। इस कर्म को 'स्विष्टकृत' याग कहते हैं। इसके भी बाद में किये जाने वाले तीन याग अनुयाज कहलाते हैं जो पृषदाज्य 'जमे हुए घी' से सम्पन्न किये जाते हैं। जो याग आर्थीभावना के साधन हैं वे अग्न्यन्वाधान, अवघात, प्रयाजों तथा अनुयाजों के समूह से युक्त होते हैं। ये समस्त याग, जो सामूहिक रूप से 'अङ्गजात' कहे जाते हैं, आर्थीभावना की इतिकर्त्तव्यता के रूप में होते हैं।

भावना से सम्बद्ध प्रकरण यहाँ पूर्ण होता है। उसको स्पष्ट करने के लिए यह रेखाचित्र दिया जा रहा है—



१. इडो यजति, बर्हिर्यजति, समिधो यजति, तनूनपातं यजति, स्वाहाकारं यजतीत्येवं पञ्चाहुत्यात्मकमित्यर्थः। अङ्गजातमिति। एतेन अमुकद्रव्येण जुहोति, अमुकदेवतायै जुहोति, अमुक-

(१०) अथ को वेद इति चेत्। उच्यते—अपौरुषेयं वाक्यं वेदः। स च विधि-मन्त्र-नामधेय-निषेधार्थवादभेदात् पञ्चविधः।

यदि प्रश्न हो कि वेद क्या है? तो उत्तर है—(किसी भी दिव्य अथवा अदिव्य) पुरुष के द्वारा न रचे गये वाक्य वेद हैं। वह वेद विधि, मन्त्र, नामधेय, निषेध और अर्थवाद के भेद से पाँच प्रकार का है।

तदेवं सामान्यतः प्रयोजनवदर्थावबोधकत्वेन वेदस्य धर्मे प्रामाण्यं धर्मविधायकत्व-प्रदर्शनेन चोपपाद्येदानीं तस्य विध्यादिरूपविभागेन तत्र प्रामाण्यमुपपादयितुं तल्लक्षणं पृच्छति—अथेति। उत्तरं प्रतिजानीते—उच्यत इति। तत्र सामान्यलक्षणमाह—अपौरुषेयं वाक्यमिति। वेद इति लक्ष्यनिर्देशः तत्र भारतादावतिव्याप्तिवारणायापौरुषेय-मिति विशेषणम्। आत्मादौ तद्दोषवारणाय वाक्यमिति विशेष्यम्। प्रमाणान्तरेणार्थ-मुपलभ्य विनिर्मितत्वं पौरुषेयत्वं तद्भिन्नवाक्यत्वमिति फलितम्। ईश्वरो वेदमपि प्रमाणान्तरेणार्थमुपलभ्य विरचयति। तस्मात्कथं वेदस्य पौरुषेयाद्भिन्नत्वम्? न हि वेदं परमेश्वरस्तदर्थं प्रमाणान्तरेणोपलभ्य विरचयति। वेदाध्ययनं गुर्वध्ययनपूर्वकं वेदाध्ययन-त्वाद्वर्तमानवेदाध्ययनवदित्यनुमानेन वेदस्यापौरुषेयत्वसाधनात्। 'यः कल्पः स कल्पपूर्वक' इति न्यायेन संसारस्यानादित्वात्—परमेश्वरस्य च सर्वज्ञत्वात्परमेश्वरो गतकल्पीय वेदम-स्मिन्कल्पे स्मृत्वोपदिशतीत्येतावन्मात्रेणोपपत्तौ वेदपौरुषेयत्वस्यानौचित्याच्चेति भावः। वेदं विभजते—स चेत्यादिना।

'अथातो धर्मजिज्ञासा' सूत्र की व्याख्या के प्रसङ्ग में धर्म का लक्षण दिया गया था 'वेदप्रतिपाद्यः प्रयोजनवदर्थो धर्मः'। इनमें से प्रत्येक पद का औचित्य भी यथास्थान प्रतिपादित किया गया और पदकृत्य सम्पन्न हुआ। यहाँ प्रश्न हो रहा है कि आखिर वेद ही किसे कहते हैं। यहाँ से आगे पूरे अर्थसंग्रह में वेद तथा इसके विभागों का निरूपण है।

'अपौरुषेयं वाक्यं वेदः' यह वेद का लक्षण दिया गया है। अपौरुषेय तथा वाक्य दोनों पद महत्त्वपूर्ण हैं। अपौरुषेय कहने से पुरुषरचित महाभारत आदि वेद की कोटि में नहीं आते हैं, इनकी प्रामाणिकता वेदाश्रितता के कारण ही है। 'वाक्य' पद का ग्रहण न करने पर 'अपौरुषेयं वेदः' रह जाता और आत्मा आदि तत्त्व जो पुरुषरचित नहीं हैं, वे भी वेद हो जाते। इस प्रकार इन दोनों पदों के प्रयोग से लक्षण में अतिव्याप्ति दोष नहीं आने पाता।

मीमांसक शब्दनित्यतावादी हैं। इनके अनुसार गकार आदि किसी भी वर्ण का उच्चारण करने पर यह वही वर्ण है, इस प्रकार का अनुभव होता है। यह अनुभववाक्य ही गकार की पूर्वस्थिति को सिद्ध करता है। 'मीमांसासूत्र' के प्रथम अध्याय के प्रथम पाद के "नित्यस्तु स्याद्" (१।१।१८) इस सूत्र से शब्द की नित्यता सिद्ध की गई है। इसी प्रकार 'मीमांसासूत्र' के प्रथम अध्याय प्रथम पाद के 'आख्याप्रवचनात्' (१।१।३०) इस सूत्र के द्वारा सिद्ध किया गया है कि वेद के भागविशेष की कठ आदि संज्ञा उन-उन शाखाओं के उत्कृष्ट उपदेशक ऋषियों के नाम के कारण है। 'प्रजापतिर्वा इदमेक आसीत् स तपोऽतप्यत तस्मात्तेपानात् त्रयोदेवा असृज्यन्त अग्निर्वायुरादित्यः। ते तपोऽतप्यन्त तेभ्यस्तेपानेभ्यः त्रयो वेदा असृज्यन्त अग्नेर्ऋग्वेदो वायोर्यजुर्वेद आदित्यात् सामवेद इति तथा अस्य महतो भूतस्य निश्वसितमेतदृग्वेदो यजुर्वेदः सामवेदः" (बृ० उ० २।४।१०) आदि श्रुतिवाक्य तथा—

मन्त्रेण जुहोति, प्राङ्मुखो जुहोतीत्यादि श्रुतिबोधिताग्निप्रक्षेप-द्रव्य-देवता-मन्त्र-प्राङ्मुखत्वाद्यङ्ग-मात्रस्य इतिकर्त्तव्यतात्वमुपकारत्वञ्च सिध्यति। तत्र क्रियाया एव इतिकर्त्तव्यतात्वं मुख्यं द्रव्यादेस्तु लाक्षणिकं क्रियासम्बन्धात्। प्रतिपादिका पृ० २४-२५।

स्वयम्भुरेष भगवान् वेदो गीतस्त्वया पुरा।
शिवाद्या ऋषिपर्य्यन्ताः स्मर्तारोऽस्य न कारकाः॥

आदि स्मृति वाक्य मीमांसकों के अनुसार केवल इस तथ्य के प्रतिपादक हैं कि ईश्वर आदि ने पूर्वकालिक वेदों का केवल स्मरण किया है, उनको रचा नहीं है और उनका उच्चारण ऐसे अनायास ढंग से किया जैसे कि श्वास लेने में कोई प्रयास नहीं करना पड़ता। इस तथ्य की पुष्टि में स्मृति[1] तथा पुराण[2] के वाक्य उद्धृत किये जाते हैं। वेद के औरुपेयत्व के विषय में शाब्दीभावना के प्रसङ्ग में 'वैदिकवाक्ये तु पुरुषाभावात्' की व्याख्या में पर्याप्त लिखा जा चुका है।

स च विधिमन्त्र—विभिन्न दृष्टियों से वैदिक मन्त्रराशि का विभाजन किया गया है। सायण ने मन्त्र तथा व्याख्या भाग के आधार पर 'मन्त्रब्राह्मणयोर्वेदनामधेयम्' कह कर मन्त्र तथा ब्राह्मण रूप में वेदों को देखा, जब कि वेदव्यास जी ने अध्ययन तथा याग में सुकरता को लक्ष्य करके ऋग्, यजुष्, साम आदि विभाजन किया। यहाँ निरूपित किया जा रहा वेदों का पाँच विभाग 'मीमांसासूत्र' के प्रथम अध्याय के आधार पर है जहाँ वेदों को विधि, अर्थवाद, मन्त्र तथा नामधेय इन चार भागों में विभाजित किया गया है। यद्यपि वहाँ निषेध स्वतन्त्र भाग नहीं है और वह विधि में ही निरूपित है तथापि यहाँ तथा अन्य अनेक मीमांसा के प्रकरण ग्रन्थों में रूप-भेद के कारण निषेध को एक अलग भाग के रूप में ही गृहीत किया गया है।

वस्तुतः वेदमन्त्रों का यह विभाजन उनकी यज्ञों में उपयोगिता के प्रकार पर आधारित है। मीमांसक वेद के किसी भी मन्त्र या मन्त्रांश को निरर्थक नहीं मानते, वे सबको क्रियार्थक ही मानते हैं और इसी में उनकी सार्थकता स्वीकार करते हैं। किन्तु सभी मन्त्र साक्षात् रूप में क्रियार्थक नहीं हैं और क्रिया भी एक जैसी ही नहीं है। कुछ मन्त्र विधान करते हैं कुछ निषेध, कुछ देवता, द्रव्य आदि का स्मरण कराकर ही कृतार्थ हो जाते हैं, कुछ नाम बतला कर तो कुछ प्राशस्त्य का बोध करा कर। मीमांसक इन सभी प्रकारों को मुख्य अथवा गौण रूप में क्रिया का प्रतिपादक ही मानते हैं। ये पाँचों विभाग और भी स्पष्ट रूप से समझ में आ जाते यदि कहा जाता कि वेद में जितने वाक्य हैं वे पाँच प्रकार से क्रिया-सिद्धि करते हैं, अतः उनको पाँच भागों में विभक्त किया जा सकता है। यहाँ इस भ्रम में नहीं पड़ना चाहिये कि वेद के भेद तो ऋग्, यजुष् आदि हैं, ये नये भेद कहाँ से आ गये। वस्तुतः ये वेद के भेद न होकर अंश हैं।

विधिविभागः

(११) तत्राज्ञातार्थज्ञापको वेदभागो विधिः। स च तादृशप्रयोजनवदर्थविधानेनार्थवान् यादृशं चार्थं प्रमाणान्तरेणाप्राप्तं विधत्ते—यथा 'अग्निहोत्रं जुहुयात्स्वर्गकाम' इति विधिर्मानान्तरेणाप्राप्तं स्वर्गप्रयोजनवद्धोमं विधत्ते, अग्निहोत्रहोमेन स्वर्गं भावयेदिति वाक्यार्थबोधः।

इन (पञ्चविध विभागों) में से (अन्य प्रमाणों से) अज्ञात इष्ट का ज्ञान कराने वाला वेद का अंश विधि है। वह (विधि) उस प्रकार के प्रयोजनवान् अर्थ का विधान करने से सार्थक है जिस प्रकार का विषय (उस के अतिरिक्त) किसी दूसरे प्रमाण से उक्त नहीं होता। जैसे 'अग्निहोत्रं जुहुयात् स्वर्गकामः' यह विधि दूसरे प्रमाण से अबोधित स्वर्गरूपी प्रयोजन

---

१. न कश्चित् वेदकर्त्ता च वेदस्मर्त्ता पितामहः। तथैव धर्मं स्मरति मनुः कल्पान्तरान्तरे॥ परा०स्मृ०
अनादि निधना ह्येषा वागुत्सृष्टा स्वयंभुवा। आदौ वेदमयी दिव्या यतः सर्गप्रवृत्तयः॥

२. अस्य वेदस्य सर्वज्ञः कल्पादौ परमेश्वरः। व्यञ्जकः केवलं विप्राः नैव कर्त्ता न संशय॥
मत्स्यपुराणम्

से युक्त होम का विधान करता है। 'अग्निहोत्र होम से स्वर्ग की भावना करे' यह अर्थ (उक्त वाक्य का) समझना चाहिये।

तत्र विधिं लक्षयति--तत्रेत्यादिना। तत्र पञ्चविधेषु वेदभागेषु मध्य इत्यर्थः। अज्ञातेति। अज्ञातस्य प्रयोजनवतोऽर्थस्य यागादिनामकस्य ज्ञापकत्वं विधित्वमित्यर्थः। तदेवाह--स चेत्यादिना। स विधिर्यादृशं प्रमाणान्तरेणाप्राप्तं भवति तादृशमर्थं विधत्ते, तेन चाज्ञातप्रयोजनवदर्थविधानेनार्थवानिति योजना। तत्रोदाहरणमाह--यथाग्निहोत्रमिति। गुणविधिस्तु मानान्तरेणाप्राप्तं गुणमात्रं विधत्ते।

यहाँ विधि के लक्षण में प्रयुक्त 'अज्ञात' एवं 'अर्थ' शब्द महत्त्व के हैं। 'अज्ञात' का अर्थ है प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान, अर्थापत्ति तथा अनुपलब्धि प्रमाणों से न जाने गये। अर्थात् विधिवाक्य से जिस विषय का ज्ञान होता है उसका ज्ञापक एकमात्र वही वेदवाक्य होता है, अन्यत्र कहीं उसका बोधक प्रमाण नहीं होता है, अतः सम्बद्ध विषय का ज्ञान चर्चित वेदवाक्य के अतिरिक्त किसी दूसरे वेदवाक्य से भी नहीं होता। इस प्रकार विधि-बोध्य विषय का ज्ञान जहाँ एक ओर किसी दूसरे प्रमाण से नहीं होता वहीं इससे पूर्व भी नहीं होता है। दोनों बातें लगभग समानार्थक हैं क्योंकि जब वाक्य-विशेष के अतिरिक्त विषय का बोधक कोई प्रमाण ही मान्य नहीं है, तब उस वाक्य तक पहुँचे बिना पहले इसका ज्ञान संभव हो कैसे होगा। इसी बात को ग्रन्थकार ने अगले वाक्य में समझाते हुये 'प्रमाणान्तरेण अप्राप्तम्' आदि शब्दों में व्यक्त किया है।

यहाँ 'अर्थ' पद का अभिप्राय केवल ऐसा ही विषय नहीं है जो श्येन आदि की भाँति अनिष्ट न हो, अपितु इसे 'प्रयोजनवान्' भी होना चाहिये। 'प्रयोजनवान् अर्थ' को ही धर्म पहले कहा जा चुका है, जिसमें विधि के वेदवाक्य होने से 'वेदप्रतिपाद्यत्व' भी आ जाता है। अभिप्राय यह हुआ कि विधिभाग धर्म का ही प्रतिपादक होता है।

उदाहरण के लिये 'अग्निहोत्रं जुहुयात् स्वर्गकामः' लिया गया है। इस वाक्य में स्वर्ग प्राप्ति को लक्ष्य करके अग्निहोत्र का विधान किया गया है। अग्निहोत्र ऐसा विषय है जो स्वर्ग के साधन के रूप में अन्य किसी प्रमाण से कथित नहीं है। पूर्वतः उसका ज्ञान नहीं हुआ है क्योंकि प्रत्यक्ष आदि अन्य प्रमाण इसके पूर्व अग्निहोत्र की सूचना नहीं देते। यह केवल वेदवाक्य से ही ज्ञेय है। यद्यपि याग आदि त्याग आदि के रूप में लौकिक प्रमाण प्रत्यक्ष आदि से भी सिद्ध होते हैं किन्तु स्वर्ग आदि इष्ट के साधन के रूप में इनका ज्ञान इदंप्रथमतया वेद से ही होता है।[1] वेदों से जान करके ही लोग व्यवहार में याग को स्वर्ग का साधन कहते हैं। अज्ञात अर्थ होने के साथ ही अग्निहोत्र प्रयोजनवान् भी है, क्योंकि इसका प्रयोजन 'स्वर्ग' है। इस प्रकार 'अग्निहोत्रं जुहुयात् स्वर्गकामः' यह एक विधि वाक्य है क्योंकि इसमें अग्निहोत्र का विधान है जो अज्ञात तथा प्रयोजनवान् अर्थ है। 'स च तादृश'-आदि से 'विधत्ते' तक वाक्य 'अज्ञातार्थ०' आदि की स्पष्ट व्याख्या है। विधि वाक्य के समस्त पदों के प्रतिपाद्य का सर्वांश में नहीं अपितु अज्ञात अंश का ही प्रतिपादन करता है।

'अग्निहोत्रहोमेन स्वर्गं भावयेत्' यह वाक्य 'अग्निहोत्रं जुहुयात् स्वर्गकामः' का मीमांसकों के अनुसार अर्थ है। इस अर्थरीति से यह व्यक्त होता है कि द्वितीया में रहने पर भी अग्निहोत्र तृतीयान्त रूप में साधन का बोधक है जिसका साध्य स्वर्ग है। इस प्रकार का अर्थ करने से साध्य, साधन आदि का ज्ञान सरलता से हो जाता है।

अग्निहोत्र दो यागों का नाम है जो प्रतिदिन प्रातः एवं सायं क्रमशः सूर्य तथा अग्नि को लक्ष्य

१. यागादेस्त्यागत्वादिप्रकारेण लौकिकप्रमाणसिद्धत्वेऽपि स्वर्गादिरूपेष्टसाधनत्वेन प्रागप्रतीतत्वात्। प्रतिपादिका पृ. २७।

कर सम्पादित किये जाते हैं। ये कर्म यावज्जीवन विहित हैं।[1] सामान्यतः शब्द को देखने से लगता है कि मात्र अग्नि में हवन ही अग्निहोत्र है।

(१२) यत्र कर्म मानान्तरेण प्राप्तं तत्र तदुद्देशेन गुणमात्रं विधत्ते—यथा 'दध्ना जुहोती'त्यत्र होमस्याग्निहोत्रं जुहुयादित्यनेन प्राप्तत्वाद्धोमोद्देशेन दधिमात्र-विधानं, 'दध्ना होमं भावयेदि'ति। यत्र तूभयमप्राप्तं तत्र विशिष्टं विधत्ते—यथा 'सोमेन यजेते'त्यत्र सोमयागयोरप्राप्तत्वात् सोमविशिष्टयागविधानम्। सोमपदे मत्वर्थलक्षणया सोमवता यागेनेष्टं भावयेदिति वाक्यार्थबोधः।

न चोभयविधाने वाक्यभेदः, प्रत्येकमुभयस्याविधानात्, किन्तु विशिष्टस्यैक-स्यैव† विधानात्।

जहाँ कर्म दूसरे प्रमाण से सिद्ध होता है वहाँ उसी (प्रमाणान्तर से प्रतिपादित) कर्म को लक्ष्य करके केवल गुण—अप्रधान अथवा अङ्ग—का विधान (विधिवाक्य) करता है। जैसे—'दध्ना जुहोति।'—दधि से होम करता है—इस (विधिवाक्य) से (निर्दिष्ट) होम की 'अग्निहोत्रं जुहुयात्' इस वाक्य से प्राप्ति होने के कारण होम को लक्ष्य करके (अङ्गभूत) दधिमात्र का विधान होता है, (और अर्थ होता है) 'दधि से होम की भावना करे'। जहाँ (अङ्गी तथा अङ्ग) दोनों प्राप्त नहीं होते हैं वहाँ (विधिवाक्य से) विशिष्ट का—गुण से युक्त कर्म का, दोनों का—विधान होता है। यथा 'सोमेन यजेत' इस वाक्य से सोम एवं याग दोनों के (प्रमाणान्तर से) प्राप्त न होने के कारण सोम से युक्त याग का विधान होता हैं। सोमपद में मत्वर्थ लक्षणा से 'सोमयुक्त याग के द्वारा इष्ट (स्वर्ग आदि) की प्राप्ति करे' यह वाक्य का अर्थ ज्ञात होता है। दोनों का विधान करने पर वाक्यभेद नामक दोष नहीं होगा, क्योंकि यहाँ दोनों का अलग-अलग विधान नहीं किया जा रहा है, अपितु विशिष्ट एक का ही विधान है।

प्रधानकर्मणस्तु मानान्तरेण प्राप्तस्यानुवाद एवेत्याह—यत्र कर्मेत्यादिना। उभय-मिति। शेषशेषिलक्षणमुभयमित्यर्थः। विशिष्टमिति। शेषविशिष्टं शेषिणमित्यर्थः। तत्रो-दाहरणमाह—यथा सोमेन यजेतेति। ननु सोमरूपस्यैव यागस्यात्र विधिरस्तु किं विशिष्ट-विधानेनेत्याशङ्क्य सोमस्य द्रव्यत्वेन यागत्वासंभवात् सोमपदे मत्वर्थलक्षणास्वीकारेण विशिष्टस्यैव विधेयुक्तत्वान्नैवमित्याह—सोमपदे इत्यादिना।

ननु शेषशेषिलक्षणस्योभयपदार्थस्य विधाने वाक्यभेदः स्यादेव। न च स इष्ट इति वाच्यम्। यत्र वाक्यभेदस्तत्राष्टदोषप्रसङ्गात्। तथा हि—'व्रीहिभिर्यजेत यवैर्वे'त्यत्र। तत्र च प्रथमप्रयोगे व्रीह्यनुष्ठाने यवशास्त्रप्रामाण्यस्य स्वार्थानुष्ठापकत्वरूपस्य परित्यागः। स्वार्थाननुष्ठापकत्वरूपस्याप्रामाण्यस्य च स्वीकारो भवति। ततो द्वितीयप्रयोगे यवानुष्ठाने तु पूर्वपरित्यक्तस्य यवशास्त्रप्रामाण्यस्य स्वीकारः, स्वीकृतस्य च तदप्रामाण्यस्य परित्यागश्चेति यवशास्त्रे चत्वारो दोषा भवन्ति। तथा प्रथमप्रयोगे यवानुष्ठाने व्रीहिशास्त्रप्रामाण्यस्य स्वार्थानुष्ठापकत्वलक्षणस्य परित्यागः। स्वार्थाननुष्ठापकत्वस्वरूपस्य चाप्रामाण्यस्य स्वीकारः। ततो द्वितीयप्रयोगे व्रीह्यनुष्ठाने तु व्रीहिशास्त्रप्रामाण्यस्य पूर्वं परित्यक्तस्य स्वीकारः स्वी-

---

१. अग्निसूर्यदेवताकस्य सायंप्रातःकालयोर्नियमेन अनुष्ठेयस्य कर्मणः अग्निहोत्रम् इति यौगिकं नामधेयम्। जैमिनिन्यायमालाविस्तर पृ० ४५, The Arthasamgraha पृ० ९८ से उद्धृत।

† विशिष्टस्यैव-पाठा०।

कृतस्य च तदप्रामाण्यस्य परित्यागश्चेति व्रीहिशास्त्रे चत्वारो दोषा भवन्तीत्यष्टदोषदुष्टो विकल्पो यथा व्रीहियववाक्ये प्रसिद्धस्तथाऽत्रापि स्यात्।

न च तद्वदत्रापीष्ट एवेति वाच्यम्। तत्र व्रीहियवयोः पुरोडाशरूपैककार्यकारित्वेन विकल्पस्येष्टत्वाद् गत्यन्तराभावाच्च। प्रकृते तु गुणविधिमात्रस्वीकारेणाप्युपपत्तौ नोभयविधिः साधुरित्याशङ्क्य परिहरति—न चेत्यादिना। यद्वा,—ननु यागेनेष्टं भावयेत्सोमेन च यागं भावयेदित्यावृत्त्योभयविधावावृत्तिलक्षणो वाक्यभेदः स्यात्। तदा तु युगपत्तन्त्रेण यागेनेष्टं भावयेत्सोमेन यागं भावयेदित्युभयविधानं तदा तु विरुद्धत्रिकद्वयप्रसङ्ग इत्याशङ्क्य परिहरति—न चेत्यादिना। एकवाक्यस्य प्रत्येकमुभयपदार्थे व्यापारभेदेनोभयविधायकत्वे वाक्यभेदो भवति तथाऽत्रास्वीकारादित्यर्थः। ननु विधेयस्योभयत्वे तद्विधायकवाक्यस्यापि व्यापारभेदेनैव तद्विधायकत्वं संभवति नान्यथेति शङ्कते—किन्त्विति। विशिष्टस्यैकरूपत्वेन विधेयस्योभयत्वासिद्धेर्न व्यापारभेदेन तद्विधानं ततश्च न वाक्यभेदप्रसङ्ग इति परिहरति—विशिष्टस्येति। विशिष्टविधौ विशेषणविधेरार्थिकत्वेन श्रूयमाणविधिना गुणस्य पृथगविधेयत्वादिति भावः।

'अग्निहोत्रं जुहुयात् स्वर्गकामः' वाक्य द्वारा प्रमाणान्तर से अप्राप्त अग्निहोत्र की स्वर्गसाधनता का विधान है। यहाँ कोई विवाद नहीं, किन्तु कुछ प्रसङ्ग ऐसे भी हैं जहाँ कर्म का उल्लेख दूसरे प्रमाण अथवा वाक्य से सम्पन्न रहता है। वहाँ कर्म की प्राप्ति होने से दूसरे तत्सम्बद्ध वाक्य में विधित्व कैसे सम्भव होगा, क्योंकि विधि तो पूर्ववर्ती नियम के अनुसार अज्ञात का ज्ञापक ही हो सकता है। ऐसी स्थिति में प्रधान कर्म के बोधक मुख्य विधिवाक्य से भिन्न वाक्य के द्वारा प्रधान कर्म रूप अर्थ नहीं, अपितु उसका सहायक (अङ्गरूप) गृहीत होता है। सहायक, अंग, शेष, तथा गुण सभी समानार्थक, हैं और प्रधान से भिन्न अप्रधान के वाचक है।

उदाहरणार्थ, 'दध्ना जुहोति' वाक्य को लिया जाता हैं। इस वाक्य से आये 'जुहोति' पद की 'हू' धातु से होमरूप अर्थ भी निकल रहा है, किन्तु इस होम की प्राप्ति इस वाक्य से न मानकर प्रधान कर्म बोधक 'अग्निहोत्रं जुहुयात्' वाक्य से ही विहित है। ऐसी दशा में होमरूप कर्म की प्राप्ति दूसरे वाक्य से होने के कारण 'दध्ना जुहोति' में विधित्व नहीं होना चाहिये। किन्तु सिद्धान्त पक्ष यह हैं कि जहाँ ऐसी स्थिति होती है वहाँ परवर्ती वाक्य से पूर्वोक्त प्रधान कर्म का ग्रहण न करके उससे सम्बद्ध किन्तु अज्ञात अङ्ग का ग्रहण किया जाता है। ये अङ्गभूत गौणकर्म प्रधान कर्म के सम्पादक होते हैं। इस प्रकार के वाक्यों का अर्थ 'दध्ना इष्टं भावयेत्' आदि नहीं लिया जाता हैं, ऐसा अर्थ तभी हो सकता है जब 'दधि' प्रधान साधन हो, किन्तु ऐसा है नहीं, अतः 'दधि' को पूर्वतः प्राप्त 'होम' का अङ्ग स्वीकार किया जायेगा, और अर्थ होगा 'दध्ना होमं भावयेत्' अर्थात् दधिरूप अङ्गद्रव्य से होमरूप प्रधानकर्म को सम्पन्न करना चाहिये।

यद्यपि अज्ञात प्रधानकर्म का बोधन 'दध्नाजुहोति' सदृश वाक्यों से नहीं होता, और उसका ज्ञापन दूसरे वाक्य से होता भी है, तथापि 'दध्ना०' आदि में विधित्व की हानि नहीं होती। इस प्रकार के वाक्यों से प्रधान अज्ञात कर्म का ज्ञापन न होने पर भी अज्ञात अङ्गों का तो ज्ञापन होता ही है, अतः अङ्गमात्र का ज्ञान नये सिरे से कराने पर भी इनमें अज्ञातज्ञापकत्व रहने से विधित्व रहता ही है।

ये उदाहरण हुए उन वाक्यों के जिनमें किसी से प्रधान कर्म का प्रथमतया ज्ञान होता है और किसी से अङ्ग का, किन्तु अब ऐसे वाक्य को उद्धृत किया जा रहा है जिससे प्रधान तथा अङ्ग, दोनों कर्मो का ज्ञापन एक साथ होता है। इस प्रकार के वाक्य से ज्ञाप्य अङ्गी एवं अङ्ग का ज्ञान इससे भिन्न किसी वाक्य से नहीं होता। यहाँ प्रधान तथा गौण कर्मों के बोधक पृथक्-पृथक् वाक्य नहीं

होते। अतः जिस वाक्य से प्रधान तथा गौण दोनों कर्मों का ज्ञान एक साथ विशेष्य एवं विशेषण के रूप में होता है, उसको विशिष्टविधि कहते हैं।

विशिष्टविधि—'सोमेन यजेत' वाक्य 'दध्ना जुहोति' के अत्यन्त समान प्रतीत होता है, किन्तु वेदों से प्राप्त परिस्थिति के अनुसार 'दध्ना जुहोति' एक ऐसे याग से सम्बद्ध है जिसकी प्राप्ति 'अग्निहोत्रं जुहुयात्' से होती है, किन्तु 'सोमेन यजेत' वाक्य किसी भी पूर्वतः प्राप्त कर्म से सम्बद्ध नहीं है, इसकी सहायक सामग्री का बोधक भी कोई पृथक् वाक्य नहीं हैं। परिणामतः इस वाक्य से प्रधान-कर्म याग तथा उसके सम्पादक द्रव्य दोनों का एक साथ ग्रहण हो रहा है। 'सोमेन यजेत' से ऐसे याग का ज्ञान होता है जिसको सोमपदार्थ से सम्पन्न होना है। इस वाक्य से गुण विशिष्ट यज्ञादि कर्म का विधान होने से इसको विशिष्टविधि कहा जाता है।

लक्षणा का ग्रहण—इस प्रकार इस वाक्य का अर्थ होगा 'सोमवता सोमविशिष्टेन वा यागेन इष्टं भावयेत्।' किन्तु यहाँ यह प्रश्न उपस्थित होता है कि 'सोम' पद से 'सोमवत्' अर्थ की प्रतीति कैसे हो सकती है? इसका स्पष्ट उत्तर है कि चूँकि वाक्य में सोमपद का अर्थ सोमनामक द्रव्य-विशेष अथवा सोमनामक याग ग्रहण अभिधा से करने पर प्रयोजन की सिद्धि नहीं होती, अभिधा से प्राप्त मुख्य अर्थ का बाध होने पर सङ्गति के लिए लक्षणा का अवलम्बन करना पड़ेगा। अतः लक्षणा के द्वारा सोमपद का अर्थ 'सोमवता' लेना पड़ेगा न कि 'सोमेन यागेन' अथवा 'सोमेन द्रव्येण'। इस प्रकार का अर्थग्रहण व्यवहार में देखा जाता है। उदाहरणार्थ, किसी स्थान पर उपद्रव होने पर बल्लम आदि शस्त्रों से युक्त आरक्षियों के उपस्थित होने पर लोग कहने लगते हैं, 'बच के रहना', देख नहीं रहे हो, भाले ही भाले चारों ओर आ रहे हैं' आदि। स्पष्ट है कि यहाँ 'भाला' का आगमन लौहवेष्टित दण्ड के आगमन का बोधक न होकर उनके धारक पुरुषों के भी आने का बोध कराता है। संस्कृत का बहुप्रयुक्त वाक्य 'कुन्ताः प्रविशन्ति' इसी प्रकार के भाव का बोधक है। जिस प्रकार 'कुन्ताः' पद 'कुन्त' से युक्त पुरुष का ज्ञापक है, उसी प्रकार 'सोमेन' भी 'सोमयुक्त याग' का बोधक होगा।

इस प्रकार की लक्षणा को अलङ्कारशास्त्र में 'उपादान लक्षणा' तथा दर्शन के ग्रन्थों में 'अजहत्स्वार्था' कहा जाता है, जिसमें शब्द के मूल अर्थ का परित्याग किये बिना सङ्गति के लिये कुछ अर्थ उसके बाहर से भी आक्षिप्त कर लिया जाता हैं। भास्कर इसको ही 'मत्वर्थलक्षणा' कहते हैं। इसका अर्थ है वह लक्षणा जिसमें युक्तता का अर्थ निहित है। 'मत्' अंश 'मतुप्' या ग्मतुप प्रत्यय का है जिसका प्रयोग 'युक्तता' के अर्थ में होता है।[1] इसमें मूलतः 'मत्' शेष रहता है, अन्य वर्णों का लोप हो जाता है। इसका योग होने पर बुद्धिमत्, युक्तिमत् आदि शब्द बनते हैं। चूडावान्, शिखावान्, मेधावान् आदि रूप मतुप्-प्रत्ययान्त ही हैं, जिनमें 'म' के स्थान पर 'व' आदेश हो गया है।[2] इस शब्द-शक्ति के द्वारा 'सोम' का अर्थ 'सोमवत्' सम्भव है। यद्यपि वैयाकरण 'सोम' पद में मत्वर्थीय अच्[3] प्रत्यय लगाकर 'सोमः' का अर्थ अभिधा से ही 'सोमवत्' ले सकते हैं, तथापि जाति को मुख्यार्थ मानने वाले मीमांसक यहाँ लक्षणा का ही आश्रय लेते हैं।

---

१. तद् अस्यास्ति, अस्मिन्, इति मतुप्॥ पा० ५।२।९४॥ यह तथा अन्य मत्वर्थीय प्रत्यय इन अर्थों में होते हैं—

भूम-निन्दा-प्रशंसासु नित्ययोगेऽतिशायिने।
संसर्गेऽस्तिविवक्षायां भवन्ति मतुबादयः॥

'सोमेन यजेत' में संसर्ग अर्थ में मत्वर्थलक्षणा अभीष्ट है।

२. यह आदेश 'माद् उपधायाश्च मतोर्वोऽयवाऽऽदिभ्यः। पा० ८।२।९॥ सूत्रसे होता है, जिसका अर्थ है कि यवादि के अतिरिक्त मवर्णान्त, अवर्णान्त तथा म एवं अ वर्णों की उपधा वाले शब्दों के बाद में लगने वाले मतुप् के मकार को वकार आदेश हो।

३. अर्श आदिभ्योऽच् (पा० ५।२।१२७) इस सूत्र से मतु-अर्थ में अच् प्रत्यय हो सकता है।

वाक्यभेद का अभाव—विशिष्टविधि 'सोमेन यजेत' से दो बातें प्रकट होती हैं—प्रथम यज्ञ दूसरा सोम नामक द्रव्य। इस प्रकार एक ही वाक्य से दो अर्थ प्रकट होने पर 'वाक्यभेद' नामक दोष की संभावना हो सकती है। किन्तु सिद्धान्तपक्ष यह है कि प्रस्तुत स्थल में वह दोष है नहीं, क्योकि वाक्यभेद में दो वाक्य एक साथ ही दो सर्वथा भिन्न वस्तुओं का विधान करते हैं। ऐसी अवस्था में दोनो वस्तुओं का एक साथ संयोजन संभव न होने से किसी एक का (विकल्प से) ग्रहण करना पड़ता है। यथा 'व्रीहिभिर्यजेत यवैर्वा' यह वाक्यभेद का स्पष्ट उदाहरण हैं। इस वाक्य से 'व्रीहिभिर्यजेत' और 'यवैर्यजेत' इस प्रकार से दो द्रव्यों 'व्रीहि' और 'यव' का अलग-अलग विधान होता है। इन दोनों द्रव्यों से एक साथ यज्ञ संभव नहीं हैं, अतः यह यज्ञकर्ता पर निर्भर करता है कि वह चाहे तो 'यव' का होम करे चाहे धान का। कर्त्ता की ऐच्छिकता ही विकल्प है।

वाक्यभेद से विकल्प होता हैं और विकल्प से आठ प्रकार के दोष होते हैं। दोष परिहार के लिए प्रयास होना चाहिये कि उनकी जड़ विकल्प ही न रहे। 'सोमेन यजेत' में वाक्यभेद नहीं है क्योंकि यहाँ याग और द्रव्य, इन दो विषयों का प्रतिपादन अलग-अलग नहीं हो रहा है, जब कि वाक्यभेद में दो स्वतन्त्र वस्तुओं का विधान दो वाक्यों द्वारा होता हैं। प्रस्तुत प्रकरण में याग और सोम द्रव्य दोनों स्वतन्त्र नहीं, अपितु सोम याग के आश्रित है, सोम विशेषण है और याग विशेष्य है। विशेष्य और विशेषण का योग ही विशिष्टत्व है जिसमें दोनों मिलकर एक होते हैं। इस विशिष्ट ऐक्य का संयोजन एक साथ किया जा सकता है। विकल्प का ग्रहण यहाँ अपेक्षित नहीं, विकल्प के अभाव में अष्टविध दोष भी नहीं होगा। वाक्यभेद में दोनों वैकल्पिक पदार्थों का (उभयस्य) स्वतन्त्र रूप में पृथक्-पृथक् (प्रत्येकम्) विधान होता है, किन्तु 'सोमेन यजेत' में ऐसा न होकर विशिष्ट का विधान है—सोमरूप विशेषण से युक्त यागरूप विशेष्य का विधान है।

(१३) न च 'ज्योतिष्टोमेन स्वर्गकामो यजेते'ति विधि† प्राप्तयागोद्देशेन सोमरूपगुणविधानमेवास्तु, सोमेन यागं भावयेदिति किं मत्वर्थलक्षणयेति वाच्यम्। तस्याधिकारविधित्वेनोत्पत्तिविधित्वासंभवात्।

ननु 'उद्भिदा यजेत पशुकाम' इत्यस्येव ज्योतिष्टोमेनेत्यस्याप्युत्पत्त्यधिकारविधित्वमस्त्विति चेत्, न। दृष्टान्ते उत्पत्तिवाक्यान्तराभावेनान्यथानुपपत्त्या तथात्वाश्रयणात्। किञ्च ज्योतिष्टोमेनेत्यस्योभयविधित्वेऽनेनैव यागस्तस्य‡ फलसंबन्धोऽपि बोधनीय इति सुदृढो वाक्यभेदः। तद्वरं सोमपदे मत्वर्थलक्षणया विशिष्टविधानम्।

'ज्योतिष्टोमेन स्वर्गकामो यजेत' इस विधिवाक्य से प्राप्त याग को लक्ष्य करके सोमरूप गुण का ही विधान मान्य हो, और ('सोमेन यजेत का अर्थ) 'सोम से याग को सम्पन्न करे' लिया जाये, मत्वर्थ लक्षणा से क्या लाभ ?' वह तर्क मान्य नहीं हैं, क्योंकि (ज्योतिष्टोमेन० आदि) के अधिकार विधि होने से उसमें उत्पत्ति-विधित्व की संभावना नहीं की जा सकती।

(यदि शङ्का की जाये कि जिस प्रकार 'उद्भिदा यजेत पशुकामः'—पशु की कामना वाला उद्भिद् याग करे—में उत्पत्ति एवं अधिकार विधियाँ एक साथ मानी जाती हैं) उसी 'उद्भिदा यजेत पशुकामः' की भाँति 'ज्योतिष्टोमेन०' आदि में भी उत्पत्ति एवं अधिकार दोनों विधियाँ मान ली जायें, तो यह भी मान्य नहीं है, क्योंकि प्रस्तुत (उद्भिदा यजेत पशुकामः)

इससे रूप ज्यों का त्यों रह जाने पर भी 'मतुप्' का अर्थ निकल आता है। अर्श आदि आकृतिगण है, अतः 'सोम' पद में कोई असङ्गति भी नहीं आती।

† विधिना–पाठा०।

‡ तत्–पाठा०।

उदाहरण के प्रसङ्ग में दूसरा उत्पत्ति वाक्य न होने से उसके अभाव में अर्थ की संगति न हो पाने के कारण (उद्भिदा० आदि में) उसमें वैसे ही भाव (अर्थात् उत्पत्ति और अधिकार दोनों विधियों) का अवलम्ब लेना पड़ता है। इसके अतिरिक्त 'ज्योतिष्टोमेन' आदि वाक्य को (उत्पत्ति एवं अधिकार) दोनों विधि स्वीकार कर लेने पर इसी से याग (रूप-साधन) और उसका फल (स्वर्गादि) से सम्बन्ध भी समझना पड़ेगा। ऐसे में घोर वाक्यभेद होगा। अतः सोमपद में मत्वर्थ-लक्षणा से विशिष्ट का विधान (सोमविशिष्ट याग का विधान) अधिक उचित है (न कि 'सोमेन' के गुणविधि आदि का विधान)।

ननु 'सोमेन यजेते'त्यस्य गुणविधित्वमेवास्तु सोमयागस्वरूपविधिस्तु 'ज्योतिष्टोमेन स्वर्गकामो यजेते'त्ययमेव भवतु। ततश्च ज्योतिष्टोमेनेत्यादिना प्राप्ते कर्मणि गुणविधायकत्वेनापि सोमवाक्यस्योपपत्तौ न मत्वर्थलक्षणा पददोषरूपत्वेनान्याय्या स्वीकर्तव्येत्याशङ्क्‍ते—न च ज्योतिष्टोमेनेत्यादिना। न च वाच्यमित्यत्र हेतुमाह—तस्याधिकारविधित्वेनेति। तर्हि भवतु तस्याधिकारविधित्वमुत्पत्तिविधित्वमपि कुतो न स्यादित्याशङ्क्याह—उत्पत्तिविधित्वासंभवादिति। कर्मस्वरूपमात्रबोधकस्यैव विधेरुत्पत्तिविधित्वं व्यवह्रियते, उत्पत्तिविधिविहितस्य च कर्मणः फलविशेषेण सह संबन्धमात्रमधिकारविधिः करोति। यथा 'आग्नेयोऽष्टाकपालो भवती'त्येतदुत्पत्तिविधिविहितस्य कर्मणः स्वर्गरूपफलविशेषेण संबन्धो 'दर्शपूर्णमासाभ्यां स्वर्गकामो यजेते'त्यनेन विधिना क्रियत इति तस्याधिकारविधित्वमेव नोत्पत्तिविधित्वम्, तद्वदस्याप्यधिकारविधेर्नोत्पत्तिविधित्वं संभवतीति भावः।

नुन 'उद्भिदा यजेत पशुकाम' इत्यस्य विधिवाक्यस्य यथोद्भिन्नामककर्मरूपबोधकत्वरूपोत्पत्तिविधित्वेऽपि तस्य कर्मणः पशुरूपफलसंबन्धबोधकत्वरूपाधिकारविधित्वमपि भवति तद्वदस्याप्युभयविधित्वमविरुद्धमित्याशङ्क्‍ते—नन्वित्यादिना। दृष्टान्ते तु कर्मस्वरूपबोधकोत्पत्तिवाक्यान्तराभावेनैकस्य वाक्यस्योभयविधित्वमाश्रितं कर्मणः स्वरूपबोधनमन्तरेण तस्य फलसंबन्धबोधनानुपपत्त्या तस्यैव वाक्यस्योभयविधित्वाश्रयणादिति परिहरति—दृष्टान्त इत्यादिना। ननु 'ज्योतिष्टोमेन स्वर्गकामो यजेते'त्यस्य वाक्यस्योभयविधित्वस्वीकारे 'सोमेन यजेते'त्यस्य मत्वर्थलक्षणामन्तरेणैव गुणमात्रविधायकत्वनिर्वाहे को दोषोऽन्यथा मत्वर्थलक्षणाप्रसङ्गादित्याशङ्क्य परिहरति—किंचेत्यादिना। उभयविधित्व इति। सोमयागस्योत्पत्तिविधित्वंऽधिकारविधित्वं चेत्यर्थः। 'ज्योतिष्टोमेन स्वर्गकामो यजेते'त्यनेनैव सोमयागस्वरूपं तस्य स्वर्गरूपफलसंबन्धश्च बोधनीय इत्यर्थः। सुदृढो वाक्यभेद इति। गौरवलक्षणो वाक्यभेदो दृढतरो भवेदित्यर्थः। तथा चोक्तम्—'श्रौतव्यापारनानात्वे शब्दानामतिगौरवम्। एकोक्त्यसितानां तु नार्थाक्षेपो विरुध्यत' इति। ननु सोमेन यजेतेत्यत्रापि गुणस्य कर्मस्वरूपस्य च विधाने वाक्यभेदस्य सुदृढत्वादिति चेत्। न। विशिष्टविधौ विशेषणविधेरार्थिकत्वेन श्रूयमाणविधिना गुणस्य पृथगविधेयत्वादिति निरस्तत्वात्। न च तस्योत्पत्तिविधित्वे वाक्यभेदस्याभावेऽपि लक्षणादोषस्तु दुर्वार इति वाच्यम्। तस्या वाक्यभेदादल्पदोषत्वात्, लक्षणायाः पददोषत्वाद्वाक्यभेदस्य तु वाक्यदोषत्वात्, पदवाक्यदोषयोर्मध्ये पददोषस्यैव कल्पनीयत्वाद् 'गुणे त्वन्याय्यकल्पनेति' न्यायात्। तस्मात् 'ज्योतिष्टोमेन स्वर्गकामो यजेते'त्यस्योभयविधित्वे वाक्यभेदप्रसङ्गाद्वरं सोमपदे मत्वर्थलक्षणां स्वीकृत्य गुणविशिष्टकर्मस्वरूपविधानमेवेत्याशयेनोपसंहरति—तद्वरमित्यादिना।

यहाँ मत्वर्थ लक्षणा के ग्रहण को पूर्वपक्षी अनावश्यक सिद्ध करने का प्रयास करते हैं। उनके अनुसार 'सोम' पद में लक्षणा का प्रयोग न केवल अनावश्यक है, अपितु दोषपूर्ण भी हो जाता है। यदि अभिधा से ही काम चल जाये तब लक्षणा के ग्रहण से पददोष होगा। 'सोमेन' आदि को गुणविधि और 'ज्योतिष्टोमेन०' आदि को उत्पत्तिविधि मान लेने से अङ्ग एवं अङ्गी दोनों की प्राप्ति हो जाती है और कोई असङ्गति नहीं रहती। यह कठिन नहीं है क्योंकि जिस प्रकार से 'ज्योतिष्टोमेन स्वर्गकामो यजेत' को उत्पत्तिविधि एवं 'दध्ना जुहोति' को गुणविधि मानने से उद्देश्य की पूर्ति हो गयी थी, वैसे ही यहाँ भी सम्भव है।

किन्तु सिद्धान्ती इसमें व्यावहारिक कठिनाई उपस्थित करते हैं। उनके अनुसार 'ज्योतिष्टोमेन स्वर्गकामो यजेत' अधिकार विधि है। अधिकार विधि के द्वारा याग आदि कर्म से उत्पाद्य स्वर्ग आदि फल के भोक्ता अधिकारी का ज्ञापन होता है। अतः इससे कर्म के स्वरूपमात्र बोधक उत्पत्ति-विधि का कार्य नहीं लिया जा सकता है। यह सर्वमान्य विषय है। यदि 'ज्योतिष्टोमेन' आदि उत्पत्ति विधि होता तो 'सोमेन यजेत' को गुणविधि समझा जा सकता था, किन्तु ऐसा है ही नहीं, अतः कोई प्रश्न नहीं उठता। अधिकार एवं उत्पत्ति दोनों स्वतन्त्र एवं भिन्न विधान करने वाली विधियाँ हैं। अतः एक को दूसरे के स्थान पर नहीं स्वीकार किया जा सकता।

जिस प्रकार अधिकार विधि 'ज्योतिष्टोमेन०' आदि को उत्पत्तिविधि नहीं माना जा सकता, उसी प्रकार उसमें उक्त दोनों विधियाँ एक साथ भी नहीं स्वीकार की जा सकती। ऐसा करने पर एक ही वाक्य से कर्म एवं अधिकारी दोनों से सम्बद्ध अलग-अलग अर्थ निकलने लगेंगे और भयङ्कर वाक्यभेद उपस्थित हो जायेगा। व्यक्त है कि वाक्यभेद एक दोष है, जिसका यथासंभव परिहार अपेक्षित है। अतः समस्त असंगतियों का निवारण 'सोमेन यजेत' के सोमपद में लक्षणा स्वीकार करने से हो जाता है, अतः उसी का ग्रहण श्रेष्ठ है।

यद्यपि 'उद्भिदा यजेत पशुकामः' से उत्पत्ति एवं अधिकार दोनों विधियों का काम लिया जाता है, किन्तु वहाँ की तथा 'ज्योतिष्टोमेन०' आदि की परिस्थितियों में अन्तर है। 'उद्भिदा०' आदि में उत्पत्ति का बोधक अलग वाक्य है ही नहीं, अतः अगत्या वहाँ दोनों का काम एक से ही लेना पड़ता है, किन्तु 'ज्योतिष्टोमेन' आदि अधिकारविधि के ही रूप में सर्वस्वीकृत है, अतः उसको उसके अधिकार-क्षेत्र से बाहर ले जाना दोष पूर्ण होगा।

आपदेव ने 'मीमांसान्यायप्रकाश' में वाक्यभेद को वाक्यदोष तथा मत्वर्थलक्षणा को पद दोष माना है। उनकी दृष्टि में वाक्यदोष की तुलना में पददोष क्षम्य है।[1] अतः दो दोषों की उपस्थिति होने पर हल्का पड़ने वाला ही ग्राह्य होता है। स्वल्पदोषत्व के कारण पददोषयुक्त मत्वर्थलक्षणा करके 'सोमवता यागेन' अर्थ स्वीकार करना अपेक्षाकृत अच्छा है। 'तद्वरं०' आदि शब्दों का यही अभिप्राय है। इस प्रकार विधि के अज्ञात-ज्ञापकत्व स्वरूप को सिद्ध करते हुये स्पष्ट किया गया कि कहीं प्रमाणान्तर से अज्ञात मुख्य कर्म का ज्ञान विधि से होता है, जैसे 'अग्निहोत्रं जुहुयात स्वर्ग-कामः' में, इसे ही प्रधान कर्म का ज्ञापक होने से प्रधान विधि अथवा कर्मस्वरूपमात्र का बोधक होने से उत्पत्तिविधि कहा जाता है। जहाँ प्रधान कर्म का ज्ञान रहने पर केवल गुण, अङ्ग अथवा अप्रधान का अज्ञात पक्ष ज्ञात होता है, वहाँ गुणविधि मानी जाती है, जैसे दध्ना जुहोति में। इनके विपरीत जहाँ प्रमाणान्तर से अज्ञात प्रधान कर्म के साथ गुण का भी विशेष्य-विशेषणभाव से ग्रहण होता है वहाँ विशिष्ट विधि होती है, जैसे 'सोमेन यजेत' में। यहाँ ध्यान रखना है कि

---

१. न च 'सोमेन यजेत' इत्यस्य उत्पत्तिविधित्वे यद्यपि न वाक्यभेदः, तथापि मत्वर्थलक्षणा-स्यादेव इति वाच्यम्। तस्याः स्वीक्रियमाणत्वात्। लक्षणातो वाक्यभेदस्य जघन्यत्वात्' लक्षणा हि पददोषः वाक्यभेदस्तु वाक्यदोषः। पदवाक्ययोर्मध्ये पदे एव दोषकल्पनाया उचितत्वात्। मीमांसा-न्यायप्रकाश पृ० ८५।

यह विधि के प्रकारों का निरूपण नहीं है, उसके भेद तो आगे बतलाये जायेगें। यहाँ केवल इतना अभिमत है कि विधित्व अज्ञात के ज्ञापन में ही है चाहे प्रधान कर्म का ज्ञापन हो चाहे गौण कर्म या द्रव्य का अथवा दोनों का।

विधिश्चतुर्विधः

(१४) विधिश्चतुर्विधः—उत्पत्तिविधिः, विनियोगविधिः, अधिकारिविधिः, प्रयोगविधिश्चेति।

विधि चार प्रकार का है-(१) उत्पत्तिविधि, (२) विनियोगविधि, (३) अधिकारविधि (४) प्रयोगविधि।

विधिं विभजते—विधिश्चतुर्विध इति।

विधि का यह चतुर्विधविभाजन यज्ञ के सम्पादन में सहायता के आधार पर है। अज्ञात के ज्ञापन का भाव सर्वत्र निहित है, अन्यथा उनमें विधित्व होगा ही नहीं। उत्पत्तिविधि के द्वारा अज्ञात प्रधान कर्म का ही ज्ञापन होता है, यथा 'अग्निहोत्रं जुहोति' से अग्निहोत्र नाम का मुख्य याग इस वाक्य से ही ज्ञात होता है। इसे उत्पत्तिविधि कहने का अभिप्राय संभवतः यही है कि इससे मुख्य क्रिया जो अन्य छोटे-छोटे कर्मों का भी आधार हैं इदंप्रथमतया ज्ञात होती है। मुख्यकर्म का ज्ञान उत्पन्न होने पर ही अङ्गक्रियाओं के ज्ञान की बात आती है। समस्तकर्मों के प्रभव,-उत्पत्तिस्थानस्वरूप-प्रधान क्रिया का सर्वप्रथम ज्ञापक होने से इस विधि का उत्पत्तिविधि नाम चरितार्थ होता हैं।[1] विनियोगविधि से यह ज्ञात होता है कि कौन से प्रधान कर्म में कौन-कौन गौण कर्म लगते हैं। अतः लगने वाले गौण कर्मों के नियोग का ज्ञापक होने से इस प्रकार को विनियोग-विधि कहते हैं। उदाहरण के लिए 'दध्ना जुहोति' सदृश वाक्य द्रष्टव्य हैं। अधिकारविधि का नाम कर्मविशेष के अधिकारी के गुणों का ख्यापन करने से अन्वर्थ होता है, जैसे 'यजेत स्वर्गकामः' से यह ज्ञात होता है कि याग करने का अधिकार उसे ही है जो स्वर्ग का इच्छुक हो, स्वर्ग के लिए वितृष्ण व्यक्ति को याग करने की आवश्यकता नहीं। प्रयोगविधि से ज्ञात होता है कि कर्म सम्पादन के समय किसको पहले किया जाये और किसे बाद में, जैसे 'वेदं कृत्वा वेदिं करोति' में।

उत्पत्तिविधिः

(१५) तत्र कर्मस्वरूपमात्रबोधको विधिरुत्पत्तिविधिः, यथा 'अग्निहोत्रं जुहोती'ति। अत्र च विधौ कर्मणः करणत्वेनान्वयः, अग्निहोत्रहोमेनेष्टं भावयेदिति।

ननु यागस्य द्वे रूपे द्रव्यं देवता च। तथा च रूपाश्रवणेऽग्निहोत्रं जुहोतीति कथमुत्पत्तिविधिः? अग्निहोत्रशब्दस्य तु तत्प्रख्यन्यायेन नामधेयत्वादिति चेत्। न। रूपाश्रवणेऽप्यस्योत्पत्तिविधित्वात्। अन्यथा रूपश्रवणात् 'दध्ना जुहोती'-त्ययमेवोत्पत्तिविधिः स्यात्। तथा च 'अग्निहोत्रं जुहोती'ति वाक्यमनर्थकं स्यात्।

उन (चारों प्रकार की विधियों) में (याग आदि) कर्म के केवल स्वरूप के बोधक विधि को उत्पत्तिविधि कहते हैं, जैसे 'अग्निहोत्रं जुहोति' में। इस (अग्निहोत्रं आदि उत्पत्ति) विधि में (अग्निहोत्र) कर्म का करण के रूप में अन्वय होता है, (अतः उक्त वाक्य का अर्थ होगा) अग्निहोत्र नामक होम से इष्ट की भावना करनी चाहिये।

---

१. उत्पत्तिः कर्मणः प्रवृत्तिविषयताप्रयोजकप्राथमिकप्रतीतिः। प्रतिपादिका पृ० ३३।

(यदि शङ्का हो कि) याग के तो दो अङ्ग होते हैं १. द्रव्य तथा २. देवता। (इस वाक्य में) उस प्रकार के अङ्गों का श्रवण न होने से 'अग्निहोत्रं जुहोति' में उत्पत्तिविधि कैसे होगी? (वस्तुतः) अग्निहोत्र शब्द तत्प्रख्यन्याय से नामधेय नामक (वेदाङ्ग) होगा (विधि नहीं।) (तो कहना चाहिये कि) नहीं (अर्थात् तत्प्रख्यन्याय से अग्निहोत्र नामधेय नहीं होगा, अपितु विधि ही कहा जायेगा।) क्योंकि (उक्त) रूपों का श्रवण न होने पर भी इसमें उत्पत्तिविधि है। नहीं तो (अर्थात् रूप का श्रवण होने पर ही विधि मानने पर तो) रूप का श्रवण होने से 'दध्ना जुहोति' यह वाक्य भी उत्पत्तिविधि होने लगेगा। वैसा होने पर तो 'अग्निहोत्रं जुहोति' यह वाक्य व्यर्थ हो जायेगा।

तत्रोत्पत्तिविधिं लक्षयति—तत्रेत्यादिना। तत्र चतुर्णां विधीनां मध्य इत्यर्थः। कर्मस्वरूपमात्रेत्यत्र मात्रपदेनोत्पत्तिविधेः कर्मणः फलादिना सह संबन्धबोधकत्वं वारयति—'उद्भिदा यजेत पशुकाम' इति विधेस्तु श्रौतमधिकारविधित्वमेव, उत्पत्तिविधित्वं तु कर्मस्वरूपबोधकविध्यन्तराभावेनार्थिकमेवेति न दोषः। तत्रोदाहरणमाह—यथाग्निहोत्रं जुहोतीति। एतदुपलक्षणं 'सोमेन यजेत', 'तप्ते पयसि दध्यानयति सा वैश्वदेव्यामिक्षा वाजिभ्यो वाजिनं', 'यदाग्नेयोऽष्टाकपालोऽमावास्यायां च पौर्णमास्यां चाच्युतो भवती'-त्यादीनाम्। तथा च तत्र द्वितीयाध्याये कर्मोत्पत्तिविधीनामेव भेदो निरूपितः। अत्राप्युत्पत्तिविधिलक्षणप्रदर्शनेनैव तेषां भेदोऽपि ध्वनित एव शब्दान्तरादिभिर्हेतुभिः, अस्माभिस्तु पूर्वमेव तेषां भेदः संक्षेपेण निरूपित इत्युपरम्यते। ननु चात्रोत्पत्तिविधौ कर्मणः साध्यत्वेनान्वयो भवतु 'अग्निहोत्रं होमं कुर्यादिति, व्रीहीन्प्रोक्षतीतिवदग्निहोत्रं जुहोती'त्यत्रापि द्वितीयायाः साध्यत्ववाचकत्वात्। तथा च साध्यस्य साध्यत्वस्वभावादेव साध्यान्तरसाधनत्वासंभवेन साध्यन्तरान्वयायोगादधिकारविध्यवगतफलसंबन्धानुपपत्तिः स्यादित्याशङ्क्याह—अत्र च विधावित्यादिना। अग्निहोत्रहोमेनेष्टं भावयेदिति करणत्वेनान्वये तु किं तदिष्टमिति वीक्षायाम् 'अग्निहोत्रं जुहुयात्स्वर्गकाम' इत्यधिकारविध्यवगतफलसंबन्धापत्तेः, स्वसाधननिष्पादितस्य सिद्धस्वभावस्यैव करणत्वेनान्वयाच्च न कोऽपि दोष इति भावः। ननूत्पत्तिविधाविष्टबोधकपदस्याभावादग्निहोत्रहोमेनेष्टं भावयेदिति कथं वाक्यार्थः स्यादिति चेत् न। विधेरेवेष्टाक्षेपकत्वात्। अन्यथा तस्यापुरुषार्थभूते कर्मणि पुरुषप्रवर्तकत्वानुपपत्तिः स्यात्।

ननु गुरुमते विधिः स्वसिद्ध्यर्थमेव नित्यादिषु कर्मसु पुरुषं प्रवर्तयति। तथा च काम्यकर्मोत्पत्तिविधीनामिष्टान्तराक्षेपकत्वेऽपि न नित्यादिकर्मोत्पत्तिविधीनामिष्टान्तराक्षेपकत्वं संभवति। न च लिङादिशब्दव्यापारस्य विधेर्नित्यत्वेन कथं तस्य स्वसिद्ध्याक्षेपकत्वमिति वाच्यम्। गुरुमतापरिज्ञानात्। तथा हि—विधिशब्दस्तावल्लिङादिशब्दवचनस्तदर्थवचनश्च भवति। तत्र भट्टमते तदर्थस्तु शब्दव्यापारविशेषो भावनैव। गुरुमते तु नियोगाख्यमपूर्वमेव लिङादिशब्दार्थभूतो विधिः। तस्य च साध्यस्वभावत्वेन स्वसिद्ध्याक्षेपकत्वमुपपद्यते। यथा च लोके लिङः कार्यव्युत्पत्त्यनुरोधेनाग्निहोत्रं जुहुयादित्यादावपि लिङा नियोग एव प्रतीयते। नियोगश्चाधिकारिविषयादिसापेक्ष एव। तत्र कस्य नियोग इत्यधिकार्याकाङ्क्षायां जीवनादिमत इति जीवनादिविशिष्टोऽधिकारित्वेन संबध्यते। कुत्र नियोग इति विषयाकाङ्क्षायां तु होमादाविति होमादिर्विषयत्वेन संबध्यते होमादिविषयश्च नियोगः कृतिसा-

ध्यतयैव प्रतीयते। तस्य च साक्षात्कृतिसाध्यत्वासंभवेन स्वस्य कृतिसाध्यत्वनिर्वाहार्थं विषयतया संबद्धस्य होमादेः करणत्वमप्याक्षिपति। तदुक्तं शालिकायां—'कृतितत्साध्य-मध्यस्थो यागादिर्विषयो मतः। कार्येऽसङ्कुटिताकारे करणत्वेन संमतः' इति। तस्मात् काम्यकर्मोत्पत्तिविधेः 'विश्वजिता यजेते'त्यादिविधेश्च स्वप्रवर्तकत्वान्यथानुपपत्त्या सामान्यतः प्रयोजनविशेषाक्षेपकत्वेऽपि नित्यकर्मोत्पत्तिविधेः स्वसिद्धेरेव प्रयोजनत्वान्न प्रयोजनान्तरा-क्षेपकत्वमिति चेत्, न। नियोगाख्यविधेः स्वरूपेणाप्रयोजनत्वेन स्वसिद्धये पुरुषप्रवर्त-कत्वानुपपत्तेः। अन्यथा 'विश्वजिता यजेते'त्यादावपि विधेः स्वसिद्ध्यर्थमेव पुरुषप्रवर्त-कत्वापत्तेः, तच्चानिष्टम्, 'स स्वर्गः स्यात्सर्वान्प्रत्यविशेषात्' इति न्यायविरोधात्। तस्मा-न्नित्यादिष्वपि कर्मसु स्वर्गः, 'धर्मेण पापमपनुदती'त्यादिशास्त्रानुरोधेन पापक्षयादिकं वा प्रयोजनं स्वीकर्तव्यमित्यलमतिप्रसङ्गेन। प्रकृतमनुसरामः। तस्मात् साधूक्तमुत्पत्तिविधौ कर्मणः करणत्वेनान्वय इति।

ननु 'अग्निहोत्रं जुहोती'त्यस्य नोत्पत्तिविधित्वं द्रव्यदेवतात्मकस्य कर्मरूपस्यात्रा-श्रवणादित्याशङ्कते—नन्विति। ननु 'अग्नये हात्रमत्रे'त्यग्निहोत्रशब्देनाग्निदेवतात्मकस्य कर्मरूपस्य श्रवणात्कथं रूपाश्रवणमित्याशङ्क्याह—अग्निहोत्रशब्दस्येति। अग्निहोत्रशब्दस्य 'तत्प्रख्यं चान्यशास्त्र'मिति तत्प्रख्यन्यायेन नामधेयत्वस्य वक्ष्यमाणत्वान्न कस्यापि कर्मरू-पस्य श्रवणमत्रेत्यर्थः। यद्यप्यत्र कर्मणो रूपं न श्रूयते तथापि विध्यन्यथानुपपत्त्या तत्कल्प्यते, तच्च सामान्यतः कल्प्यमानं द्रव्यदेवतात्मकं कर्मणो रूपं विशेषाकाङ्क्षया गुणविधिमन्त्र-वर्णाभ्यां विशेषेण चावगम्यमानमत्र संभवति। ततश्चाग्निहोत्रं जुहोतीत्यत्र द्रव्यदेवतात्म-कस्य कर्मरूपस्य श्रवणाभावेऽप्यस्य होमरूपकर्मस्वरूपमात्रबोधकत्वरूपमुत्पत्तिविधित्वं संभ-वतीत्याशयेन परिहरति—नेति। तत्र निरुक्ताशयं हेतुमाह—रूपाश्रवण इति। विपक्षे बाधकमाह—अन्यथेति। अग्निहोत्रं जुहोतीत्यस्य रूपाश्रवणमात्रेणोत्पत्तिविधित्वानङ्गीकारे 'दध्ना जुहोती'त्यस्यैवोत्पत्तिविधित्वं स्यात्, अत्र कर्मस्वरूपस्य श्रवणादित्यर्थः 'दध्ना जुहोती'त्यस्याग्निहोत्रकर्मोत्पत्तिविधित्वे वाक्यान्तरस्यानर्थकत्वमनिष्टमापादयति—तथा चेति। न चाग्निरूपगुणविधित्वेनाप्यस्योपपत्तिरिति वाच्यम्। 'अग्निर्ज्योति'रित्यादि-मन्त्रवर्णनाग्निरूपगुणस्य प्राप्तत्वात्, कर्मनामधेयत्वस्य वक्ष्यमाणत्वाच्च। तस्मादनर्थकमिति साधूक्तम्। किंच 'दध्ना जुहोती'त्यस्योत्पत्तिविधित्वे 'पयसा जुहोती'त्यस्यापि वैयर्थ्यं कर्मान्तरविधायकत्वं वा स्यात्, होमस्योत्पत्तिशिष्टदध्यवरुद्धत्वेन तत्र पयोरूपगुणविधित्वा-संभवात्। तथा चानेकादृष्टकल्पनापत्तिः। 'अग्निहोत्रं जुहोती'त्यस्य होमोत्पत्तिविधित्वे तु 'दध्ना जुहोति, पयसा जुहोती'त्यादिवाक्यस्य सर्वस्यापि तत्र खले कपोतन्यायेन युगप-द्दध्यादिगुणविधायकत्वेनाप्युपपत्त्या नानेकादृष्टकल्पनाप्रसङ्ग इत्यग्निहोत्रं जुहोतीत्यस्यै-वोत्पत्तिविधित्वं न्याय्यमित्यलमतिविस्तरेण।

उत्पत्तिविधि के लक्षण में 'मात्र' पद महत्त्वपूर्ण है। इस पद के प्रयोग से स्पष्ट हो जाता है कि उत्पत्तिविधि का कार्य कर्म के स्वरूपमात्र का बोध कराना है न कि विनियोगविधि की भाँति 'गुण' का, अथवा अधिकार विधि की भाँति 'फल' का या प्रयोगविधि की भाँति 'क्रम' का। 'अग्निहोत्रं जुहोति' से केवल यही पता चलता है कि 'अग्निहोत्र' नामक याग का विधान करना है यद्यपि 'दध्ना जुहोति' से भी कर्म के स्वरूप का ज्ञान होता है क्योंकि 'जुहोति' शब्द के प्रयोग से याग के

स्वरूप का ज्ञान होता है, तथापि कर्मस्वरूप के साथ ही 'दध्नापद से गुण के भी स्वरूप का बोधन होने से इस वाक्य को कर्मस्वरूप**मात्र** का बोधक नहीं कहा जा सकता। यहाँ 'मात्र'पद के प्रयोग से कर्म के फल आदि के साथ सन्बन्ध का निवारण होता है।

कुछ स्थल ऐसे भी हैं जहाँ एक ही वाक्य से फल अथवा स्वामित्व तथा कर्मस्वरूप दोनों की बोधक अधिकार एवं उत्पत्ति दोनों विधियाँ माननी पड़ती हैं। जैसे 'उद्भिदा यजेत पशुकामः' में 'पशुकाम' पद से पशु फल का सम्बन्ध भी ज्ञात होने से अधिकारविधित्व है, साथ ही 'यजेत' से कर्मस्वरूपमात्र का भी ज्ञान होता है, अतः उत्पत्तिविधित्व भी है। इसलिये यह वाक्य कर्मस्वरूप**मात्र** का बोधक न होने से उत्पत्तिविधि नहीं कहा जा सकता। किन्तु इससे सम्बद्ध कर्मस्वरूपमात्र के तथा फलसम्बन्ध के ज्ञापक स्वतन्त्र वाक्यों का अभाव होने से अगत्या इससे ही दोनों काम लेना पड़ता हैं, पहले इसे अधिकारविधि और बाद में गौणरूप से उत्पत्तिविधि भी मान लिया जाता है। रामेश्वर शिवयोगी के शब्दों में 'उद्भिदा यजेत पशुकामः' इति विधेस्तु **श्रौत**मधिकारविधित्वमेव। उत्पत्तिविधित्वं तु कर्मस्वरूपबोधकविध्यन्तराभावेन **आर्थिक**मेव इति न दोषः।' इस प्रकार की कठिनाइयों को ध्यान में रखकर ही 'प्रतिपादिका' नाम की टीका के रचयिता कृष्णनाथभट्टाचार्य कर्म के नाममात्र का निर्देश ही नहीं, अपितु द्रव्य और देवता से विशिष्ट कर्म का भी निर्देश होने पर उत्पत्तिविधित्व स्वीकार करते हैं—'सा च कर्मणो नाममात्रनिर्देशेन द्रव्यदेवताविशिष्टकर्मनिर्देशेन च सम्भवति। अतः कश्चित् कर्ममात्रोत्पादकः कश्चिच्च विधिर्द्रव्यदेवताविशिष्टकर्मोत्पादकः। तयोरुभयोरपि कर्मस्वरूपमात्रज्ञापकत्वम्। नाममात्रनिर्देशेन द्रव्यदेवताविशिष्टकर्मनिर्देशेन च कर्मणः स्वरूपज्ञानसम्भवात्। अतो मात्रपदं कर्मणः फलसम्बन्धव्यावर्तकम्।'[1]

कर्म की करणता—उत्पत्तिविधि की एक विशेषता यह है कि इसमें आये कर्म का करण के रूप में अर्थ लिया जाता हैं। 'अग्निहोत्रं जुहोति' में अग्निहोत्र पद द्वितीया विभक्ति में हैं और 'जुहोति' का कर्म है। सामान्यतः देखा जाता है कि कर्म कर्त्ता का अभीष्टतम होता है।[2] जो अभीष्टतम होता है वही साध्य, फल, या लक्ष्य कहा जाता है। व्याकरण की दृष्टि से 'अग्निहोत्र' को ही साध्य होना चाहिये।

किन्तु मीमांसकों को 'अग्निहोत्र' साधन के रूप में मान्य है, साध्य के रूप में नहीं। इसी को उन्होंने अपने अनुसार स्पष्ट किया है—अग्निहोत्रहोमेन इष्टं भावयेत्। द्रष्टव्य है कि यहाँ अग्निहोत्र तृतीया विभक्ति में होने से करण के रूप में मान्य है। अग्निहोत्र किसका साधन है, इसके उत्तर के लिए 'इष्टम्' पद का प्रयोग है। इष्ट ही साध्य है। इष्ट क्या हैं इसका उल्लेख इस वाक्य में नहीं हैं। वस्तुतः उत्पत्तिविधि का शुद्ध उदाहरण होने से इष्ट का कथन यहाँ हो भी नहीं सकता। इष्ट, साध्य अथवा फल तथा उससे सम्बन्ध का ज्ञान तो अधिकारविधि से संभव है। वहीं से साध्य या इष्ट की प्राप्ति हो सकती है। यथा 'अग्निहोत्रं जुहुयात् स्वर्गकामः' वाक्य अधिकारविधि का उदाहरण है, वहीं से इष्ट 'स्वर्ग का ग्रहण होता हैं।[3]

वस्तुतः यागादिकर्म इष्ट हो भी नहीं सकता। ग्रन्थ के प्रारम्भिक अंश में याग आदि को धर्म कहा गया है। धर्म स्वयं प्रयोजन नहीं होता है, वह तो प्रयोजनवान् है। पहले 'प्रयोजनवत्' पद की व्याख्या में स्पष्ट किया जा चुका है कि याग आदि साधन हैं और स्वर्ग आदि प्रयोजन या साध्य।

---

१. प्रतिपादिका पृ० ३३।

२. कर्तुरीप्सिततमं कर्म (पा० १।४।४९)।

३. अग्निहोत्रहोमेन इष्टं भावयेत् इति करणत्वेनान्वये तु किं तदिष्टमिति वीक्षायाम् 'अग्निहोत्रं जुहुयात् स्वर्गकामः' इत्यधिकारविध्यवगतफलसम्बन्धोपपत्तेः। कौमुदी० और भी द्रष्टव्य–मीमांसान्यायप्रकाशः पृ० १२१।

इसके अतिरिक्त कष्टपूर्ण होने से भी याग को इष्ट नहीं माना जा सकता, उसकी तुलना में सुखस्वरूप स्वर्ग ही अभीष्टतर है।[1]

यहाँ एक प्रश्न और उठता है कि 'अग्निहोत्र' को करण के रूप में स्वीकार कर लिया गया किन्तु 'इष्टं' पद कहाँ से आ गया? इसके उत्तर में कृष्णनाथ भट्टाचार्य ने मत व्यक्त किया है कि 'अग्निहोत्रं जुहुयात् स्वर्गकामः' इस अधिकारविधि में तो स्वर्गरूप फलविशेष का उल्लेख है, किन्तु इस वाक्य 'अग्निहोत्रं जुहोति' में नहीं। यहाँ फलविशेष का निर्देश न होने से फलसामान्य का उल्लेख 'इष्ट' पद से किया गया है।[2] आपदेव के अनुसार यह नहीं कहना चाहिये कि 'इष्ट' पद का अभाव होने से उत्पत्तिविधि में 'कर्मणा इष्टं भावयेत्' यह वाक्यार्थ कैसे निकलेगा, क्योंकि 'विधि' का श्रवण होते ही उससे इष्ट की बोधकता का ज्ञान हो जाता है। विधिश्रुति पुरुष को पुरुषार्थ में प्रवृत्त कराती हुई कर्मफल से सम्बन्धमात्र बतलाती है।[3]

याग के दो रूप—याग के दोनों रूपों में से द्रव्य वह पदार्थ है जो दिया जाता है और देवता वह है जिसके लिए दिया जाता है। याग में इनका ज्ञान आवश्यक होता है। 'अग्निहोत्रं जुहोति' में इन दोनों में से किसी का ज्ञान नहीं होता, अतः इस वाक्य के उत्पत्तिविधि होने में शङ्का होती है।

इसका प्रथम उत्तर तो यही है कि यह आवश्यक नहीं कि उत्पत्तिविधि में दोनों रूपों में से एक-एक या दोनों का शब्दतः कथन हो ही। वहाँ लक्षणा आदि से भी इनका ज्ञान हो सकता है। 'रूपाश्रवणेऽपि' आदि शब्दों से यह भाव व्यक्त होता है। उत्पत्तिविधि में कर्म का सामान्य स्वरूप 'जुहोति', 'यजेत' आदि से ही प्राप्त हो जाता है और उसके विशेष रूप की कल्पना की जाती है। 'स्वरूप' सामान्य होता है और रूप विशेष।

यदि द्रव्य अथवा देवता के वाचक शब्दों से युक्त वाक्य को ही उत्पत्तिविधि माना गया तो 'दध्ना जुहोति' जैसी गुणविधियाँ भी दधिनामक द्रव्य का श्रवण होने से उत्पत्तिविधि हो जायेगी, किन्तु यह अभीष्ट नहीं है। इसके अतिरिक्त दूसरा दोष यह होगा कि 'दध्ना जुहोति' को उत्पत्तिविधि मानने पर वास्तविक उत्पत्तिविधि का बोधक वाक्य 'अग्निहोत्रं जुहोति' व्यर्थ हो जायेगा, क्योंकि इसका कार्य दूसरे मन्त्र से ही सम्पन्न हो जायेगा और इसका फिर कोई प्रयोजन नहीं रह जायेगा। मीमांसक वेद के किसी भी वाक्य या वाक्यांश को निरर्थक मानने के लिए तैयार नहीं। अतः यह मानना उचित नहीं कि उत्पत्तिविधि में द्रव्य या देवता या दोनों का शब्दशः कथन हो ही। इस प्रसंग में यह नहीं कहना चाहिये कि तत्प्रख्यन्याय (तत् = देवता का प्रख्य = कथन, न्याय = सिद्धान्त) से 'अग्निहोत्रं जुहोति' में अग्निहोत्र का अर्थ देवपरक किया जा सकता है। तत्प्रख्य-न्याय से 'अग्नौ अग्नये वा होत्रम्' व्युत्पत्ति करके अग्निदेवता का अर्थ निकाला जा सकता है, किन्तु ग्रन्थकार का कथन है तत् अर्थात् देवता का प्रख्य अर्थात् ज्ञापक एक दूसरा ही मन्त्र है जिससे द्रव्य देवता का ज्ञान होता है, न कि इसी मन्त्र में अग्निहोत्रं की व्युत्पत्ति करके उनका ग्रहण अपेक्षित है। यह भाव मीमांसासूत्र के एक सूत्र 'तत्प्रख्यं चान्यशास्त्रम्' (१।४।४) में भी समाहित

१. For, the sacrifice is a troublesome affair and nobody would desire it for its ownsake. It is only desired as an instrument to heaven, which, being full of bliss, is the proper साध्य. The Arthasamgraha p.106.

२. 'अग्निहोत्रं जुहुयात् स्वर्गकामः' इत्यधिकारविधिना स्वर्गरूपफलविशेषस्य श्रुतत्वेऽपि एतद्वाक्ये तदश्रवणादिष्टमिति सामान्यत उक्तम्। प्रतिपादिका पृ० ३३।

३. न च उत्पत्तिविधौ इष्टवाचकपदाभावेन 'कर्मणा इष्टं भावयेत्' इति कथं वाक्यार्थ इति वाच्यम्। विधिश्रुतेरेव इष्टबोधकत्वात्। सा हि पुरुषार्थे पुरुषं प्रवर्तयन्ती कर्मणः फलसम्बन्धमात्रं बोधयति। तस्माद् युक्तमुत्पत्तिविधौ कर्म करणत्वेन अन्वेति इति। मीमांसान्यायप्रकाशः पृ० १२१।

है। वह भिन्न मन्त्र जिससे अग्निहोत्र होम के दोनों देवताओं—अग्नि एवं सूर्य—का ज्ञान होता है, दूसरे हैं। वे हैं—'अग्निर्ज्योतिः ज्योतिरग्निः स्वाहेति सायं जुहोति' सूर्यो ज्योतिर्ज्योतिः सूर्यः स्वाहेति प्रातः'। 'अग्निहोत्रं जुहोति' वाक्य से भिन्न प्रस्तुत मन्त्र के द्वारा ही अग्नि एवं सूर्य का बोध होता है। यही सर्वमान्य सिद्धान्त है।

विनियोगविधिः

(१६) अङ्गप्रधानसंबन्धबोधको विधिर्विनियोगविधिः। यथा 'दध्ना जुहोती'ति। स हि तृतीयया प्रतिपन्नाङ्गभावस्य दध्नो होमसंबन्धं विधत्ते दध्ना होमं भावयेदिति।

गुणविधौ च धात्वर्थस्य साध्यत्वेनान्वयः, क्वचिदाश्रयत्वेनापि यथा 'दध्नेन्द्रियकामस्य जुहुया'दिति। अत्र दधिकरणत्वेनेन्द्रियं भावयेत्। तच्च किन्निष्ठमित्याकाङ्क्षायां संनिधिप्राप्तहोम आश्रयत्वेनान्वेति।

(द्रव्य, देवता आदि) अङ्ग तथा प्रधान (होम आदि) के सम्बन्ध के ज्ञापक विधि को विनियोगविधि कहते हैं। जैसे 'दध्ना जुहोति'—दधि से होम करे—यह वाक्य तृतीया विभक्ति से सूचित किये जा रहे अङ्गभाव वाले 'दधि' का होम से सम्बन्ध का विधान कर रहा है। (अतः वाक्य का अर्थ होगा) दधि से होम की भावना करे।

गुणविधि में धातु के अर्थ का साध्य के रूप में अन्वय होता है। कहीं, कहीं (धातु के अर्थ का) आश्रय के भी रूप में (ग्रहण होता है।) जैसे—'दध्ना इन्द्रियकामस्य जुहुयात्' सदृश वाक्य में, जहाँ अर्थ होगा दधिरूप करण से इन्द्रिय की भावना करे। वह (तृतीया से उपस्थित दधिकरणता) किसमें स्थित है, यह आकांक्षा होने पर समीप में विद्यमान होम (रूप धात्वर्थ) आश्रय के रूप में अन्वित होता है।

तृतीयाध्यायस्यार्थभूतं शेषशेषिभावं निरूपयितुमिदानीं विनियोगविधिं लक्षयति—अङ्गप्रधानेति। अङ्गानां द्रव्यदेवतादिलक्षणानां प्रधानैर्वाक्यान्तरविहितैः सह संबन्धस्य शेषत्वलक्षणस्य बोधको विधिरित्यर्थः। तत्रोदाहरणमाह—यथा दध्नेति। 'दध्ना जुहोती'ति, 'पयसा जुहोती'त्यादेरुपलक्षणार्थम्। स हि विधिस्तृतीयया प्रतिपन्नाङ्गभावस्य दध्यादेरग्निहोत्रं जुहोतीति विहितहोमसंबन्धं विधत्त इत्याह—स हीत्यादिना। ननु 'दध्ना होमं भावयेत्, होमेनेष्टं भावयेदि'ति साध्यत्वेन करणत्वेन च होमस्यान्वयः स्यात्। तथा च विरुद्धत्रिकद्वयप्रसङ्गः। तथा हि—दध्ना जुहोतीत्यत्र सकृदुच्चरितस्य जुहोतीत्याख्यातस्य दधिरूपगुणे किंचिदिष्टे च तन्त्रेण संबन्धाङ्गीकारे सत्युपादेयत्वं, विधेयत्वं, गुणत्वं, चेत्येकं त्रिकम्; उद्देश्यत्वं, अनुवाद्यत्वं, प्राधान्यं, चेत्यपरं त्रिकं होमे संपद्यते, कथम्? शृणु—फलमुद्दिश्य होम उपादीयते, फलमनूद्य होमो विधीयते, फलं प्रधानं होम उपसर्जनम्। एवं होममुद्दिश्य दध्युपादीयते, होममनूद्य दधि विधीयते, होमः प्रधानं दध्युपसर्जनम्। ततश्च होमे फलापेक्षयोपादेयत्वं विधेयत्वं गुणत्वं, दधिरूपगुणापेक्षया चोद्देश्यत्वमनुवाद्यत्वं प्राधान्यं च संपद्यते। न चात्र न तन्त्रेण संबन्धः किंतु पृथग्घोमावृत्त्या संबन्धो भवतीति वाच्यम्। वाक्यभेदप्रसङ्गात्, 'दध्ना होमं भावयेत्, होमेन चेष्टं भावये'दिति वाक्यद्वयप्राप्तेः। तस्मान्न दधिशब्दो गुणपर इति चेत्, न। भ्रान्तिमत्त्वात्, तथा हि—यत्र हि साध्यत्वेन करणत्वेन चैकस्य युगपत्तन्त्रेण संबन्ध आशङ्क्यते तत्रैव विरुद्धत्रिकद्वयस्य

प्रसक्तिर्भवति—यथा 'वाजपेयेन स्वाराज्यकामो यजेते'त्यत्र। तत्र च वाजपेयशब्दस्य पेयसुराद्रव्यवाचित्वेन गुणविध्याशङ्कायां मत्वर्थलक्षणाप्रसङ्गात्तेपे तन्त्रेण युगपत्स्वाराज्यफलवाजपेयगुणसंबन्धो यागस्य पूर्वपक्षितः। तत्र विरुद्धत्रिकद्वयप्रसङ्गापादनेन यथोक्तद्रव्यनिमित्तं वाजपेयशब्दस्य नामधेयत्वं राद्धान्तितम्। विरुद्धत्रिकद्वयप्रसङ्गश्च फलमुद्दिश्य याग उपादीयते फलमनूद्य यागो विधीयते। फलं प्रधानं याग उपसर्जनम्। एवं यागमुद्दिश्य वाजपेय उपादीयते, यागमनूद्य वाजपेयो विधीयते। यागः प्रधानं वाजपेय उपसर्जनम्। फलस्योद्देश्यत्वं च मानसापेक्षो विषयत्वाकारः। यागस्योपादेयत्वं त्वनुष्ठीयमानत्वाकारः। तौ चोभौ मनःशरीरोपाधिकौ धर्मौ भवतः। अनुवाद्यत्वविधेयत्वे तु शब्दोपाधिकौ धर्मौ स्तः। अनुवाद्यत्वं नाम मानान्तरज्ञातस्यानुकथ्यमानत्वम्। विधेयत्वं चाज्ञातस्यानुष्ठेयत्वेन प्रतिपाद्यमानत्वम्। फलस्य प्राधान्यं नाम साध्यत्वेन, यागस्योपसर्जनत्वं च साधनत्वेन बोध्यम्। तथा यागस्योद्देश्यत्वं नाम मानान्तरसिद्धस्य विधेयान्वयितया निर्देश्यत्वमन्यद्यथोक्तम्।

न चैवं होमे विरुद्धत्रिकद्वयप्रसङ्गः। तस्य साध्यत्वेन साधनत्वेन चात्र विधौ युगपत्तन्त्रेणान्वयानङ्गीकरात्, किंतु साध्यत्वेनैव। तथा च होमस्योद्देश्यत्वमनुवाद्यत्वं प्रधानत्वमेव नतूपादेयत्वादिकम्। तस्मान्न विरुद्धत्रिकद्वयापत्तिरित्याशयेनाह—गुणविधौ चेति। धात्वर्थस्य साध्यत्वेनैवान्वय इति। धात्वर्थस्य यागदानहोमादेः साध्यत्वेनैवेत्यनेन साधनत्वेनान्वयं वारयति। साधनत्वेनान्वयस्तु धात्वर्थस्योत्पत्तिविधावधिकारविधौ च भवति, नतु गुणविधावित्यर्थः।

ननु गुणविधौ धात्वर्थस्य साध्यत्वेनैवान्वये 'दध्नेन्द्रियकामस्य जुहुया'दित्यत्र दध्ना होमं भावयेदिन्द्रियकामस्येति वाक्यार्थः स्यात्। तथा चेन्द्रियस्य साध्यत्वेनानन्वये तस्याफलत्वप्रसङ्गः। न च नात्र गुणविधिः, गुणपदस्यानर्थकत्वप्रसङ्गात्। होमस्योभयरूपेणान्वये तु पूर्वोक्तदोषापत्तिश्चेत्याशङ्क्याह—क्वचिदित्यादिना। यद्वा,—गुणविधौ धात्वर्थस्य साध्यत्वेनैवान्वयो नान्यथा। यत्र तु तृतीययोपात्तं दध्यादिगुणकरणत्वं तस्य प्रत्ययार्थत्वेन दध्यादिगुणादपि प्रधानत्वात्फलभावनायां करणत्वेन विधीयते, तत्र तु धात्वर्थस्याश्रयत्वेनैवान्वय इत्याह—क्वचिदित्यादिना। क्वचिदिति यत्र दध्यादिगुणकरणत्वस्य फलभावनायां करणत्वेन विधानं तत्रेत्यर्थो न तु गुणविधावित्यर्थः। तच्चेति। तृतीययोपात्तं दधिकरणत्वं चेत्यर्थः। होमाश्रयदधिकरणत्त्वेनेन्द्रियं भावयेदिति वाक्यार्थः। तथा च करणस्य कर्तुर्व्यापारव्याप्यत्वनियमात् केवलदध्नः कर्तृव्यापारानाविष्टस्य करणत्वानुपपत्तेर्होमस्य च वाक्यान्तरप्राप्तत्वात्तयोर्विध्यनुपपत्तेः। होमस्य गुणसंबन्धविधाने फलपदस्यानर्थकत्वप्रसङ्गात्तस्यफलसंबन्धविधौ च गुणपदस्यानर्थक्यापातात्फलगुणोभयसंबन्धविधौ च प्राप्ते कर्मण्यनेकपदार्थविधाने वाक्यभेदप्रसङ्गात् प्राप्ते कर्मण्यनेकपदार्थविधानस्य च वाक्यभेदापादकस्य 'प्राप्ते कर्मणि नानेको विधातुं शक्यते गुणः। अप्राप्ते तु विधीयन्ते बहवोऽप्येकयत्नत' इति वचनविरोधेन स्वीकर्तुमशक्यत्वात्तृतीययोपात्तस्य दधिकरणत्वस्य होमनिरूपितत्वेन फलभावनायां करणत्वमत्र विधीयत इति भावः। प्राप्ते कर्मणीत्यत्र कर्मणो द्रव्याद्युपलक्षणत्ववद् गुणस्यापि प्रधानोपलक्षणत्वमेकोद्देशेनानेकविधावेव वाक्यभेदात्। अत एव गृहैकत्वाधिकरणे 'गृहं संमार्ष्टी'त्यत्र ग्रहोद्देशेनैकत्वसंमार्जनविधौ वाक्यभेदाद् गृहैकत्व-

मविवक्षितमित्युक्तम्। तेन 'दध्नेन्द्रियकामस्य जुहुया'दित्यत्रेन्द्रियसंबन्धस्य प्रधान-संबन्धत्वेऽपि न क्षतिः। ननु कर्मणो द्रव्योपलक्षणत्वं भवतु, गृहस्य द्रव्यत्वाद् गुणस्य प्रधानो-पलक्षणत्वं कुत्र चरितार्थमिति चेत्, न। रेवत्यधिकरणे चरितार्थत्वात्। तत्र हि 'एतस्यैव रेवतीषु वारवन्तीयमयमग्निष्टोमसाम कृत्वा पशुकामो ह्येतेन यजेते'ति। तत्र च ननु पशु-कामस्य 'रेवतीर्नः सधमाद' इत्यादिरेवतीष्वृक्षु वारवन्तीयं साम गातव्यं, तथा चात्र रेवती-नामृचां वारवन्तीयनामकेन साम्ना यः संबन्धः सोऽयं पशुफलायाग्निष्टुति गुणो विधीयते। एतस्यैवेत्यत्र प्रकृतपरामर्शकेनैतच्छब्देनान्यव्यावर्तकेन चैवकारेणाग्निष्टुतः समर्प्यमाणत्वादिति चेत्, न। रेवत्यृगाधारकवारवन्तीयसाम्नोऽग्निष्टुत्कर्मसाधनत्वं पशुफलसाधनत्वं चेत्युभयस्य विधाने वाक्यभेदप्रसङ्गात्। ततश्च पशुफलकं रेवत्यृगाधारकवारवन्तीयगुणविशिष्टं कर्मान्तर-मत्र विधीयते न प्रकृते गुणः। एतच्छब्दस्य तु बुद्धिस्थपरामर्शकत्वेनाप्युपपत्तेः, एवकारस्य चायोगव्यवच्छेदकत्वमन्ययोगव्यवच्छेदकत्वं वोपपद्यत इत्युक्तम्। तस्मात्प्राप्ते होमे गुणफल-संबन्धोभयविधौ वाक्यभेदो दुष्परिहर इत्यलम्।

यहाँ अङ्ग तथा प्रधान के सम्बन्ध का बोधन अपेक्षित है। वस्तुतः इससे ज्ञात होता है कि कौन अङ्ग है और कौन प्रधान, तथापि अङ्गत्व का ही ज्ञान विशेषतः अपेक्षित है। अङ्ग सामान्यतः द्रव्य, गुण, देवता आदि हुआ करते हैं जिनसे अथवा जिनके लिए याग का सम्पादन होता है। व्याकरण के नियमानुसार कर्त्ता प्रधान होता है जो प्रथमा की विभक्तियों से सूचित है, द्वितीया, तृतीया आदि विभक्तियाँ गौण होती हैं, क्योंकि इन विभक्तियों में अन्त होने वाले शब्दों का क्रिया से सीधा सम्बन्ध नहीं हो पाता है। इनसे क्रिया के सम्पादन में सहायता तो मिलती है किन्तु वे स्वयं साक्षात् सम्पादक नहीं होते। मीमांसा में क्रिया की प्रधानता होती है। इससे साक्षात् सम्बद्धता के कारण कर्त्ता भी प्रधान होता है, शेष विभक्तियाँ गौण होती हैं। अतः प्रथमा के अतिरिक्त शेष विभक्तिगों में अन्त होने वाले पदों से गौणता का ही ज्ञान होता है। 'दध्ना' तृतीया में है, अतः उससे भी गौणता की ही अभिव्यक्ति होगी। इसी प्रकार ग्रन्थ में आगे द्वितीया से सप्तमी तक की विभक्तियों में अन्त होने वाले पदों का यथासंभव उदाहरण दिया गया है। गौणत्व का ज्ञान कराने से ही इस विधि का दूसरा नाम गुणविधि भी रखा गया है।

गुणविधि में पदों का अन्वय—उत्पत्तिविधि में निर्दिष्ट कर्म या यागविशेष का ग्रहण करण के रूप में करने का विधान है, वहाँ साध्य स्वर्ग आदि रहा है, किन्तु यहाँ पर (विनियोगविधि में) सम्पादनीय याग ही साध्य होता हैं। यही स्वाभाविक भी है क्योंकि विनियोगविधि का कार्य ही है याग के अङ्गों का ज्ञान कराना। अङ्ग अङ्गी के ही साधक होते हैं, अतः यहाँ याग अङ्गी हुआ और उसके लिए उपयोगी वस्तुएँ साधन हुई।

विनियोगविधि में अङ्ग के साध्य की प्राप्ति किसी दूसरे वाक्य से अपेक्षित नहीं. अपितु धातु का अर्थ ही साध्य का कार्य देता है। यहाँ कर्म या साध्य का अर्थ व्याकरणसम्मत द्वितीयान्तता नहीं है, अपितु कर्म याग का वाचक है जो वस्तुतः 'यज' या 'हु' धातु का अर्थ होता है। उदाहरण के लिए 'दध्ना जुहोति' ही लिया जाता है। यहाँ तृतीयाविभक्त्यन्त 'दधि' अङ्ग है। 'जुहोति' में 'हु' धातु तथा तिप् प्रत्यय वर्तमान में है। 'हु' धातु का अर्थ 'होम' होता है। वही प्रस्तुत प्रसङ्ग में अङ्गी है।

धात्वर्थ की आश्रयता—ग्रन्थकार के मतानुसार सामान्यतः धात्वर्थ द्रव्य आदि अङ्गों का साध्य ही होता है, किन्तु कहीं-कहीं वह साध्य न होकर आश्रय बनता है। उदाहरणार्थ—'दध्ना इन्द्रियकामस्य जुहुयात्' एक गुणविधि है जहाँ दधिनामक द्रव्य इन्द्रियबल को बढ़ाने के लक्ष्य से होम में विहित है। यहाँ फल इन्द्रिय है, ठीक वैसे ही जैसे 'ज्योतिष्टोमेन स्वर्गकामो यजेत' में

स्वर्ग है। अतः जैसे वहाँ उस मन्त्र का अर्थ है 'ज्योतिष्टोमेन स्वर्ग भावयेत्, वैसे ही 'दध्ना इन्द्रियकामस्य जुहुयात्' का भी अर्थ हुआ 'दध्ना इन्द्रियं भावयेत्' अथवा 'दधिकरणत्वेन इन्द्रियं भावयेत्'। स्पष्ट है कि यहाँ साध्य इन्द्रिय है न कि धात्वर्थ, जैसा पहले निरूपित किया है। अब प्रश्न यह है कि 'दधि' 'इन्द्रिय-रूप' साध्य को बलवृद्धि करता कैसे है? वह स्वतन्त्र रूप में इन्द्रिय का साक्षात् बलवर्धन न करके याग के माध्यम से करता है। अर्थात् दधि से याग सम्पन्न होता है और याग से इन्द्रिबल की वृद्धि होती हैं। इस पर याग या होम के माध्यम से अर्थात् उसमें स्थित होकर दधि इन्द्रिय की भावना करता है। यदि दधि के भक्षण आदि से स्वतः इन्द्रिय में बलसंचार हो जाता, तो यह प्रक्रिया न ग्रहण करनी पड़ती और न तो रागतः प्राप्त भक्षण आदि धर्म का विषय ही बन पाता। इससे सिद्ध है कि दधि से होम होता है जिसके माध्यम से इन्द्रियबल की वृद्धि होती है। याग के लिए इन्द्रिय प्रधान हो सकती है, किन्तु दधि के लिए प्रधान तो याग ही है। यह याग कहीं अन्यत्र से नहीं, अपितु जुहुयात् या यजेत् के धातु 'हु' या 'यज' से ही प्राप्त होता है, अन्यथा रागतः प्राप्त दधि भोजन का श्रुति से विधान ही न होता। अतः यहाँ दधिकरणत्व होम के आश्रित होता है। यह आश्रय होम दधि के समीप होने से प्राप्त होता है। यहाँ धात्वर्थ से समीपता का अर्थ दधि का होम के सम्पादन में सहायक होना है, जो एक वाक्य में प्रयोग से संभव है। करण साध्य से सम्बद्ध होने के कारण निकट होता है। यद्यपि 'जुहुयात्' में प्रत्यांश 'त' 'हू' धातु के अधिक निकट है क्योंकि एक पद में ही है तथापि प्रत्यय 'त' के भी लिङंश का साध्य उसी के आख्यात से ज्ञेय आर्थीभावना हैं और आर्थीभावना का साध्य धात्वर्थ है होम, याग आदि। इनका सम्बन्ध साक्षात् बोध्यबोधक है जब कि करण का आश्रयाश्रयी सम्बन्ध है।

अधिकारविधि से भेद—'दध्ना इन्द्रियकामस्य जुहुयात्' वाक्य यद्यपि गुणविधि के उदाहरण के रूप में प्रस्तुत किया गया है, तथापि बाह्य दृष्टि से यह 'ज्योतिष्टोमेन स्वर्गकामो यजेत' की भाँति अधिकार-विधि सा प्रतीत होता है, क्योंकि दोनों में अभीष्ट का निर्देश है, प्रथम में अभीष्ट है इन्द्रिय-सामर्थ्य और दूसरे में स्वर्ग। किन्तु वस्तुतः दोनों में अन्तर है। अधिकारविधि में होम स्वयं करण होता है इष्टसिद्धि में, किन्तु गुण-विधि में द्रव्य आदि का निर्देश होता है जो करण-रूप होम आदि का ही अङ्ग होता है। अतः यह अङ्गभूत दधि आदि द्रव्य इष्ट के साक्षात् साधन न होकर परम्परया होते हैं। 'दध्ना इन्द्रियकामस्य जुहुयात्' सामान्य गुणविधि 'दध्ना जुहोति' से अवश्य भिन्न है, अतः इसका स्वरूप स्वल्प भिन्न होने पर भी गुणविधि ही है।

विधेःश्रुत्यादिषट्प्रमाणानि

(१७) एतस्य विधेः सहकारिभूतानि षट्प्रमाणनि—श्रुति–लिङ्ग–वाक्य–प्रकरण–स्थान–समाख्यारूपाणि। एतत्सहकृतेनानेन विधिनाङ्गत्वं परोद्देशप्रवृत्त-कृतिसाध्यत्वरूपं पारार्थ्यापरपर्यायं ज्ञाप्यते।

इस विनियोग विधि के सहायक छः प्रमाण १. श्रुति २. लिङ्ग ३. वाक्य ४. प्रकरण ५. स्थान ६. समाख्या रूप में हैं। इन छः प्रमाणों की सहायता से इस विनियोगविधि के अङ्गत्व का ज्ञान होता है जिस (अङ्गत्व) का रूप है 'पर' अर्थात् उत्कृष्ट स्वर्गादिरूपी फल अथवा पर अर्थात् मुख्य दर्शपूर्णमास आदि यागरूपी साधन, अथवा अपने से भिन्न उक्त किसी के भी उद्देश्य से कार्य में प्रवृत्त हुए पुरुष की कृति—व्यापार से सिद्ध होने वाला। (यह अङ्गत्व) पारार्थ्य अर्थात् 'पर' के लिए होने का दूसरा नाम है।

एतस्य विधेरिति। **लक्षितस्य विनियोगविधेरित्यर्थः।** एतत्सहकृतेनेति। **एतत्प्रमाणषट्कसहकृतेनेत्यर्थः। विनियोगविधिसहकारित्वं च तेषां विनियोगविधिकृतविनियोगे प्रमाणत्वाद्भवतीति बोध्यम्। अनेन विधिनाङ्गत्वं ज्ञाप्यत इत्यन्वयः। अङ्गत्वं लक्षयति—**

परोद्देशेत्यादिना। यद्वा,—ननु न शेषत्वापरनामकस्य विनियोगविधिबोध्यत्वं संभवति तस्यानिरूपणात्। तदनिरूपणं च लक्षणप्रमाणाभावान्न तावदविनाभूतत्वं तत्त्वम्, आग्नेयादीनां षण्णामविनाभूतत्वेन परस्परं शेषत्वापत्तेः। नापि प्रयोज्यत्वं, शेषत्वं 'पुरोडाशकपालेन तुषानुपवपती'त्यत्र तुषोपवपनं प्रति शेषत्वेन श्रुतस्यापि पुरोडाशकपालस्योपवापाप्रयोज्यत्वात्। न च विध्यन्तरविहितत्वं शेषत्वमिति वाच्यम्। 'इषे त्वेति च्छिनत्ती'त्यत्र पलाशशाखाच्छेदनस्य सत्यपि शेषत्वे विध्यादिविहितत्वेनाव्याप्तिप्रसङ्गात्। नापि तत्र प्रत्यक्षं प्रमाणं, लोके तत्त्वेऽपि वेदे तस्य शब्दैकगम्यत्वोपगमात्। नापि शब्दः, केनापि शब्देन शेषशेषिभावस्याप्रतीयमानत्वात्। लोके क्रियाकारकान्वयस्यैव व्युत्पत्तिप्रयोजकत्वदर्शनेन तत्र कस्यापि शब्दस्य व्युत्पत्त्यग्रहात्। तत्र च न हेतुरप्युपलभ्यत इति चेत्, अत्रोच्यते—न तावदस्य लक्षणासंभवः, पारार्थ्यस्यैव निर्दुष्टशेषत्वलक्षणत्वात्। नापि तत्र प्रमाणाभावः, शब्दगम्यत्वात्। न च तत्र व्युत्पत्त्यभावात्कथं शब्दगम्यत्वमिति वाच्यम्। शेषशेषिभावस्यान्वयेऽन्तर्भावात्तत्र व्युत्पत्त्युपपत्तेः। न हि गुणप्रधानभावमन्तरेणान्वयः संभवति, द्वयोः प्रधानयोर्गुणयोर्वा परस्पराकाङ्क्षारहितत्वेनान्वययोग्यत्वाभावात्। ततो यथा क्रियाकारकतदन्वयाः शब्दगम्यास्तथा तदन्वयान्तर्गतः शेषशेषिभावोऽपि शब्दगम्य एव। नापि तत्र हेतोरभावः, विवादास्पदः प्रयाजानुयाजप्रोक्षणादिः शेषो भवितुमर्हति, पारार्थ्यात् भृत्यादिवदिति हेतुसत्त्वात्। न च पारार्थ्यस्यैव लक्षणत्वे च हेतुत्वे सांकर्यप्रसङ्ग इति वाच्यम्। सेनानां महारथिवदाकारभेदेन तद्भेदोपपत्तेः। दृष्टान्ते गृहीतव्याप्तिं हि सहायीकृत्य बोधकत्वाकारो हेतुरितरव्यावृत्त्या बोधकत्वाकारश्च लक्षणमिति तद्भेद इत्यभिप्रेत्याङ्गत्वं लक्षयति—परोद्देशेति। परं स्वर्गादिरूपमुत्कृष्टं साध्यं फलं तदुद्देशेन संकलनया मनसि सिद्धवत्करणेन तत्साधनयागादिषु प्रवृत्तस्य पुरुषस्य कृतिसाध्यत्वरूपं कृतिव्याप्यत्वरूपमित्यर्थः। तथा च स्वर्गफलोद्देशेन दर्शादिषु प्रवृत्तपुरुषकृतिव्याप्यत्वं प्रयाजानुयाजावघातप्रोक्षणादीनां सुप्रसिद्धमिति तेषां शेषत्वम्। यद्वा,—परशब्दो दर्शादिपरः। तथा च तदुद्देशेन प्रवृत्तपुरुषकृतिव्याप्यत्वं प्रयाजादीनां भवतीति तेषां तत्त्वम्, दर्शादेस्तु प्रयाजाद्युद्देशेन प्रवृत्तपुरुषकृतिव्याप्यत्वाभावान्न तत्रातिव्याप्तिः। केवलप्रयाजाद्युद्देशेन कस्यचिदपि पुरुषस्य प्रवृत्त्यभावादिति ध्येयम्। ननु 'कर्माण्यपि जैमिनिः फलार्थत्वात्', 'तत्फलं च पुरुषार्थत्वात्' 'पुरुषश्च कर्मार्थत्वादि'त्यत्र जैमिनिसूत्रत्रये कर्मफलपुरुषाणामपि शेषत्वमुक्तं, तत्र च कर्मणां फलोद्देशेन प्रवृत्तकृतिसाध्येऽपि फलपुरुषयोस्तु पुरुषकर्मोद्देशेन प्रवृत्तपुरुषकृत्यसाध्यत्वात्कथं शेषत्वमिति चेत्, अत्र वक्तव्यम्—स्वर्गस्य साक्षात्कृतिसाध्यत्वाभावेऽपि यदा पुरुषः स्वस्वर्गोद्देशेन दर्शादिषु प्रयतते तदैव कालान्तरेऽपूर्वद्वारेण स्वर्गो जायते, नान्यथेति भवति पुरुषकृतिव्याप्यत्वं तस्य, तथा स्वर्गफलोद्देशेन दर्शाद्युद्देशेन वा प्रवृत्तः पुरुषो यदैव तदनुष्ठानानुकूलं स्वं प्रयत्नेन संपादयति तदैव कर्म निष्पद्यते नान्यथेति तस्यापि भवति पुरुषकृतिव्याप्यत्वमिति सर्वमनवद्यम्।

यह भाव व्यक्त हो चुका है कि विनियोगविधि का वास्तविक कार्य है अङ्गत्व का ज्ञापन करना। 'कोई वाक्य अङ्ग कैसे है' आदि का ज्ञान कराने के लिए विनियोग विधि को कुछ सहायता अपेक्षित होती है। द्रव्य, गुण, आदि होम के सहायकों का उल्लेख होने से उनकी अङ्गता तो स्वतः सिद्ध है, किन्तु वे किस यागविशेष से सम्बद्ध है और कर्म, करण, अधिकरण आदि किस रूप में सम्बद्ध है

आदि के प्रामाणिक ज्ञान से लिए जिनका अवलम्ब लिया जाता है वे श्रुति आदि प्रमाण छः है। इनका लक्षण और उदाहरण आगे यथा स्थान दिया जायेगा।

'अङ्ग' का लक्षण ग्रन्थकार ने स्पष्ट दिया है। कोई व्यक्ति किसी उत्कृष्ट इष्ट स्वर्ग आदि की कामना करता है। यही उसका 'परोद्देश' है। इस उत्कृष्ट लक्ष्य के लिए वह प्रवृत्त होता है। उसकी इस प्रवृत्ति का भी साध्य दर्शपूर्णमास आदि याग होता है। अतः उत्कृष्ट अभीष्ट स्वर्ग आदि की प्राप्ति के लिए दर्शपूर्णमास आदि यागों में प्रवृत्त पुरुष के व्यापार प्रयाज, अनुयाज आदि अङ्ग कहे जाते हैं। 'पर' का अर्थ उत्कृष्ट न लेकर यदि प्रधान या मुख्य समझा जाये तो उक्त वाक्यांश का अर्थ होगा पुरुष के द्वारा किया जा रहा वह कार्यसमूह जिससे मुख्य याग दर्शपूर्णमास आदि निष्पन्न होते हैं। ये कार्यसमूह प्रयाज, अनुयाज आदि ही हैं। 'पर' का अर्थ 'दूसरा' अर्थात् अपने से भिन्न भी होता है। अतः अपने से भिन्न मुख्य फल या प्रधान साधन को सम्पन्न करने के लिए प्रवृत्त पुरुष के व्यापारों से सिद्ध होने वाले कार्य भी, जो प्रयाज आदि ही हैं, अङ्ग कहे जाते हैं। 'पर' के उक्त तीनों अर्थों--उत्कृष्ट लक्ष्यभूत स्वर्गादि, प्रधान याग दर्शपूर्णमास आदि अथवा अपने से भिन्न जो कुछ भी हो,—से यही सिद्ध होता है कि अङ्ग की सार्थकता दूसरे के लिए होने में ही है। इस निर्गलित अर्थ को 'पारार्थ्यापरपर्याय'—दूसरे के लिए होने का नामान्तर शब्दों से व्यक्त किया गया है। जब किसी वस्तु की सार्थकता दूसरे के लिए होने में निहित होती है तब स्पष्ट है कि वह स्वयं में गौण होती है और जिसके लिए हैं वह प्रधान या पर होती है। इसी से अङ्गता, गौणता का भाव व्यक्त करती है। उदाहरणार्थ—प्रयाज, अनुयाज आदि की सार्थकता अपने लिए नहीं है। वे इसीलिये सार्थक हैं कि दर्शपूर्णमास आदि यागों का समष्टि-अपूर्व सम्पन्न हो सके।

(१८) तत्र निरपेक्षो रवः श्रुतिः। सा च त्रिविधा—विधात्री, अभिधात्री, विनियोक्त्री च। तत्राद्या लिङ्गाद्यात्मिका। द्वितीया व्रीह्यादिश्रुतिः। यस्य च शब्दस्य श्रवणादेव संबन्धः प्रतीयते सा विनियोक्त्री।

उन (छः प्रकार के प्रमाणों) में (शेषत्व अथवा अङ्गत्व का बोध कराने के लिए दूसरे प्रमाण की) आवश्यकता से रहित शब्द श्रुति (नामक प्रमाण) है। वह तीन प्रकार की होती हैं—१. विधात्री २. अभिधात्री और ३. विनियोक्त्री। इनमें से पहली लिङ् आदि रूप वाली हैं। दूसरी व्रीहि आदि श्रुति है। और जिस शब्द के सुनने से ही सम्बन्ध प्रतीत होता है वह विनियोक्त्रीविधि है।

तत्र श्रुतिं लक्षयति—तत्र निरपेक्षो रव इति। तत्र षण्णां श्रुत्यादिप्रमाणानां मध्ये इत्यर्थः। स्वकरणीये शेषत्वबोधे प्रमाणान्तनिरपेक्षः शब्दः श्रुतिरित्यर्थः। रव इत्युक्ते वाक्यादावतिप्रसङ्गस्तद्वारणाय निरपेक्ष इत्युक्तम्। तां च श्रुतिं विभजते—सा च त्रिविधेति। विधात्री विधानकर्त्री, अभिधात्री अभिधानकर्त्री, विनियोक्त्री विनियोगकर्त्री। तत्राद्यामुदाहरति—तत्राद्या लिङाद्यात्मिकेति। तत्र तिसृणां श्रुतीनां मध्य इत्यर्थः। आदिना लेडादिग्रहः। अभिधात्रीमुदाहरति—द्वितीया व्रीह्यादीति। तृतीयां विनियोक्त्रीं लक्षयति—यस्य चेत्यादिना। संबन्ध इति। विनियोज्यविनियोजकभावःसंबन्ध इत्यर्थः। शेषशेषिणोरिति वा शेषः।

श्रुति प्रमाण शेष प्रमाणों में प्रथम है, जिससे यह स्पष्ट ज्ञात होता है कि कौन-सी वस्तु किसका अङ्ग है। ध्यान रखना है कि श्रुति का अर्थ वेद के शब्द या ध्वनि है न कि श्रोत्रेन्द्रिय या सुनना। यहाँ वह शब्द पारिभाषिक है जिसके लक्षण में निहित 'निरपेक्ष' शब्द महत्त्वपूर्ण है। इस पद के

प्रयोग से श्रुति की भिन्नता उन लिङ्ग वाक्य आदि प्रमाणों से सिद्ध होती है जो सापेक्ष हैं, लिङ्ग आदि की सापेक्षता इसलिये सिद्ध होती है क्योंकि वे क्रमशः दुर्बल होते जाते हैं और अर्थ-प्रत्यायन के लिए अपने पूर्ववर्तियों पर आश्रित होते हैं, अर्थात् लिङ्ग श्रुतिसापेक्ष है, वाक्य लिङ्गसापेक्ष और यही क्रम चलता रहता है। किन्तु श्रुति को किसी की अपेक्षा नहीं। वह ऐसा शब्द है जो विनियोग में अङ्गत्व के ज्ञापन के लिए स्वयं समर्थ है। शेष प्रमाणों से यह प्रबलतम है।

श्रुति के तीन भेद—यहाँ श्रुति के वैदिक शब्दों का पर्याय-सा होने से ग्रन्थकार ने एक प्रकार से पूरे वेद का ही तीन भागों में विभाजन कर दिया है। विधान करने वाली–विधानकर्त्री–विधि को ही विधात्री कहते हैं। इसका उदाहरण 'ज्योतिष्टोमेन स्वर्गकामः यजेत', 'अग्निहोत्रं जुहोति' सदृश वाक्यों में हैं, जहाँ 'यजेत' और 'जुहोति' का सीधा सम्बन्ध क्रमशः ज्योतिष्टोम एवं अग्निहोत्र से हो जाता है। शाब्दीभावना के प्रसङ्ग में स्पष्ट किया जा चुका है कि विधायिका शक्ति लिङ् में ही रहती है, अतः यहाँ भी स्पष्ट है कि विधात्रीविधि लिङादि के रूप में ही प्राप्त होती है। 'लिङादि' में 'आदि' का अर्थ 'लेट्' अथवा विधान की शक्ति से युक्त अन्य लकार हैं।

अभिधात्री का दूसरा नाम अभिधानकर्त्री है। अभिधात्री श्रुति वैदिक वाक्य में आये उन शब्दों को कहते हैं जो कोई विधान नहीं करते, अपितु किसी वस्तुमात्र का अभिधा से कथन करते हैं। यथा–'व्रीहीन अवहन्ति', 'व्रीहीन् प्रोक्षति' आदि में 'व्रीहीन्' पद का अर्थ केवल 'धान के दाने' है।

विनियोक्त्री श्रुति उन शब्दों का ज्ञापन करती है जिनको सुनते ही अङ्ग का प्रधान पदार्थ से सम्बन्ध प्रकट हो जाता हैं। इसके उदाहरण आगे दिये जायेंगे। मूल में पठित 'सा विनियोक्त्री' में 'सा' 'सः' शब्द का वाचक है। विनियोक्त्री के साथ होने से स्त्रीलिङ्ग हुआ है।

श्रुति के विभागों में विधात्री तथा अभिधात्री का नाममात्र लिया गया है। उनका विशेष निरूपण यहाँ ग्रन्थकार ने नहीं किया है, क्योंकि वस्तुतः प्रसङ्ग विनियोग का है। सामान्यनिर्देश यों ही पूर्णता के लिए कर दिया गया है, यद्यपि बहुत अपेक्षित नहीं था।[1]

ग्रन्थ के मूल अंश में प्रयुक्त 'सम्बन्ध' का अर्थ किसी भी प्रकार का सम्बन्ध नहीं है, वस्तुतः यहाँ अपेक्षित है विनियोज्य-विनियोजक-भाव। कौमुदीकार के अनुसार 'सम्बन्ध' पद के पूर्व 'शेष-शेषिणोः'—अङ्ग एवं अङ्गी-पद का ग्रहण कर लेने से अर्थबोध में स्पष्टता होती।

विनियोक्त्री श्रुतिस्त्रिधा

(१९) सापि त्रिविधा—विभक्तिरूपा, एकाभिधानरूपा, एकपदरूपा चेति। तत्र विभक्तिश्रुत्या अङ्गत्वं यथा 'व्रीहिभिर्यजेते'ति तृतीयाश्रुत्या व्रीहीणां यागाङ्गत्वम्। तदपि पुरोडाशप्रकृतितया। यथा पशोर्हृदयादिरूपहविः प्रकृतितया यागाङ्गत्वम्।

'अरुणयापिङ्गाक्ष्या एकहायन्या गवा सोमं क्रीणाती' त्यस्मिन् वाक्ये आरुण्यस्यापि तृतीयाश्रुत्या क्रयाङ्गत्वम्। तदपि गोरूपद्रव्यपरिच्छेदद्वारा न तु साक्षात्, अमूर्तत्वात्।

'व्रीहीन्प्रोक्षती'ति प्रोक्षणस्य व्रीह्यङ्गत्वं द्वितीयाश्रुत्या। तच्च प्रोक्षणं न व्रीहिस्वरूपार्थम्, तस्य तेन विनाप्युपपत्तेः, किन्त्वपूर्वसाधनत्वप्रयुक्तम्। व्रीहीनप्रोक्ष्य यागानुष्ठानेऽपूर्वानुपपत्तेः। एवं सर्वेष्वङ्गेष्वपूर्वप्रयुक्तमङ्गत्वं बोध्यम्।

---

१. यद्यपि अत्र विनियोगप्रस्तावे विधात्र्यभिधात्र्योः निरूपणं नातीव संगतम्, तथापि श्रुतिप्रसङ्गात् तयोः विधिसहकारित्वाच्च तन्निरूपणमिति बोध्यम्। मीमांसान्यायप्रकाश में सारविवेचनी,

एवम् 'इमामगृभ्णन्रशनामृतस्येत्यश्वाभिधानीमादत्त' इत्यत्र द्वितीयाश्रुत्या मन्त्रस्याश्वाभिधान्यङ्गत्वम्।

'यदाहवनीये जुहोती'त्याहवनीयस्य होमाङ्गत्वं सप्तमीश्रुत्या। एवमन्योऽपि विभक्तिश्रुत्या विनियोगो ज्ञेयः।

'पशुनायजेते'त्यत्रैकत्वपुंस्त्वयोः समानाभिधानश्रुत्या कारकाङ्गत्वम्। यजेतेत्याख्याताभिहितसंख्याया भावनाङ्गत्वं समानाभिधानश्रुतेरेव एकपदश्रुत्या च यागाङ्गत्वम्।

न चामूर्तायास्तस्याः कथं भावनाङ्गत्वमिति वाच्यम्, कर्तृपरिच्छेदद्वारा तदुपपत्तेः। कर्ता चाक्षेपलभ्यः।

आख्यातेन हि भावनोच्यते। सा च कर्तारं विनानुपपन्नेति तमाक्षिपति।

वह (विनियोक्त्री श्रुति) भी तीन प्रकार की है—१. विभक्तिरूपा २. एकाभिधानरूपा और ३. एकपदरूपा। इनमें विभक्तिश्रुति से अङ्गत्व का उदाहरण 'व्रीहिभिर्यजेत'—धान से याग करे—(सदृश वाक्यों में मिलता हैं। व्रीहि में प्रयुक्त) तृतीया विभक्ति से व्रीहि की याग की अङ्गता (ज्ञात होती है।) वह भी (अर्थात् व्रीहि की यागाङ्गता भी) पुरोडाश की प्रकृति होने से ही (सिद्ध होती है) जैसे कि हृदय आदि रूपी हव्य की प्रकृति होने से ही पशु की यागाङ्गता (स्वीकार की जाती है।)

'अरुणया एकहायन्या गवा सोमं क्रीणाति'—रक्तवर्ण, एकवर्षीया गौ से सोम खरीदता है—इस वाक्य में रक्तवर्ण की क्रय की अङ्गता तृतीयाश्रुति से प्राप्त होती है। वह भी (अर्थात् क्रय की अङ्गता भी) गौरूपी द्रव्य के विशेषण के रूप से सिद्ध होती है, न कि साक्षात, क्योंकि (अरुणता स्वयं में) अमूर्त है।

'व्रीहीन् प्रोक्षति'—धानों का प्रोक्षण करता है—में प्रोक्षण की व्रीहि की अङ्गता द्वितीया श्रुति के कारण है। और वह प्रोक्षण भी व्रीहि की स्वरूप की सिद्धि के लिए नहीं (अभिप्रेत है), क्योंकि उसकी (धान के स्वरूप की) उस (प्रोक्षण) के अभाव में भी निष्पत्ति होती है, अपितु (प्रोक्षण का) प्रयोग अपूर्व के साधन के लिए होता है, क्योंकि धान का प्रोक्षण किये विना याग का अनुष्ठान करने से अपूर्व की निष्पत्ति नहीं होती। इसी प्रकार सभी अङ्गों में अपूर्व की निष्पत्ति के लिए ही अङ्गता समझनी चाहिये।

इसी भाँति 'इमाम् अगृभ्णन् रशनाम् ऋतस्य' इति अश्वाभिधानीमादत्ते'--फल से सम्बन्धित सत्य (ऋतस्य) की इस रज्जु को पकड़ा, इस मन्त्र से घोड़े की रस्सी को पकड़ता है--इस वाक्य में द्वितीया श्रुति से मन्त्र की अश्वाभिधानी की अङ्गता सिद्ध होती है।

'यदाहवनीये जुहोति'--जो कि आहवनीय अग्नि में होम करता है--इसमें आहवनीय होम का अङ्ग सप्तमी श्रुति से सिद्ध होता है। इसी प्रकार विभक्ति-श्रुति के द्वारा और भी विनियोग समझे जाने चाहिये।

'पशुना यजेत' इस वाक्य में एकत्व संख्या तथा पुल्लिङ्गता दोनों की कारक की अङ्गता समानाभिधानश्रुति से होती है। 'यजेत' में आख्यात से द्योतित संख्या समानाभिधानश्रुति से ही (शाब्दी) भावना का अङ्ग होती है और एकपदश्रुति से वह (धात्वर्थ) याग का अङ्ग होती है।

'अमूर्त वह (संख्या) भावना का अङ्ग कैसे हो सकती है, यह नहीं कहना चाहिये, क्योकि उस (संख्या की अङ्गता) की संगति कर्त्ता के सम्बन्ध से हो जाती है। (उक्त न होने से) कर्त्ता की प्राप्ति आक्षेप—अर्थापत्ति-से होती हैं।

आख्यात से (आर्थी) भावना का कथन होता है। वह (भावना) कर्त्ता के अभाव में संभव नहीं होती, अतः उस (कर्त्ता) का आक्षेप कर लेती है—(अर्थापत्ति से ग्रहण कर लेती है।)

विनियोक्त्रीमपि श्रुतिं विभजते—सापि त्रिविधेति। **तत्र विभक्तिरूपां विनियोक्त्रीमुदाहरति**—तत्रेति। **यद्वा,–ननु विनियोक्त्र्याः श्रुतेर्लक्षणविभागावनुपपन्नौ तस्या अङ्गत्वाबोधकत्वादित्याशङ्क्य तत्र विभक्तिश्रुतेरङ्गत्वबोधकत्वं दर्शयति**—तत्रेति। **तिसृणां विनियोक्त्रीणां मध्य इत्यर्थः।** विभक्तिश्रुत्याङ्गत्वं **बोध्यत एव तथोपलब्धेरिति शेषः।** कुत्रोपलम्भ इति **वीक्षायां तत्रोदाहरणमाह**—यथा व्रीहिभिरिति। तदपीति। **व्रीहीणां यागाङ्गत्वमपीत्यर्थः। व्रीहीणां पुरोडाशप्रकृतितया यागाङ्गत्वे दृष्टान्तमाह—यथा** पशोरिति। **'अथ हृदयस्याग्रेऽवद्यत्यथ वक्षस' इत्यादिशास्त्रात्, पशोर्हृदयादिरूपहविरुपादानतयैव** यागाङ्गत्वं न साक्षात्, **तद्वदत्रापीत्यर्थः। क्वचित्तु साक्षात्पशोरेव यागाङ्गत्वं यथा पात्नीवतयागे। तत्र हि पशोराग्नेयस्य जीवत एवोत्सर्गः क्रियते, 'पर्यग्निकृतं पत्नीवन्तमुत्सृजन्ती'ति** वाक्यात्। **तथा च यत्र पशोर्विशसनं हृदयाद्यवदानं च भवति तत्र हृदयादिप्रकृतिरेव पशुरिति सिद्धम्।**

तृतीयाविभक्तिरूपाया **विनियोक्त्र्या** उदाहरणान्तरमाह—आरुण्यस्यापीत्यादिना। **'अरुणया पिङ्गाक्ष्या एकहायन्या सोमं क्रीणाती'ति ज्योतिष्टोमप्रकरणे श्रुतस्यारुणिमगुणस्येत्यर्थः। क्वचित्पुस्तके मूलग्रन्थ एवेदं वाक्यमुदाहृतम्। अत्रारुणशब्दोऽरुणिमानं गुणमाचष्टे, तस्य गुणिविषयतया प्रयुक्तस्यापि 'नागृहीतविशेषणा विशिष्टबुद्धि'रिति न्यायेन गुणबोधकत्वादन्वयव्यतिरेकसिद्धगुणमात्रव्युत्पत्तिकत्वाच्च। पिङ्गाक्षीशब्दस्तु पिङ्गलवर्णविशिष्टाक्षिमद्द्रव्यवाचको भवति। एकहायनीशब्दश्चैकसंवत्सरविशिष्टगोद्रव्यवाचकः। तौ च शब्दौ यद्यप्येकगोवाचकौ भवतस्तथापि विशेषणभूतधर्मभेदाच्छब्दद्वयमुपपद्यते, तच्च युगपत्प्रवृत्तं सद्धर्मद्वयविशिष्टं गोद्रव्यं क्रयसाधनत्वेन विधत्ते। अरुणशब्दस्त्वरुणिमगुणस्य कारकाणां क्रियान्वयनियमेन सोमक्रयणान्वयेऽपि साक्षात्तत्साधनत्वेनामूर्तमरुणिमानं गुणं न विदधाति, अमूर्तस्य साक्षात्तत्साधनत्वासंभवात्, किंतु सोमक्रयणसाधनीभूतगोद्रव्यपरिच्छेदकत्वेन** तत्साधनम्। **तथा च परस्परमनन्वितानामेवारुण्यपिङ्गाक्षीत्वादीनां कारकाणां क्रियान्वयनियमात्करणविभक्तिभिः सोमक्रयणेऽङ्गत्वेनान्वये सत्यारुण्यादेश्च गुणत्वेनामूर्तस्य स्वतः सोमक्रयणसाधनत्वायोगात्तत्साधनगोद्रव्यपरिच्छेदकत्वेन पश्चात्परस्परं पार्ष्णिकान्वयो भवति एकहायनी गौः, सा पिङ्गाक्ष्यरुणा** चेत्याशयवानाह—तदपीति। **क्रयाङ्गत्वमपीत्यर्थः।**

द्वितीयारूपां विनियोक्त्रीं श्रुतिमुदाहरति—व्रीहीन्प्रोक्षतीति तच्चेति। **प्रोक्षणस्य व्रीह्यङ्गत्वं चेत्यर्थः। तच्चेत्यस्यापूर्वसाधनत्वप्रयुक्तमित्यनेनान्वयः। प्रोक्षणं व्रीहिस्वरूपार्थमेव स्यादिति कुतस्तस्यापूर्वप्रयुक्तं व्रीह्यङ्गत्वमित्यत आह**—प्रोक्षणं नेति। **प्रोक्षणस्य व्रीहिस्वरूपार्थत्वाभावे हेतुमाह**—तस्येत्यादिना। **तस्य व्रीहिस्वरूपस्य। तेन विना प्रोक्षणेन विनेत्यर्थः।** ननु **यागानुष्ठानेनैवापूर्वसिद्धौ किं प्रोक्षणेन व्रीहिस्वरूपानुपयोगिनेत्यत आह**—व्रीहीनप्रोक्ष्येति। **अनुपनीतानुष्ठितवेदाध्ययनस्यापूर्वाजनकत्ववद् व्रीहीणां प्रोक्षणं न कृत्वा तैरनुष्ठितस्य यागस्यापूर्वजनकत्वानुपपत्तेरित्यर्थः। प्रोक्षणे सिद्धमपूर्वप्रयुक्तं व्रीह्यङ्गत्वमन्यत्रातिदिशति**—एवमित्यादिना। **एवं दर्शपूर्णमासप्रकरणसहकृतया द्वितीयाश्रुत्या**

प्रोक्षणस्य तण्डुलनिष्पत्तिप्रणालिकया व्रीहीणामपूर्वसाधनत्वप्रयुक्ताङ्गत्ववत्सर्वेषामङ्गानामवघातादीनां तत्तत्प्रमाणवशादपूर्वसाधनत्वप्रयुक्तमेवाङ्गत्वमित्यर्थः ।

द्वितीयारूपाया विनियोक्त्र्याः श्रुतेरुदाहरणान्तरमाह—एवमित्यादिना । एवम्, द्वितीयाश्रुत्या प्रोक्षणस्य व्रीह्यङ्गत्वादित्यर्थः । ऋतस्येति । सत्यफलस्येत्यर्थः । तथा च सत्यफलसंबन्धिनीं रशनामिमां गृहीतवन्त इति मन्त्रार्थः । अश्वाभिधान्यङ्गत्वमिति । अश्वाभिधान्या अश्वरशनाया अङ्गत्वमित्यर्थः । केचित्तु वाक्यीयमिमं विनियोगमाहुः । अन्ये तु वाक्याल्लिङ्गस्य बलीयस्त्वेन यावद्वाक्यादश्वाभिधान्यङ्गत्वं भवति तावद्रशनामात्राङ्गत्वमेव स्यादिति तत्र दूषणमाहुः । वाक्यविनियोगवादिनस्तु मन्त्रस्य न रशनामात्रप्रकाशकत्वं किंतु ऋतस्य सत्यफलसाधनभूतस्याश्वस्येमां रशनां गृहीतवन्त इत्यश्वरशनाप्रकाशकत्वमेवेति लिङ्गसहकृतादश्वाभिधानीमादत्त इति वाक्यान्मन्त्रस्याश्वरशनादाने विनियोग इति स्वाशयमाहुः । रशनाविशेषस्य न लिङ्गमिति मूलग्रन्थतात्पर्यम् ।

सप्तमीविभक्तिरूपां विनियोक्त्रीं श्रुतिमुदाहरति—यदाहवनीय इति । एवमन्योऽपीति । 'दध्ना जुहोति, पयसा जुहोती'त्यादौ होमानुवादेन दध्यादेस्तदङ्गत्वेन तृतीयाविभक्तिश्रुत्या विनियोग इत्यर्थः ।

एकाभिधानरूपामेकपदरूपां च विनियोक्त्रीं श्रुतिमुदाहरति—पशुना यजेतेतीति । पशुनेत्यत्रैकपदश्रुत्या ह्येकत्वपुंस्त्वयोः पशुद्रव्याङ्गत्वमेकाभिधानश्रुत्या च कारकाङ्गत्वं च भवति । यजेतेत्यत्राप्याख्याताभिहितसङ्ख्याया एकाभिधानश्रुत्या भावनाङ्गत्वमेकपदश्रुत्या च यागाङ्गत्वं च भवतीति भावः । यजेतेत्यभिहितसङ्ख्यायाः समानाभिधानश्रुतेरेव भावनाङ्गत्वमिति संबन्धः । समानाभिधानश्रुतेरेवेति । एकशब्दरूपप्रत्ययश्रुतेरेवेत्यर्थः । अभिधीयतेऽनेनेति व्युत्पत्त्याभिधानशब्देन शब्द उच्यते । पदश्रुत्या चेति । यजेतेत्येकपदश्रुत्या चेत्यर्थः ।

अत्रेदं बोध्यम्—यथा 'दशापवित्रेण ग्रहं संमार्ष्टी'त्यत्रैकत्वमुद्देश्यगतत्वेनाविवक्षितं तथा प्रकृते नोद्देश्यगतमेकत्वं किंतु विधेयगतत्वेन विवक्षितमेव । न च ग्रहं संमार्ष्टीत्यत्र नोद्देश्यगतमेकत्वं किंतु स्वयं विधेयमिति वाच्यम् । 'ग्रहं संमृज्यात्तं संमृज्यात्तैश्चैक'मिति वाक्यभेदप्रसङ्गात् । तथा च ग्रहमिति द्वितीयया ग्रहस्येप्सिततमत्वेनोद्देश्यत्वात्प्रयोजनत्वाच्च प्राधान्यं गम्यते । संमार्गस्तु ग्रहं प्रति गुणभूत एव । ततश्च 'प्रतिप्रधानं गुण आवर्तनीय' इति न्यायाद्यावन्तो ग्रहास्तावतां सर्वेषां संमार्ग इति निश्चये सति कति ग्रहाः संमार्जनीया इति बुभुत्साया अभावादुद्देश्यगतमेकत्वं श्रूयमाणमपि न विवक्ष्यते । यस्य च विशेषणस्यविवक्षामन्तरेणोद्देश्यप्रत्ययो न पर्यवस्यति तादृशं विशेषणमुद्देश्यगतमपि विवक्ष्यत एव, यथा तत्रैव ग्रहत्वं तद्विवक्षामन्तरेण चोद्देश्यस्वरूपं ज्ञातुमशक्यमेव उद्देश्यतावच्छेदकनिर्णयमन्तरेण चमसेष्वपि संमार्गप्रसङ्गात् । तेन च तत्र तद्वारणं फलम् । 'पशुना यजेते'त्यत्र तु यागं प्रति पशोर्विधेयत्वेन गुणभूतत्वात् 'प्रतिप्रधानं गुण आवर्तनीय' इति न्यायप्रवेशो नास्ति । यागस्य च प्रधानत्वादिति । कियता पशुना यागः कर्तव्य इति बुभुत्सायाः सत्त्वादेकवचनेन प्रतीयमानं विधेयगतमेकत्वं विवक्षितमेव । किंच लिङ्गसंख्याविशेषितस्यैकपदोपात्तस्य पशुद्रव्यरूपकारस्य विधेयपशुद्वारा तत्तल्लिङ्गसंख्यादेरपि क्रियाङ्गत्वादेकत्वादिकं विवक्षितम् ।

किंच तृतीयया विभक्त्याऽभिहितयोर्लिङ्गसंख्ययोर्विभक्त्यभिहिततया करणकारकशक्त्यात्मसात्कृतयोः प्रातिपदिकार्थपशुद्रव्येण सह संबन्धमनादृत्य पशुवदेव साक्षाद्यागक्रियाङ्गत्वेन विधौ पश्चादरुणैकहायनीन्यायेन वा परस्परमन्वयोऽपि भवति—यो यागाङ्गत्वेन विहितः पशुः पुमांश्चेति। तस्मात् सर्वथा पश्वेकत्वादिकं विवक्षितमेवेति।

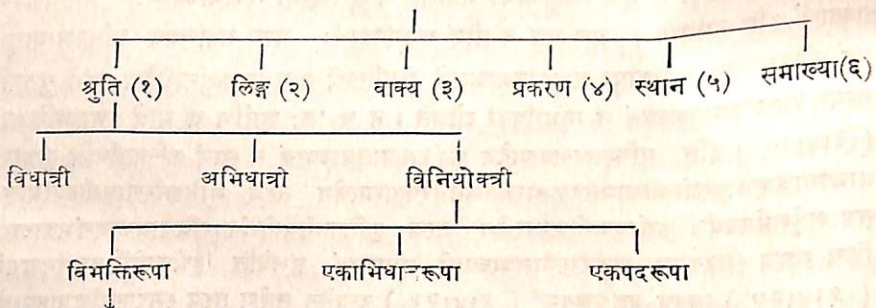
ननु संख्याया न यागाङ्गत्वं भावनाङ्गत्वं च भवति, गुणत्वेनामूर्तत्वात्। न ह्यमूर्तस्य रूपादेः कुत्रचिदङ्गत्वं दृश्यते, व्रीह्यादिद्रव्यस्यैव मूर्तभूतस्य ह्यङ्गत्वमित्याशङ्क्य परिहरति—न चेत्यादिना। भावनाया यागस्याप्युपलक्षणत्वम्। न चेति प्रतिषेधे हेतुमाह—कर्त्रिति। कर्तुरर्थभावनारूपव्यापारवतो यागकर्तुः परिच्छेदद्वारा संख्याया भावनाद्यङ्गत्वोपपत्तेरित्यर्थः। नन्वेवं समानाभिधानश्रुत्या साक्षादेव कर्तरि संख्याख्यातार्थभूतान्वये तु तस्यैवाख्यातार्थत्वात्, भावना तु कर्तृव्यापारभूता धातुनापि लभ्यते। यथा चोक्तम—'फलव्यापारयोर्धातुराश्रये तु तिङः स्मृताः' इति। फलं विक्लित्त्यादि व्यापारस्तु भावनाभिधस्तत्र धातुः स्मृतः। आश्रये तु फलाश्रये कर्मणि व्यापाराश्रये कर्तरि च तिङः स्मृता इति वैयाकरणवृद्धवचनपदार्थः। न च कर्तुराख्यातवाच्यत्वमप्रामाणिकमिति वाच्यम्। 'लः कर्मणि च भावे चाकर्मकेभ्यः' (३।४।६९) इति मुनिप्रणीतसूत्रस्यैव चकारात् 'कर्तरि कृत्' इति सूत्रोक्तकर्तरीत्यनुकर्षणेन लकाराणां सकर्मकेभ्यो धातुभ्यः कर्मणि कर्तरि चाकर्मकेभ्यश्च भावे कर्तरि च विधायकस्य प्रमाणत्वात्। तस्मात्कर्तर्येव समानाभिधानश्रुत्याख्यातार्थसंख्या संबध्यते, न भावनायामित्याशङ्क्याह—कर्ता चाक्षेपलभ्य इति। आक्षेपोऽनुमानमर्थापत्तिर्वा तादृशाक्षेपेण लभ्योऽनुमेयः कल्प्यो वेत्यर्थः। तथा च भावना साश्रया गुणत्वाद् व्यापारविशेषत्वाच्च संप्रतिपन्नगुणवत्तादृशव्यापारविशेषवच्च। तथा लोके व्यापारविशेषस्य निराश्रयस्यादर्शनाद्भावनारूपो व्यापारविशेषोऽप्यन्यथानुपपद्यमानः स्वाश्रयमाक्षिपतीत्यर्थापत्तिः। न चाचेतनस्यैव कस्यचिदाश्रयस्य लाभ इति वाच्यम्। कृतिशब्दाभिधेयस्य भावनारूपव्यापारविशेषस्याचेतनाश्रयत्वानुपपत्तेः, किंच भावनाक्षिप्ते च कर्तर्याख्यातस्य लक्षणास्वीकारान्न शाब्द्याः संख्याया अशाब्देन कर्त्रान्वयानुपपत्तिः। तस्यापि लक्षणया शाब्दत्वात्। शब्दगम्यत्वस्य हि शाब्दत्वात्। न च कर्तुरेवाख्यातवाच्यत्वेन भावनाया आक्षेपलभ्यत्वं स्यादिति वाक्यम्। कृतिमत एव कर्तृत्वेन कृतेरेव भावनापरनामधेयाया आकृत्यधिकरणन्यायेनाख्यातवाच्यत्वसंभवे तद्वतः कर्तुराख्यातवाच्यत्वकल्पनाया गौरवात्। किंच यस्य हि प्रकारान्तरेणालाभः स एव शब्दस्यार्थो भवति, न तु तदन्यः शब्दवाच्यार्थः; 'अनन्यलभ्यः शब्दार्थ' इति न्यायात्। अत एव न तीरं गङ्गापदार्थः, तस्य लक्षणयैव प्रतिपन्नत्वात्। एवं चोक्तन्यायेन भावनाया आख्यातवाच्यत्वे संप्रतिपन्ने तया च कर्तुराक्षेपेण लाभे पुनरपि तस्याख्यातवाच्यत्वकल्पनं न न्यायविदां शोभते। न च 'लः कर्मणि च भावे चाकर्मकेभ्यः' (३।४।६९) इति मुनिस्मरणबलादेव कर्तुराख्यातवाच्यत्वं न स्वयं कल्पितमिति युक्तम्। वाच्यवाचकभावस्योक्तन्यायसहकृतान्वयव्यतिरेकगम्यत्वेन तस्य मुनिस्मरणाप्रयोज्यत्वात्। तत्र कर्तृकर्मपदयोः कर्तृत्वकर्मत्वपरत्वेन तस्य कृतिकर्मत्वयोर्लकारविधायकत्वसंभवाच्च। किंच नास्य स्मरणस्य कर्तुराख्यातवाच्यत्वे प्रमाणत्वं संभवति 'द्व्येकयोर्द्विवचनैकवचने' (१।४।२२) 'बहुषु बहुवचनम्' (१।४।२१) इत्यनेन सूत्रेण तस्य स्मरणस्यैकवाक्यत्वेन

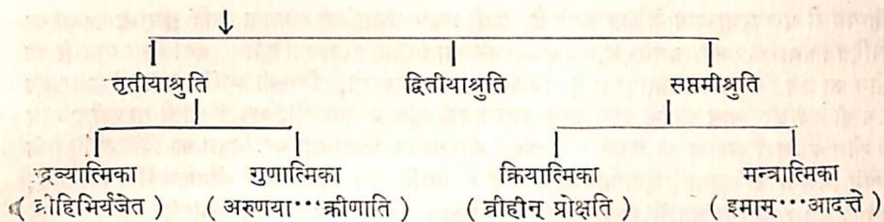
कर्त्रेकत्व एकवचनात्मको लकारो द्वित्वे द्विवचनात्मको बहुत्वे बहुवचनात्मको लकारो भवेदित्यस्मिन्नेवार्थे प्रमाणत्वात्। न च कर्तुराख्यातानभिधेयत्वे देवदत्तेन पचतीति प्रयोगापत्तिः। अनभिहितयोः कर्तृकरणयोः कर्तृकरणयोस्तृतीयाया एव विहितत्वादिति वाच्यम्। उक्तन्यायेन कर्तुर्भावनयैवाक्षेपात्; तद्गतसंख्यायाश्चाख्यातेनैव प्रतीतेस्तृतीयायाः कर्तृप्रतिपत्त्यर्थत्वतद्गतसंख्याप्रतिपत्त्यर्थत्वयोरसंभवात्। तथाचोक्तं वृद्धैः— 'संख्यायां कारके वा धीर्विभक्त्या हि प्रवर्तते। उभयं चात्र तत्सिद्धं भावनातिङ्विभक्तितः' इति। न च कृतामपि ण्वुल्तृजादीनां कर्तृवाचकत्वं न स्यात्तत्र मानस्य वक्तव्यत्वादिति वाच्यम्। 'कर्तरि कृदि'ति मुनिप्रणीतसूत्रस्यैव तेषां तत्र शक्तिग्राहकत्वात्।

ननु तर्हि 'कर्तरि कृदि'ति सूत्रादेव 'लः कर्मणो'त्यत्र कर्तृपदमनुवर्तते। तथा च तत्र तस्य धर्मिपरत्वेऽत्रापि तत्परता न्याय्या। अत्र धर्मपरतायां तु तत्रापि धर्मपरतैव स्यादिति चेन्न। शब्दाधिकाराश्रयणादनुवर्तितस्य कर्तृपदस्य धर्मपरतायां बाधकाभावात्। न च शब्दाधिकाराश्रयस्य गमकमन्तरेणासंभवात्कृतामिवाख्यातस्यापि कर्तृवाचित्वमेवास्त्विति वाच्यम्। कृतिमत इत्यादिना तत्र गमकस्य दर्शितत्वात्। तथा च कृतिशब्दाभिधेयस्य कर्तृधर्मस्याख्यातवाच्यत्वे सिद्धेऽनुवर्तितस्य कर्तृपदस्य धर्मपरत्वमेव न्याय्यम्। समुच्चयार्थकेन 'लः कर्मणि चे'ति सूत्रस्थचकारेणैव वा कर्तृधर्मस्यैव लाभो भवति, न कर्तृपदानुवृत्तिः कर्तव्या, कल्पनालाघवात् पूर्वोक्तन्यायेन कर्तृधर्मस्य भावनारूपस्याख्यातवाच्यत्वसिद्धेश्चेत्यलमतिविस्तरेण।

तस्माद्भावनेवाख्यातवाच्या न कर्ता तद्वाच्य इत्यभिप्रेत्याह—आख्यातेन हि भावनोच्यत इत्यादिना। **सा कर्तृव्यापाररूपा भावना कर्तारं विनानुपपद्यमाना पूर्वोक्तप्रकारेण कर्तारमाक्षिपतीत्यर्थः।**

विनियोक्त्री विधि के भी तीन विभाग किये गये हैं। विभक्तिरूपा को ही विभक्तिश्रुति कहा गया है। षष्ठी को लेकर सात कारक माने गये हैं जिनमें एकत्व, द्वित्व एवं बहुत्व को व्यक्त करने के लिए सुप्-प्रत्यय लगाये जाते हैं। इनको ही विभक्ति कहते हैं। प्रथमा विभक्ति से गौणता का नहीं, अपितु प्रधानता का बोध होता है। अतः उसको छोड़कर शेष विभक्तियों में से कुछ के द्वारा गौणता-बोध का उदाहरण दिया गया है, और कुछ को उसी प्रकार का समझ लेने का संकेत है। एकाभिधान समानाभिधान का नामान्तर है। विनियोग-विधि के सहकारी प्रमाणों में श्रुति के भेदोपभेदों का रेखाचित्र इस प्रकार दिया जा सकता है—





विभक्तिरूपा विनियोक्त्री श्रुति में तृतीया विभक्ति द्वारा अङ्गता के बोधन के दो उदाहरण दिये गये हैं। प्रथम उदाहरण 'व्रीहिभिर्यजेत' है। व्रीहि धान को कहते हैं। वह एक द्रव्य है। 'व्रीहिभिः' तृतीयाविभक्त्यन्त पद है। करण अर्थात् साधकतम साधन को व्यक्त करने के लिए तृतीया विभक्ति लगाई जाती है। साधन सदा गौण होता है और साध्य सदा प्रधान। अतः तृतीया-विभक्त्यन्त 'व्रीहिभिः' पद से उस धान नामक द्रव्य का बोध होता है जो याग का साधन है और साधन होने से गौण है। यदि 'व्रीहि' शब्द में तृतीयाविभक्ति 'भिस्' न लगी होती तो उसकी साधनता, अङ्गता, गौणता अथवा शेषत्व का ज्ञान होना कठिन था। विभक्ति से अङ्गत्व का ज्ञान होने से यह उदाहरण विभक्तिरूपा का हुआ।

'व्रीहि' स्वयं में याग का अङ्ग नहीं बनता है, अपितु इसका प्रोक्षण करके-पानी के छींटे देकर, अवघातन करके—कूट करके-भूसी पृथक् की जाती है और निकले हुए चावल से पुरोडाश नाम की हवि तैयार की जाती है। यह पुरोडाश ही साक्षात् रूप से होम में प्रयुक्त होता है। अतः व्रीहि स्वयं याग का साक्षात् अङ्ग न बनकर पुरोडाश के निर्माण की सामग्री के रूप में प्रयुक्त होता है और उसके माध्यम से परम्परया याग या होम का अङ्ग बन पाता है। इस भाव को ही ग्रन्थकार ने 'पुरोडाशप्रकृतितया' आदि शब्दों से कहा है। प्रकृति का अर्थ मूल, आश्रय, घटक, उपादान कारण आदि है। पुरोडाश देवताओं के सामने प्रस्तुत किया जाने वाला चावल का बना हुआ पदार्थविशेष होता है जिसे पिण्ड आदि भी कहा जाता है।[1]

परम्परया अङ्गत्व का एक दूसरा भी उदाहरण ग्रन्थकार ने दिया है—'यथा पशोः' आदि 'पशुना यजेत' एक विनियोगविधि वाक्य है जिसमें पशु से याग करने का निर्देश है। किन्तु याग में सीधे पशु का ही होम नहीं होता, अपितु उसके हृदय आदि अंगों का क्रमशः होम होता है, क्योंकि पशुयाग के लिए यह विधान है कि पहले उसके हृदय को काटे, फिर जीभ को, फिर वक्षस्थल को, फिर भुजाओं को और तब बगलों को—'हृदयस्य अग्रे अवद्यति, अथ जिह्वायाः, अथ वक्षसोऽवद्यति, दोष्णोरवद्यति, पार्श्वयोरवद्यति'' इन अङ्गों की ही हवि प्रदान की जाती है। यहाँ पशु वह मूलस्रोत है जहाँ से ये अवयव प्राप्त होते हैं और होम किये जाते हैं। अतः जिस प्रकार पशु स्वयं में साक्षात् अङ्ग न बनकर अवयवों के हवि के माध्यम से परम्परया याग का अङ्ग सिद्ध होता है, उसी प्रकार 'व्रीहिभिर्यजेत' में व्रीहि स्वयं याग का अङ्ग न बनकर पुरोडाश के घटक के रूप में परम्परया अङ्गता की प्राप्ति करता है। यद्यपि तृतीयाविभक्ति सीधे 'व्रीहि' एवं 'पशु' में ही लगी हैं, अतः उनकी ही अङ्गता होनी चाहिये, तथापि उनके प्रयोग की विधि निर्दिष्ट होने से तदनुसार ही अर्थ लगाना पड़ेगा। जहाँ अवयवों के माध्यम से होमविधान अभीष्ट नहीं है, वहाँ पशु का सीधे प्रयोग होता है और वह स्वयं याग का साक्षात् अङ्ग बनता है—जैसे पात्नीवत-याग में। ग्रन्थकार को वह अभीष्ट नहीं है।

गुणादि की अङ्गता—तृतीयाविभक्ति का ही एक और उदाहरण दिया गया है, जिसमें यह बतलाया गया है कि जिस प्रकार व्रीहि अथवा पशु आदि द्रव्य अपनी विकृतियों तथा अवयवों के

---

१. पुरोडाशः पुरः देवतानामग्रे दाश्यते दीयते असौ पुरोदाशः। स एव पुरोडाशः। The Arthasamgraha. p. 113.

माध्यम से परम्परया याग के अङ्ग बनते हैं, उसी प्रकार द्रव्याश्रित अरुणता आदि गुण भी परम्परया विहित क्रिया के अङ्ग बनते हैं, यथा—'अरुणया पिङ्गाक्ष्या०' आदि में। यहाँ ऐसी गाय से ही सोम का क्रय संभव बतलाया गया है जिसका वर्ण लाल हो, जिसकी आँखें पीली हों और जो एक ही वर्ष की आयु की भी हो। यदि उसका वर्ण लाल न हुआ तो, अर्थात् काली या सफेद गाय से सोम को नहीं खरीदा जा सकता। रक्तवर्ण का वाचक 'अरुणया' पद 'गवा' का विशेषण है जो अपने विशेष्य के अनुसार तृतीयाविभक्ति में है। यद्यपि गाय का रक्तवर्ण सोमक्रय में उपयोगी है, तथापि वह स्वयं सोमक्रय में साधन नहीं हो सकता। उसकी उपयोगिता तभी है जब वह गाय से सम्बद्ध हो। अतः गाय के विशेषण के रूप में ही वह क्रय का साधन या अङ्ग हो सकता है, अन्यथा नहीं, क्योंकि यह अमूर्त है।

यद्यपि पूर्व उदाहृत 'व्रीहि' तथा 'पशु' और 'अरुणत्व' में परम्परया अङ्गत्व के साथ अनेक अन्तर हैं--जैसे प्रथम दो का सम्बन्ध याग से है जब कि अरुणत्व का क्रयणरूप क्रिया से, प्रथम दो द्रव्य हैं और तृतीय गुण, प्रथम दो क्रमशः पुरोडाश एवं हृदयादि हविरूप प्रधान अङ्ग की प्रकृति हैं जब कि यह प्रधान अङ्ग गो का विशेषण हैं, तथापि दोनों पक्षों में सबसे बड़ा अन्तर यह है कि प्रथम दोनों मूर्त हैं और यह अमूर्त है। मूर्त का अर्थ है वह पदार्थ जिसका कोई शरीर हो जिसमें परापरत्व, क्रिया, वेग आदि आश्रित रह सकें। ये प्रायः द्रव्य होते हैं। न्याय में पृथ्वी, जल, वायु, तेज तथा मन इनको मूर्त माना गया है। ये नव द्रव्यों में से पाँच है।[1] अरुणत्व 'रूप' नामक एक गुण का भेद हैं जो योग्य द्रव्य के अभाव में अवस्थित नहीं रह सकता। आश्रय के आश्रित होने से यह स्वतन्त्र रूप में किसी क्रिया की निष्पत्ति में सफल नहीं हो सकता। किसी भी क्रिया से सम्बद्ध होने के लिए इसको द्रव्य का आश्रय आवश्यक है। इसी से यहाँ कहा गया है कि अमूर्त होने के कारण अरुणवर्ण क्रयणरूप क्रिया का अङ्ग साक्षात् नहीं हो सकता, अपितु वह गोरूप द्रव्य का परिच्छेदक-व्यावर्तक या विशेषण होकर ही परम्परया सम्बद्ध हो सकता है।[2]

प्रोक्षण-क्रिया की अङ्गता—तृतीया श्रुति के द्वारा व्यक्त किया गया है कि कैसे द्रव्य एवं गुण अंग होते हैं। यहाँ क्रिया की अङ्गता का निरूपण है। क्रिया की अङ्गता का उदाहरण सामान्यतः द्वितीया श्रुति से प्राप्त होता है यथा 'व्रीहीन् प्रोक्षति' में। 'व्रीहीन्' द्वितीया बहुवचन का रूप है। द्वितीयान्त 'व्रीहीन्' से प्रकट होता है कि प्रोक्षण अर्थात् जल छिड़कना उससे सम्बद्ध हैं। प्रोक्षण क्रिया है, वह किससे सम्बद्ध है? छिड़काव किस पर होगा। इसके उत्तर में आश्रय या लक्ष्य के रूप में 'व्रीहीन्' ही प्राप्त होता है, अतः प्रोक्षण व्रीहि का अङ्ग हुआ।

प्रोक्षण क्रिया से व्रीहि के स्वरूप में कोई परिवर्तन अपेक्षित नहीं है। जल छिड़कने से धान का कुछ बनता-बिगड़ता नहीं, वह स्वयं में पहले से ही विद्यमान है। छिड़काव इसलिये किया जाता है कि उससे एक अपूर्व सम्पन्न होता है। व्रीहि का प्रोक्षण किये बिना ही उससे याग का अनुष्ठान करने पर अपेक्षित अपूर्व नहीं निष्पन्न हो पाता। इस अपूर्व की निष्पत्ति के लिए ही प्रोक्षण-क्रिया व्रीहि के साथ की जाती हैं, और प्रोक्षण व्रीहि का अङ्ग होता है। इस भाव को मूल में **'तच्च प्रोक्षणं···अपूर्वानुपपत्तेः।'** आदि शब्दों से व्यक्त किया गया है।

जिस प्रकार 'दर्शपूर्णमास' के प्रसङ्ग में प्रोक्षण-क्रिया अपूर्वसम्पादन के लिए ही व्रीहि के अङ्ग के

---

१. क्षितिर्जलं तथा तेजः पवनो मन एव च।
परापरत्व-मूर्तत्व-क्रिया-वेगाश्रया अमी॥ कारिकावली।
तत्र द्रव्याणि पृथिव्यप्तेजोवाय्वाकाशकालदिगात्ममनांसि नवैव॥ तर्कसंग्रहः।

२. यद्यपि (आरुण्यम्) अमूर्तो गुणः, तथापि हायनवदक्षिवच्च गोद्रव्यमवच्छिनत्ति। तच्च द्रव्यं साधनमिति तद्द्वारा गुणस्य क्रयेण अन्वयो भवति।···गुणस्यैवात्र तृतीयाश्रुत्या साधनत्वमुच्यते। यच्च द्रव्यद्वारमन्तरेण न संभवतीति अर्थापत्त्या द्रव्यावच्छेदकत्वं कल्प्यते। जैमिनिन्यायमालाविस्तर पृ० ११३।

रूप में अपेक्षित हैं, उसी प्रकार अवघातन अर्थात् कुटाई आदि भी व्रीहि के अङ्ग अपूर्वनिष्पत्ति के लिए ही है। **'एवं सर्वेष्वपूर्व०'** आदि पदों का यही अर्थ है कि जहाँ अङ्गों से प्रधान की स्वरूप-सिद्धि नहीं होती अथवा वैशिष्ट्य नहीं आ पाता, वहाँ उनके फल अपूर्व की सिद्धि ही हैं।[1]

द्वितीया एवं तृतीया में स्थित 'व्रीहि' का अन्तर—'व्रीहिभिर्यजेत' तथा 'व्रीहीन् प्रोक्षति' दोनों वाक्यों में 'व्रीहि' शब्द विद्यमान है। प्रथम में व्रीहि स्वयं याग का साधन है जब कि दूसरे में वह स्वयं में साध्य है और प्रोक्षण उसका अङ्ग। यहाँ व्रीहि को प्रोक्षण का अङ्ग न मानने का सैद्धान्तिक कारण है और वह व्याकरण के नियमों पर आश्रित है। वस्तुतः तृतीया करणता की ज्ञापिका है। करण स्वयं में साधन होता है, साध्य नहीं। पाणिनि के 'साधकतमं करणम्'[2] का यह अर्थ है, द्वितीया कर्म में होती है और कर्म कर्त्ता का इष्टतम होता है।[3] अतः जहाँ भी द्वितीया होगी, उस पद से वाच्य पदार्थ इष्ट होने से साध्य हो सकता है, साधन नहीं। यही कारण है कि 'व्रीहिभिर्यजेत' में 'व्रीहि' पद का वाच्य पदार्थ धान याग का साधन बनता है जब कि 'व्रीहिन् प्रोक्षति' में वह 'प्रोक्षण' का अङ्ग नहीं बनता, अपितु प्रोक्षण ही उसका अङ्ग बनता है।

द्वितीयाश्रुति का दूसरा उदाहरण—'इमाम् अगृभ्णन्०' आदि दूसरे प्रकार का उदाहरण है। यह उद्धरण यज्ञवेदी के निर्माण के अवसर का है जिसे पारिभाषिक शब्दावली में 'वेदिकाचयन' या 'चयन' कहते हैं। वेदी के निर्माण हेतु ईंट तथा मिट्टी की आवश्यकता होती हैं जिसे ढोने के लिए अश्व एवं रासभ अपेक्षित होते हैं। 'इमाम...आदत्ते' आदि से यह ज्ञात होता है कि उन वाहों की लगाम पकड़ते समय 'इमाम् अगृभ्णन् रशनाम् ऋतस्य' इस मन्त्र को पुरोहित को पढ़ना चाहिये। अश्वाभिधानी घोड़े की लगाम को कहते हैं। यह मन्त्र अश्वाभिधानी का अङ्ग बनता है। मन्त्र अश्वाभिधानी का अङ्ग इसलिये है क्योंकि अश्वाभिधानी द्वितीया विभक्ति में है। लगाम को मन्त्र का अङ्ग नहीं कहा जा सकता। पहले स्पष्ट किया जा चुका है कि द्वितीया-विभक्त्यन्त पद का वाच्य अर्थ इष्टसाध्य तो हो सकता है किन्तु साधन नहीं।

यह उदाहरण भी व्रीहि प्रोक्षण की भाँति अपूर्वनिष्पत्ति में सहायक के रूप में ही है। लगाम पकड़ते समय इस मन्त्र के पढ़ने या न पढ़ने से कोई साक्षात् अन्तर नहीं पड़ रहा है। मन्त्र पढ़े बिना भी रस्सी पकड़ी जा सकती है और घोड़े को चलाया जा सकता है। इसके अतिरिक्त लगाम में भी कोई विकार नहीं दृष्टिगोचर होता है। मन्त्रपाठ व्यर्थ न हो जाये, अतएव अपूर्व की निष्पत्ति उसका फल माना जाता है।

सप्तमीश्रुति का उदाहरण—सप्तमी विभक्ति अधिकरण, आधार, स्थान अथवा कर्म सम्पादन के स्थल की वाचक है, अतः आधेय के लिए आधार का अङ्गत्व स्वयंसिद्ध है। 'आहवनीये जुहोति' में 'आहवनीय' सप्तमीविभक्ति में है और उस आधार का वाचक है जिसमें होम होना है। आधार के रूप में वह होम कर्म का सहायक है, अतः अङ्ग है।

आहवनीय, दक्षिण एवं गार्हपत्य—ये तीन प्रधान अग्नियाँ हैं, जिनमें होम होता है। मूलरूप में विद्यमान अग्नि दक्षिण है, गृहस्थ के घर में निरन्तर जलने वाली गार्हपत्य है और उससे निकल-कर हवन आदि के लिए प्रयुक्त होने वाली आहवनीय है। प्रयोग एवं स्थान भेद से ये नामकरण हैं। सर्वमूलत्व के कारण दक्षिणाग्नि को पिता, गार्हपत्य को पुत्र तथा आहवनीय को पौत्र कहा जाता है।[4]

---

१. यत्र दृष्टार्थता न संभवति, तादृशाङ्गेषु केवलापूर्वप्रयुक्तत्वम्। यत्र तु दृष्टार्थता, तत्र नियमापूर्वप्रयुक्तत्वमित्यर्थः। सारविवेचनी

२. कर्त्तुरीप्सिततमं कर्म ॥ पा० १।४।४९ ॥

३. पा० १।४।४२ ॥

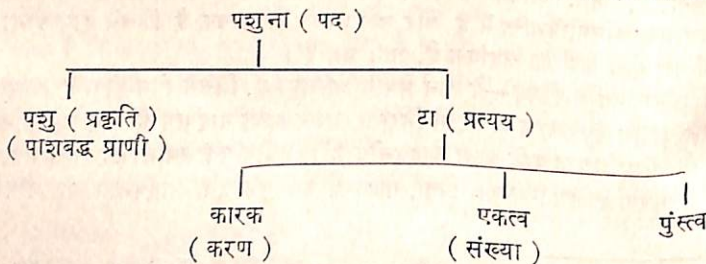
४. गार्हपत्यादाहवनीयं ज्वलन्तमुद्धरेत्। पिता वा एषोऽग्नीनां यद्दक्षिणः, पुत्रो गार्हपत्यः, पौत्रः आहवनीयः। आश्वलायनसूत्रम् The Arthasamgraha p. 117. से.

एवमन्योऽपि०—इसका अर्थ है कि जिस प्रकार द्वितीया, तृतीया और सप्तमी विभक्तियों से अङ्गता का ज्ञान होता है, उसी प्रकार चतुर्थी, पञ्चमी और षष्ठी से भी होता है। इनके उदाहरण 'मैत्रावरुणाय दण्डं प्रयच्छति', 'मध्यात् पूर्वार्धाच्च हविषोऽवद्यति', तथा 'वसिष्ठानां नाराशंसः', या- 'यजमानस्य याज्या' आदि में क्रमशः देखे जा सकते हैं। इनमें मैत्रावरुण जो होता के नीचे का प्रशास्ता है और पुरोहितविशेष है, दण्डप्रदान का, हविर्मध्य और हविःपूर्व 'अवदान' का तथा वासिष्ठ और यजमान क्रमशः नाराशंस एवं याज्या के अङ्ग हैं। विशेष ध्यान रखने की बात यह है कि द्वितीयाश्रुति से ही बोधित पदार्थ के अङ्ग मन्त्र या क्रिया होते हैं, शेष विभक्तियों से बोधित पदार्थ, गुण, क्रिया, आधार आदि स्वयं ही दूसरों के अङ्ग होते हैं।

एकाभिधानश्रुति तथा उसके उदाहरण—एकाभिधान तथा समानाभिधान दोनों शब्द परस्पर पर्याय हैं। ग्रन्थकार का पहले एकाभिधान तथा बाद में समानाभिधान शब्दों का प्रयोग करना, एक ही पर टिका न रहना आलोचना का विषय है, वस्तुतः ऐसा होना नहीं चाहिये था, तथापि ऐसा प्रतीत होता है कि ग्रन्थकार ने दोनों शब्दों को एकार्थक होने से भिन्न नहीं समझा, इसलिये प्रयोग किया, अथवा आपदेव आदि अन्य मीमांसाचार्यों ने 'समानाभिधान' शब्द का ही प्रयोग किया है, 'एकाभिधान' का नहीं। अतः वर्तमान ग्रन्थकार ने यह बतलाने का प्रयास किया है कि जिसे समानाभिधान श्रुति कहा जाता है वही एकाभिधानश्रुति भी है। दोनों में कोई अन्तर नहीं हैं, इस प्रकार वह एक नया शब्द शास्त्र को दे रहे हैं।

जिससे किसी वस्तु को अभिहित किया जा सके उसको अभिधान अथवा शब्द कहते हैं। 'एक' शब्द अकेले का वाचक है, जब कि 'समान' अनेक में सादृश्य का, किन्तु ग्रन्थकार की दृष्टि में दोनों एक हैं।

ग्रन्थकार ने 'पशु' संज्ञा तथा 'यज्' धातु दोनों का उदाहरण देकर स्पष्ट किया है कि कैसे एकाभिधान—एक शब्द या शब्दांश से प्रधानता तथा गौणता का ज्ञान होता है। 'पशुना' एक पद है जिसमें 'पशु' प्रकृति अथवा प्रातिपदिक से तृतीया एकवचन की विभक्ति 'टा' लगी है। 'टा' का ही 'ना' आदेश होकर पूरा पद 'पशुना' बनता है[1]। पशु स्वयं में पाशबद्ध प्राणी का वाचक है। इतने से अधिक प्रकट करने के लिए उसमें 'टा' प्रत्यय लगाया गया। अब उससे यह भाव निकलने लगा कि वह पशु करण-कारक है, अर्थात् क्रिया से उसका सम्बन्ध साधन का है। इसके अतिरिक्त उससे एकत्व संख्या तथा पुंस्त्व का भी बोध होता है, अर्थात् याग में प्रयोज्य पशु एक होगा और वह नर होगा मादा नहीं। इसे इस रेखाचित्र से स्पष्ट समझा जा सकता है—



'टा' प्रत्यय एक ही है। उससे कारक, लिङ्ग तथा संख्या एक साथ व्यक्त होते हैं। इक्कीस सुप्-प्रत्ययों में से प्रत्येक से यह त्रिविध ज्ञान होता है। यद्यपि प्रत्ययगम्य ये तीनों ही महत्त्वपूर्ण हैं तथापि क्रिया से संज्ञा का साक्षात् सम्बन्ध कारक से ही माना जाता है, अतः तीनों में उसी की प्रधानता हुई। शेष दोनों अर्थात् एकत्व आदि संख्या और पुंस्त्व आदि लिङ्ग कारक करण आदि

१. आङो नाऽस्त्रियाम्। पा० ७।३।१२०॥

के अङ्ग होते हैं। यह गौणता तथा प्रधानता एक प्रत्यय रूप अभिधान से उक्त है, अतः यहाँ एकाभिधानश्रुति नामकी विनियोक्त्री विधि हुई।

संज्ञा पदों की भाँति धातुरूपों में भी एकाभिधानश्रुति का दर्शन होता है। यथा—'यजेत' इस पद में भी दो अंश हैं—'यज' धातु प्रकृति है और 'त' प्रत्यय है। 'त' इस एक ही अंश से आख्यातत्व, लिङ्त्व, संख्या, काल तथा पुरुष का ज्ञान होता है। इस विषय का निरूपण शाब्दी-भावना के प्रसंग में किया जा चुका है। आख्यात आदि पाँचों अर्थ एक ही प्रत्यय 'त' से व्यक्त होते हैं, अतः इनमें एकाभिधानश्रुतित्व है। इन पाँचों में आख्यात प्रधान है और परस्पर की तुलना में शेष इसके गौण हैं, क्योंकि आख्यात से आर्थीभावना का ज्ञान होता है जो लिङ् से ज्ञेय शाब्दीभावना का भी साध्य है। साध्य की प्रधानता स्वतःसिद्ध है। इस प्रकार लिङ्, संख्या, काल आदि सभी आख्यातवाच्य आर्थीभावना के अङ्ग हैं, तथापि ग्रन्थकार को प्रस्तुत प्रसङ्ग में संख्या का ही अङ्गत्व-प्रदर्शन अभीष्ट है, अतः वह 'संख्यायाः भावनाङ्गत्वम्' कहते हैं। यहाँ 'भावना' से आर्थीभावना ही समझना चाहिये। संख्या आर्थीभावना का अङ्ग हुई और यह अङ्गता 'त' रूप एक प्रत्यय से व्यक्त होती है, अतः यहाँ समानाभिधानश्रुति है।

'आख्याताभिहितसंख्यायाः'—ग्रन्थ के इन शब्दों में संख्या को भी आख्यात का वाच्य बतलाया जा रहा है, जब कि ग्रन्थकार ने पूर्वप्रसङ्गों में उसे एकप्रत्यय से गम्य माना है—"संख्या-दीनामेकप्रत्ययगम्यत्वे०" आदि। अतः आख्यात, लिङ्, पुरुष, काल आदि को एकमात्र 'त' प्रत्यय से समान रूप से उक्त माना जा सकता है, न कि आख्यात से संख्या की अभिव्यक्ति। यह शोचनीय है। 'मीमांसान्यायप्रकाश' में भी शब्दावली 'आख्याताभिहितसंख्यायाः" आदि ही है।[1]

इस समस्या का समाधान हो सकता है यदि 'आख्यात' का अर्थ "कहा गया" लिया जाये न कि 'त' प्रत्यय का एक अंश। कृष्णनाथ भट्टाचार्य ने यही स्वीकार किया है। उनके अनुसार—"ईत-प्रत्ययस्य प्रथमपुरुषैकवचनतया तेनाख्यातेन एकत्वसंख्या आर्थीभावना चोच्यते। तयोश्चै-कोक्तिप्रतिपाद्यत्वेन सन्निहितत्वादेकत्वसंख्याया आर्थभावनोपकारकत्वम् एकाभिधान श्रुतिसिद्धम् इत्यर्थः[2]। अर्थात् ईत-प्रत्यय–जो 'त' का ही नामान्तर है—प्रथमपुरुष और एकवचन की है। उस प्रत्यय के कथन से एकत्वसंख्या और आर्थीभावना का बोध होता है। उन दोनों—एकत्वसंख्या तथा आर्थीभावना–के एक ही शब्द से प्रतिपादित होने से संनिधि के कारण संख्या आर्थीभावना की उपकारक है। यह एकाभिधानश्रुति से सिद्ध है।

एकपदश्रुति—अभी तक समानाभिधानश्रुति के उदाहरण दिये गये जहाँ प्रत्ययों को ही एकाभिधान माना गया। उक्त सभी प्रसंगो में चाहे वह 'पशुना' का हो चाहे 'यजेत' का क्रमशः सुप्प्रत्यय 'टा' तथा तिङ् प्रत्यय 'त' इनको ही एकत्व पुंस्त्व तथा कारकत्व का और आख्यात, लिङ्, वचन, काल तथा पुरुष का व्यञ्जक एक-एक अभिधान स्वीकार किया है। अब ऐसे उदाहरण दिये जा रहे हैं जहाँ व्यञ्जकता केवल प्रत्यय तक सीमित नहीं रहेगी। इसमें पूरा पद ध्यान में रख-कर प्रधानता और गौणता का निरूपण होगा। वहाँ एकप्रत्ययगम्यता थी यहाँ एकपदगम्यता होगी।

यह सर्वविदित है कि शब्द और पद में अन्तर होता है। कोई भी वर्णसमूह शब्द हो सकता है, किन्तु पद वही शब्द हो सकता है जो सुप्प्रत्ययान्त हो अथवा तिङ्प्रत्ययान्त[3]। यहाँ पूरे पद को ध्यान में रखकर प्रधानता एवं अङ्गता का विचार अपेक्षित होता है। प्रत्यय से बोधित संख्या का लिङ् आदि में ही निर्धारण करने पर संख्या सुबन्तों में कारक का तथा तिङन्तों में भावना का अङ्ग होती रही, किन्तु 'पद' में प्रकृति और प्रत्यय दोनों का समावेश होने से संख्या आदि केवल

---

१. मीमांसान्यायप्रकाश, पृ० १३२।
२. प्रतिपादिका पृ० ४३
३. सुप्तिङन्तं पदम् ॥ पा० १।४।१४ ॥

कारक या भावना के अङ्ग नहीं होंगे, अपितु वे प्रकृत्यर्थ पशु तथा याग के भी अङ्ग हो सकेंगे। एकपदश्रुति का एक ही उदाहरण किया गया है जिसमें 'यजेत' के 'त' प्रत्यय के अर्थों में एकसंख्या को 'यज' धातु के अर्थ 'याग' का अङ्ग कहा गया है। किन्तु यही बात 'पशुना' के साथ भी चरितार्थ हो सकती है। अर्थात् 'टा' से व्यक्त होने वाली संख्या प्रकृतिभूत पशुद्रव्य का अङ्ग मानी जा सकती है। कौमुदीकार को भी यह अर्थ अभीष्ट है। एकाभिधानश्रुति तथा एकपदश्रुति वस्तुतः विवक्षाभेद के कारण दो हैं। संख्या स्वयं याग का अङ्ग न बनकर पशु के द्वारा अथवा भावना के द्वारा ही याग का अङ्ग परम्परया बनती है। इस प्रकार एकाभिधानश्रुति में एक पद का जिसके अनेक अंश होते हैं—एक अंश ऐसे दो या अधिक वस्तुओं का बोध कराता है जिनमें परस्पर प्रधानता एवं गौणता का सम्बन्ध होता है, जब कि एकपदश्रुति में व्याकरण की दृष्टि से निष्पन्न एक 'पद' से दो या अधिक वस्तुओं का बोध होता है और इन द्योतित वस्तुओं में परस्पर शेषशेषी सम्बन्ध होता है।

अमूर्त की अङ्गता और कर्त्ता का आक्षेप—यहाँ एक प्रश्न और उठता है कि संख्या गुण है, अतः अमूर्त होने से वह एकाभिधानश्रुति में अथवा एकपदश्रुति में न तो भावना का अङ्ग हो सकती है न याग का ही। इसके उत्तर में मीमांसकों का सिद्धान्त है कि स्वयं में अमूर्त होने से संख्या कर्त्ता का इतरव्यावर्तक—दूसरों से भिन्नता के बोधक—के रूप में उसके साथ भावना का अथवा याग का अङ्ग होगी। यह प्रक्रिया संगत है क्योंकि 'अरुणया पिङ्गाक्ष्या०' आदि वाक्यों में भी आरुण्य नामक अमूर्त गुण को द्रव्यपरिच्छेद के द्वारा अङ्ग घोषित किया जा चुका है। वैयाकरणों के अनुसार आख्यात से कर्त्ता का भी बोध होता है, किन्तु मीमांसा के अनुसार आख्यात से भावना का बोध होता है, कर्त्ता का तो मात्र अनुमान कर लिया जाता है। यथा—'पठ', 'गच्छ', 'पश्य' आदि में कहीं भी कर्त्ता नहीं है, तथापि कर्त्ता के अभाव में क्रिया हो नहीं सकती, अतः तदनुरूप कर्त्ता का अनुमान से अथवा अर्थापत्ति से ग्रहण कर लिया जाता है। 'कर्त्ता चाक्षेपलभ्यः' का यही भाव है। 'आक्षेप' का अर्थ अनुमान अथवा अर्थापत्ति से ग्रहण है। क्रिया की निष्पन्नता के लिए कर्त्ता का अनुमान करना ही पड़ता है।

(२०) सेयं श्रुतिर्लिङ्गादिभ्यः प्रबला। लिङ्गादिषु न प्रत्यक्षो विनियोजकः शब्दोऽस्ति किन्तु कल्प्यः। यावच्च तैर्विनियोजकशब्दः कल्प्यते तावत्प्रत्यक्षया श्रुत्या विनियोगस्य कृतत्वेन तेषां कल्पकत्वशक्तेर्व्याहतत्वात्। अत एवैन्द्रचा लिङ्गान्नेन्द्रोपस्थानार्थत्वम्। किन्तु 'ऐन्द्रचा गार्हपत्यमुपतिष्ठत' इत्यत्र गार्हपत्यमिति द्वितीयाश्रुत्या गार्हपत्योपस्थानार्थत्वम्।

वह (पूर्ववर्णित) यह श्रुति प्रमाण लिङ्ग आदि प्रमाणों से प्रबल है। (क्योंकि) लिङ्ग आदि में विनियोग कराने वाला—अङ्गता का ज्ञापक कोई शब्द साक्षात् उपस्थित नहीं होता, अपितु (उस विनियोजक शब्द की) कल्पना करनी पड़ती है। अतः जब तक उन (लिङ्गादि) के द्वारा गौणताबोधक शब्द की कल्पना की जाती है, तब तक प्रत्यक्ष श्रुति के द्वारा विनियोग सम्पन्न होने से उन (लिङ्गादि) की आक्षेप की शक्ति समाप्त हो जाती है। इसी से ऐन्द्री ऋचा लिङ्गप्रमाण के द्वारा इन्द्रोपस्थापन के लिए नहीं (उपस्थित हो पाती) अपितु 'ऐन्द्रया गार्हपत्यमुपतिष्ठते'—ऐन्द्री ऋचा से गार्हपत्य को सम्पन्न करता है—इस वाक्य में 'गार्हपत्यम्' में विद्यमान द्वितीयाश्रुति के द्वारा गार्हपत्य के निष्पादन के लिए उसका प्रयोग होता है।

एवं श्रुतेः प्रमाणान्तरनिरपेक्षविनियोजकत्वं निरूप्य तस्या लिङ्गादिभ्यः पञ्चभ्यः प्रमाणेभ्यः प्राबल्यमाह—सेयं श्रुतिर्लिङ्गादिभ्यः प्रबलेति। कुत इत्याकाङ्क्षायां तत्र हेतु-

माह—लिङ्गादिषु न प्रत्यक्ष इत्यादिना। यावच्च लिङ्गादिभिर्विनियोजकः शब्दोऽर्थ-प्रकाशनादिना कल्प्यते तावत्प्रत्यक्षोपलब्धया श्रुत्या शेषिणा शेषसंबन्धबोधस्य कृतत्वेन लिङ्गादीनां विनियोजकश्रुतिकल्पनद्वारेण विनियोगशक्तेः प्रतिबद्धत्वादित्यर्थः। तत्र लिङ्गाच्छ्रुतेः प्राबल्यसिद्धचैव तस्मादपि दुर्बलेभ्यो वाक्यादिभ्यस्तस्याः प्राबल्यसिद्धये तावल्लिङ्गात्प्राबल्यमुदाहरणं प्रदर्शयन्साधयति—अत एवेत्यादिना। अत एव लिङ्गादिभ्यः श्रुतेः प्रबलत्वादेव। ऐन्द्रचा इति षष्ठी 'नेन्द्र सश्चसी'तीन्द्रप्रकाशनसमर्थाया अपि ऋचो न लिङ्गादिन्द्रोपस्थानाङ्गत्वमित्यर्थः। ननु यदीन्द्रप्रकाशनसामर्थ्यरूपाल्लिङ्गादैन्द्रचा ऋच इन्द्रोपस्थानार्थत्वं न भवति तर्हि तत्रान्यप्रकाशनसामर्थ्यादर्शनेन तस्याः कस्यचिदप्युपस्थानार्थत्वासंभवाद्वैयर्थ्यमेव स्यादित्याशङ्कते—किन्त्विति। यद्यपीन्द्रशब्दस्य गार्हपत्येऽग्नौ रूढिर्नास्ति तथापि तस्यैश्वर्यगुणयोगेन यागसाधनत्वेन वा मुख्येन्द्रसदृशत्वाद् गुणवृत्तिरस्ति। तथा चैन्द्रचास्तत्प्रकाशनसामर्थ्यस्यापि सत्त्वेन द्वितीयाश्रुत्या तदुपस्थानार्थत्वं निर्विघ्नमुपपद्यत इति समाधत्ते—ऐन्द्रचा गार्हपत्यमित्यादिना। अत्रायमाशयः—ऐन्द्रचा गार्हपत्यमुपतिष्ठत इति श्रूयते। तत्र च 'कदाचनस्तरीरसि-नेन्द्र सश्चसि दाशुषे' इत्यसावृगैन्द्री तत्रेन्द्रस्य प्रकाशनात्। भो इन्द्र! कदाचिदपि न सश्चसि घातको न भवसि किंत्वाहुतिं दत्तवते यजमानाय प्रीयस इति तस्या अर्थः। तत्रेन्द्रप्रकाशनसामर्थ्यरूपाल्लिङ्गान्मन्त्रस्येन्द्रविषयक्रियासाधनत्वं गम्यते। यद्यसौ मन्त्र इन्द्रप्रधानक्रियायाः साधको न भवेत् तदानीमनेन मन्त्रेणेन्द्रप्रकाशनं व्यर्थं स्यात्। तस्मादेतन्मन्त्रकरणकक्रियां प्रति इन्द्रः प्रधानमित्येतादृशबुद्धचुत्पादनं लिङ्गविनियोगः। कासौ क्रियेति विशेषजिज्ञासायामैन्द्रचोपतिष्ठत इत्यनेनाविरुद्धपदद्वयरूपेण वाक्येनोपस्थानक्रियायां पर्यवसानं क्रियते। तथा सत्यैन्द्रमन्त्रेणेन्द्रमुपतिष्ठेतेत्ययमर्थः पर्यवस्यति। तथा गार्हपत्यमित्यनया द्वितीयान्तपदरूपया श्रुत्या गार्हपत्यस्य प्राधान्यं गम्यते। तच्च गुणभूतां यत्किंचित्करणकक्रियामन्तरेण न संभवति। ततस्तादृशीं कांचित्क्रियां प्रति गार्हपत्यः प्रधानमित्येतादृशबुद्धचुत्पादनं श्रुतिविनियोगः, ऐन्द्रचोपतिष्ठत इति पदद्वये मन्त्रविशेषक्रियाविशेषयोः पर्यवसानं भवति। तथा सत्यैन्द्रमन्त्रेण गार्हपत्यमुपतिष्ठत इत्यर्थो भवति। यद्यपि प्रमाणत्वविशेषश्रुतिलिङ्गयोर्विरोधे प्राप्ते व्रीहियववद्विकल्पः स्यात्। इन्द्रगार्हपत्ययोः प्रधानत्वविशेषादुपस्थानस्य च गुणत्वात् 'प्रतिप्रधानं गुणावृत्ति'रिति न्यायेनोपस्थानावृत्त्या श्रुतिलिङ्गयोः समुच्चयो वा स्यात्। श्रुतिर्विनियुञ्जाना वस्तुसामर्थ्यमनुसृत्यैव विनियुङ्क्ते, अन्यथा वह्निना सिञ्चेद्वारिणा दहेदित्यपि विनियुज्येत। तस्मात्तदुपजीव्यत्वेन लिङ्गस्य प्रबलत्वादिन्द्र एव मन्त्रेणोपस्थेयो वा स्यात्। तथाप्यैन्द्रमन्त्रस्य गार्हपत्येऽग्नौ मुख्यवृत्त्या सामर्थ्याभावेऽपि गुणवृत्त्या सामर्थ्यस्योक्तत्वासामर्थ्याभावकृतप्रतिबन्धाभावान्निर्विघ्ना श्रुतिराशु विनियुङ्क्ते। लिङ्गं तु विलम्बेन विनियुङ्क्ते। तथा हि—तत्र प्रथमं मन्त्रपदानि स्वाभिधेयार्थं प्रतिपादयन्ति, तत ऊर्ध्वं मन्त्रस्य वस्तुप्रकाशनसामर्थ्यं निरूप्यते, तत ऊर्ध्वं च तत्सामर्थ्यवशात्साधनत्ववाचिनी प्रधानत्ववाचिनी च श्रुतिः कल्प्यते। कल्पिता च श्रुतिः पश्चादैन्द्रमन्त्रेणेन्द्रमुपतिष्ठेतेति विनियुङ्क्त इति मन्त्रपदाभिधेयप्रतिपादनविनियोगपयोर्मध्यवर्तिनौ सामर्थ्यनिरूपणश्रुतिकल्पनव्यापारौ भवतः। प्रत्यक्षश्रुतिविनियोगपक्षे तु मन्त्रपदाभिधेयप्रतिपादनमात्रेण तस्या विनियोजकत्वसंभवात्,

न तौ मध्यवर्तिनौ व्यापारौ भवत इति श्रुतेः प्राबल्यात्तया लिङ्गं बाध्यते। न च प्रत्यक्ष-श्रुतिविनियोगवेलायामलब्धात्मकत्वेन प्राप्तं लिङ्गं श्रुत्या कथं बाध्यत इति वाच्यम्। तार्तीयबाधत्वेन भविष्यत्प्राप्तिबन्धस्यैवात्र बाधत्वात्। बाधश्च द्विविधः—प्राप्तबाधोऽप्राप्त-बाधश्च। तत्र दशमे प्राकृतानामङ्गानां चोदकेन विकृतौ प्राप्तानां प्रत्याम्नानादर्थलोपा-त्प्रतिषेधाद्वा यो बाधः स प्राप्तबाधः। यथा चोदकप्राप्तानां प्राकृतानां कुशानां शरमयं बर्हिरिति प्रतिकूलशराम्नानाद्बाधः। यथा चावघातप्रयोजनस्य वैतुष्यरूपस्य लोपात्कृष्ण-लेष्ववघातस्य बाधः। यथा च पित्र्येष्टौ 'न होतारं वृणीत' इति प्रतिषेधाद्धोतृवरणस्य बाधः। अप्राप्तबाधस्तु तृतीयाध्याये यो बाधः। तत्र हि यावद्दुर्बलप्रमाणेन विनियोगः कर्तुमारभ्यते तावत्प्रबलप्रमाणेन विनियोगस्य कृतत्वादेव, तेन वा तद्बोधितेन वेतरबाधो-ऽप्राप्तबाध एव दुर्बलप्रमाणस्याप्रवृत्तत्वादेव। ततश्च कथंचित्प्राप्तभाविप्रवृत्तिप्रतिबन्धस्यैवात्र बाधत्वमिति सिद्धम्। तस्माद्, द्वितीयया श्रुत्या विनियुक्तस्यैव मन्त्रस्य पुनर्विनियोगा-काङ्क्षाया अनुदयाद्विनियोजकं तस्यैव लिङ्गं न प्राप्स्यति। तस्माद् गार्हपत्योपस्थान एव मन्त्रः प्रत्यक्षश्रुत्यैव विनियुज्यत इति सिद्धम्। एवमग्निचयने समाम्नाता 'निवेशनः संगमन' इत्यादिकापि काचिदृगैन्द्री भवति। तस्या उत्तरार्ध 'इन्द्रो न तस्था'विति पठनात्। सापि 'निवेशनः संगमनो वसूनामित्यैन्द्रचा गार्हपत्यमुपतिष्ठत' इति ब्राह्मणे तृतीययैन्द्रचेति श्रुत्या गार्हपत्योपस्थाने विनियुज्यते। तस्या अपि पूर्वोक्तन्यायेन गार्हपत्य-प्रकाशनसामर्थ्यस्य सत्त्वात्। न च मन्त्रस्थेन्द्रपदस्य गुणवृत्त्या गार्हपत्येऽग्नौ वृतत्वेऽपि रूढचा तु स्वर्गाधिपतौ सहस्राक्ष इन्द्रे वृतत्वान्मन्त्रेण प्रकाशिते मुख्येन्द्रे मन्त्रब्राह्मणयो-र्विवादपरिहाराय ब्राह्मणस्थगार्हपत्यशब्देन निरुक्तगुणसंबन्धद्वारेणेन्द्रो लक्षणीय इति वाच्यम्। इन्द्रगार्हपत्यशब्दयोरन्यतरस्य गौणत्वेऽवश्यंभाविनि सति मन्त्रस्य प्राप्तार्थत्वेनानु-वादकत्वसंभवान्मन्त्रस्थेन्द्रपदस्यैव गौणत्वस्य न्याय्यत्वात् ब्राह्मणवाक्यस्याप्राप्तार्थत्वेन विधायकत्वाद्विधौ लक्षणाया अन्याय्यत्वाच्च। तस्माद् गार्हपत्यप्रकाशने समर्थमेव मन्त्र-मैन्द्रचेति तृतीयाश्रुतिर्गार्हपत्योपस्थाने विनियुङ्क्त इति सिद्धम्। एवं श्रुतेर्लिङ्गस्य दौर्बल्य-वल्लिङ्गादेः पूर्वस्मात्पूर्वस्मात्परस्य परस्य वाक्यादेरेकविनियोज्यविषयत्वेन विरोधे दौर्बल्यं, स्वार्थावबोधने परस्य पूर्वव्यवधानेन प्रवृत्तेः। तथा च सूत्रं—श्रुतिलिङ्गवाक्यप्रकरण-स्थानसमाख्यानां समवाये पारदौर्बल्यमर्थविप्रकर्षादि'ति।

प्रमाणों की प्रबलता एवं निर्बलता—विनियोगविधि के उक्त छः सहकारी प्रमाणों में पूर्व-पूर्व पर-पर की अपेक्षा प्रबल माने गये हैं। श्रुति उनमें प्रथम है, अतः वह शेष सबसे प्रबलतम होगी। श्रुति से लिङ्ग निर्बल होगा, किन्तु अपने परवर्ती वाक्य से प्रबल और इसी प्रकार वाक्य अपने पूर्ववर्ती लिङ्ग से निर्बल होगा, किन्तु अपने परवर्ती प्रकरण से प्रबल। यही क्रम चलता रहेगा।

सबलता तथा निर्बलता का आधार 'अर्थविप्रकर्ष' है। अर्थात् विनियोगरूपी अर्थ से जो प्रमाण जितना निकट है उतना ही वह सबल है और जितना दूर है उतना ही दुर्बल है।[1] अभिप्राय यह है कि इन सभी प्रमाणों का उद्देश्य है विनियोग का ज्ञापन। श्रुति विनियोग का ज्ञान किसी अन्य प्रमाण की सहायता के बिना भी स्वतन्त्र रूप से कराने में समर्थ है, जब कि अन्य प्रमाणों को

१. श्रुति-लिङ्ग-वाक्य-प्रकरण-स्थान-समाख्यानां समवाये पारदौर्बल्यम् अर्थविप्रकर्षात्॥ जै० सू० ३।३।१४॥

अपने-अपने पूर्ववर्तियों का सहारा लेना पड़ता है। जो जितना ही स्वतन्त्र होता है, वह उतना ही शीघ्र विनियोग का ज्ञान करा देता है, यह शीघ्रता से ज्ञापन ही निकटता है, और वही प्राबल्य भी है। स्पष्ट है कि निकटस्थ व्यक्ति दूरस्थ की अपेक्षा शीघ्र सहायता कर सकता है। इस प्रकार विनियोग में उसकी क्षमता अधिक रहती है और वह प्रबल कहा जाता है। किसी भी विनियोग के समय इन सभी प्रमाणों की प्राप्ति होती है, इनमें से किसके आधार पर निर्णय किया जाये यह समस्या होती है। उस समय इसका निर्णय विनियोग से निकटता के आधारपर ही किया जाता है।

ग्रन्थकार ने श्रुति को 'लिङ्गादि' से प्रबल कहा है। 'लिङ्ग' के साथ 'आदि' का अभिप्राय इन सभी प्रमाणों से हैं जो उसके बाद क्रमशः परिगणित हैं। वे हैं—वाक्य, प्रकरण, स्थान तथा समाख्या। इनकी गणना में क्रम अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। श्रुति से समाख्या तक जिसका जो क्रम है उसको उसी स्थान पर समझना चाहिये, आगे-पीछे नहीं। इस क्रम में सर्वप्रथम पठित श्रुति अपने सभी परिवर्तियों से प्रबल है। श्रुति की प्रबलता को ग्रन्थकार ने सकारण समझाया है। उनके अनुसार विनियोग को उस प्रकार से साक्षात् उपस्थित करने वाला शब्द चाहिये, जैसा श्रुति में होता है। किसी भी विनियोग का निर्णय करते समय श्रुति में तो साक्षात् विनियोजक शब्द मिल जाता है किन्तु लिङ्ग आदि में उसकी कल्पना करनी होती है, क्योंकि वहाँ वह होता नहीं है। ऐसी दशा में उस कल्पित शब्द की अपेक्षा श्रुति द्वारा वह कार्य पहले सम्पन्न करा दिया जाता है। कार्य सम्पन्न होने से कल्पना की आवश्यकता नहीं रह जाती, अतः कल्पकत्वशक्ति ही श्रुति के द्वारा विनष्ट कर दी जाती है। यही कारण है कि श्रुति लिङ्ग आदि से प्रबल पड़ जाती है। चूँकि श्रुति ही साक्षात् विनियोजक शब्द उपस्थित करने में समर्थ होती है, और उसके विना विनियोग सम्भव नहीं होता, इसलिये कार्य हेतु लिङ्ग को भी श्रुति का आश्रय लेना ही पड़ता है। यह अवलम्ब की आवश्यकता ही लिङ्ग आदि की निर्बलता है।

श्रुति-प्राबल्य का उदाहरण—उदाहृत उद्धरण 'कदाचन स्तरीरसि नेन्द्र सश्चसि दाशुषे। ऋग्वेद (८।५१।७) के मन्त्र का एक अंश है। इसका अर्थ है—'हे इन्द्र, तुम कभी भी घातक नहीं होते हो, अपितु होमकर्त्ता से प्रसन्न होते हो।'[1] इस मन्त्र में इन्द्र का सम्बोधन होने से प्रतीत होता है कि इसका प्रयोग इन्द्र-सम्बन्धी किसी याग में होना चाहिये। अर्थ इन्द्र-विषयक होने से इस ऋचा को 'ऐन्द्री' कहा जाता है। किन्तु यहाँ यह ज्ञात नहीं होता कि वह याग कौन-सा है जिसमें इसका प्रयोग होगा। यदि इसका स्वतन्त्र रूप में कोई विनियोग निकलेगा भी तो उससे इन्द्र का उपस्थान–स्वागत का कृत्य–व्यक्त होगा। यह मन्त्रार्थ-ज्ञान से लेकर मन्त्रविनियोग की प्रक्रिया लिङ्ग के अनुसार हुई, क्योंकि इसका ज्ञान मन्त्र के शब्द-सामर्थ्य से हो रहा है।[2] इस प्रकार लिङ्ग से विनियोग में चार प्रक्रियाओं का ग्रहण अपेक्षित होता है—१—स्वाभिधेय प्रतिपादन—अर्थात् मन्त्र के अर्थ का ज्ञान २—सामर्थ्यनिरूपण—अर्थात् इन्द्र शब्द होने से इसका इन्द्रविषयक अर्थ का ज्ञापन ३—श्रुतिकल्पना—अर्थात् एक स्वतन्त्र विधायक वाक्य की कल्पना जिससे ज्ञात हो सके कि 'अनेन मन्त्रेण इन्द्रमुपतिष्ठते।' ४—विनियोग—कि इस मन्त्र का प्रयोग इन्द्र के उपस्थान में होना चाहिये। इन चारों प्रक्रियाओं का ग्रहण ही लिङ्ग की 'कल्पकत्वशक्ति' है। इस कल्पकत्व शक्ति से उक्त ऐन्द्री ऋचा का विनियोग इन्द्र से सम्बद्ध कर्म हेतु प्राप्त होता है।

किन्तु 'कदाचन स्तरीः०' आदि श्रुति के लिए उक्त कल्पकत्व शक्ति की आवश्यकता ही नहीं रह जाती, क्योंकि इसी के विषय में कल्पित नहीं, अपितु साक्षात् पठित श्रुतिवाक्य 'ऐन्द्र्या गार्हपत्यमुपतिष्ठते'—'कदाचन स्तरीः०' आदि इस ऐन्द्री ऋचा के द्वारा गार्हपत्यसंज्ञक अग्नि की पूजा करता है—मिल जाता है। यहाँ साध्य का बोध 'गार्हपत्यम्' पद की द्वितीया विभक्ति से विना किसी अन्य प्रमाण की सहायता के ही हो जाता है कि ऐन्द्री ऋचा का विनियोग गार्हपत्योप-

१. इसका अन्वय होगा—(हे) इन्द्र, कदाचन स्तरीः न असि। दाशुषे सश्चसि।

२. शब्दसामर्थ्यं लिङ्गम्। अर्थसंग्रहः।

स्थान के लिए है। 'गार्हपत्यम्' शब्द से यह स्पष्ट हो जाता है कि ऐन्द्री ऋचा अङ्ग है गार्हपत्योपस्थान प्रधान है। इन्हीं दोनों में शेष-शेषी सम्बन्ध है, इसका इन्द्रोपस्थान से कोई सम्बन्ध नहीं।

'ऐन्द्रया गार्हपत्यमुपतिष्ठते' के 'गार्हपत्यम् में आयी द्वितीयाश्रुति से विनियोग तक केवल दो प्रक्रियाओं की ही आवश्यकता होगी--१-स्वाभिधेयप्रतिपादन--अर्थात् मन्त्रार्थज्ञान २-विनियोग-कि इसका सम्बन्ध गार्हपत्यम् से है, इन्द्र से नहीं। इस प्रकार यहाँ दो ही प्रक्रियाओं से काम चल जाता है और 'सामर्थ्यनिरूपण' तथा 'श्रुतिकल्पना' के गौरवदोष से बचत हो जाती है। दो-दो क्रमों की बचत होने से लिङ्ग की अपेक्षा श्रुति से आधे समय में ही कार्य सम्पन्न हो जाता है। अतः वह लिङ्ग से अधिक प्रबल है, अर्थात् विनियोग के अधिक निकट है। मन्त्रार्थ-ज्ञान के बाद अधिक टटोलना नहीं पड़ता, अपितु श्रुतिवचन से स्पष्ट ही मन्त्र से सम्बद्ध प्रधान कर्म-गार्हपत्योपस्थान—का ज्ञान हो जाता है। वार्तिककार ने इसी भाव को और भी संक्षेप में कह दिया है--

यथाशीघ्रप्रवृत्तत्वाल्लिङ्गादेर्बाधिका श्रुतिः।
तथैव विनियोगेऽपि सैव पूर्वं प्रवर्त्तते॥

अन्यत्र में इसे और भी स्पष्ट किया गया है।[1]

यद्यपि भास्कर श्रुति को 'लिङ्गादिभ्यः प्रबला'--लिङ्ग आदि से प्रबल कहते हैं, किन्तु उदाहरण केवल लिङ्ग से प्राबल्य का ही दिया है। आगे क्रमशः एक को दूसरे से प्रबल बतलाया है। अतः उदाहरण यहाँ न होने पर भी 'प्रधानमल्लनिबर्हणन्याय' से श्रुति समस्त परवर्तियों से प्रबल सिद्ध हो जाती है। यही न्याय सभी प्रमाणों के लिए अपने परवर्तियों से प्रबलता को सिद्ध करता है।

लिङ्गनिर्वचनम्

(२१) शब्दसामर्थ्यं लिङ्गम्। यथाहुः—'सामर्थ्यं सर्वशब्दानां लिङ्गमित्यभिधीयते' इति। सामर्थ्यं रूढिरेव। तेन समाख्यातोऽस्या भेदः। यौगिकशब्दसमाख्यातो रूढ्यात्मकलिङ्गशब्दस्य भिन्नत्वात्। तेन 'बर्हिर्देवसदनं दामी'ति मन्त्रस्य कुशलवनाङ्गत्वं न तूलपादिलवनाङ्गत्वम्। तस्यबर्हिर्दामीति लिङ्गात्तल्लवनं प्रकाशयितुं समर्थत्वात्। एवमन्यत्रापि लिङ्गाद्विनियोगो द्रष्टव्यः।

तदिदं लिङ्गं वाक्यादिभ्यो बलवत्। अत एव 'स्योनं ते सदनं कृणोमी'ति मन्त्रस्य पुरोडाशसदनकरणाङ्गत्वं सदनं कृणोमीति लिङ्गात् न तु वाक्यात्।

शब्द की (अभिधान) शक्ति लिङ्ग है। जैसा कहा भी गया है—सभी शब्दों की शक्ति लिङ्ग कही जाती है। शक्ति रूढ़ि ही होती है। इसलिये समाख्या से इसमें भिन्नता है, क्योंकि यौगिक शब्दरूपी समाख्या से रूढ़िरूपी लिङ्ग की भिन्नता है। इसी से 'बर्हिः देवसदनं दामि' (देवों के सदन बर्हि को काटता हूँ') यह मन्त्र कुश के काटने का अङ्ग है न कि उलप आदि के काटने का, क्योंकि 'बर्हिः दामि' इस लिङ्ग से उसकी कटाई को व्यक्त करने में समर्थ है। इसी प्रकार अन्य स्थलों पर भी लिङ्ग से विनियोग समझना चाहिये।

यह लिङ्ग वाक्य आदि से बलवान् है। इसीलिये 'स्योनं ते सदनं कृणोमि'—तुम्हारे लिये सुखद सदन बनाता हूँ—यह मन्त्र पुरोडाश-सदनकरण का अङ्ग 'सदनं कृणोमि' इस लिङ्ग से है न कि वाक्य से।

---

१. यावदेव हि मन्त्रार्थो मन्त्रेण प्रतिपाद्यते। तावदेव-श्रुतिर्मन्त्रं गार्हपत्यार्थतां नयेत्॥
मन्त्रार्थं मन्त्रतो बुद्ध्वा पश्चाच्छब्दं निरूप्य च। मन्त्राकाङ्क्षावशेनेन्द्र शेषत्वे श्रुतिकल्पना॥
श्रुत्या प्रत्यक्षया पूर्वं गार्हपत्याङ्गतां गते। निराकांक्षीकृते मन्त्रे निर्मूला श्रुतिकल्पना॥
तेन शीघ्रप्रवर्तिन्या श्रुत्यालिङ्गस्य बाधनम्। प्रत्यक्षे चानुमाने च यथा लोके बलाबलम्॥

एवं श्रुतिं निरूप्य लिङ्गं लक्षयति—शब्दसामर्थ्यमिति । लिङ्गमिति लक्ष्यनिर्देशः । सामर्थ्यं लिङ्गमित्युक्तेऽङ्कुरादिजननानुकूलबीजादिसामर्थ्ये तत्प्रसङ्गः स्यात्तद्वारणाय—शब्देति विशेषणम् । सामर्थ्यं द्विविधं शब्दगतमर्थगतं चेति । तत्राद्यस्य लक्षणमत्रोक्तं तत्रैव वृद्धसंमतिं प्रदर्शयंस्तदर्थमाह—यथाहुरित्यादिना । अन्त्यं तु यथा 'स्रुवेणावद्यती'त्यवदानसामान्यशेषत्वावगमेऽपि स्रुवस्य लिङ्गात्सामर्थ्यरूपादाज्यसांनाय्यादिद्रवद्रव्यावदानविशेषाङ्गत्वं स्रुवेण मांसादिद्रव्यावदानस्य कर्तुमशक्यत्वादिति । ननु रूढिरूपस्य सामर्थ्यस्य समाख्यातो न भेदः स्यात् । तथा च 'बर्हिर्देवसदनं दामी'ति मन्त्रस्योलपादिलवनाङ्गत्वमपि स्यादित्याशङ्क्याह—समाख्यातो भेद इति । रूढिरूपस्य सामर्थ्यस्येति शेषः । यौगिकशब्दरूपसमाख्यातो रूढ्यात्मकस्य लिङ्गशब्दस्य भेद एव प्रसिद्धेः । तथा च न तयोरभेद इत्यर्थः । समाख्यातो नाभेद इति पाठेऽपि स एवार्थः । रूढिरूपस्य सामर्थ्यस्य समाख्यातो भेदे फलितमाह—तेनेति । रूढिसमाख्ययोर्मिथोभेदेन पुरोडाशसदनभूतं बर्हिः खण्डयामीति श्रुतपदसामर्थ्यात् 'बर्हिर्देवसदनं दामी'ति मन्त्रस्य कुशकाशादिरूपाणां मुख्यबर्हिषां लवनाङ्गत्वं न तु समाख्यातो दर्भसदृशानामुलपादिरूपतृणविशेषाणां गौणबर्हिषां लवनाङ्गत्वमित्यर्थः । उक्तेऽर्थे हेतुमाह—तस्येत्यादिना । तस्येति बर्हिर्देवेत्यादिमन्त्रस्येत्यर्थः । तल्लवनमिति । कुशलवनमित्यर्थः ।

एवमन्यत्रापीति । 'बर्हिर्देवसदनं दामी'ति मन्त्रस्य कुशलवनाङ्गत्व'वदग्नये जुष्टं निर्वपामी'त्यादिमन्त्रस्यापि निर्वापादिप्रकाशनसामर्थ्यरूपाल्लिङ्गान्निर्वापादौ विनियोग इत्यर्थः । अत्रेदं बोध्यम्—तस्य हि मन्त्रस्य निर्वापाङ्गत्वं संभवति, यस्य यत्प्रकाशनसामर्थ्यं तस्य मन्त्रस्य तदङ्गत्वमिति न्यायात् । तच्च लिङ्गं द्विविधं, सामान्यसंबन्धबोधकप्रमाणान्तरापेक्षं तत्सापेक्षं चेति । तत्र यद्विना यन्न संभवति तस्य तदङ्गत्वम् । सामान्यसंबन्धबोधकप्रमाणान्तरानपेक्षकेवललिङ्गाद्भवति । यथार्थज्ञानस्य कर्मानुष्ठानाङ्गत्वम्, अर्थज्ञानं विना तदनुष्ठानासंभवात् । यद्विना यत्संभवति तस्य तदङ्गत्वं तत्सापेक्षलिङ्गाद्भवति यथोक्तमन्त्रस्य निर्वापाङ्गत्वं निर्वापस्य हि संभवति, किंत्वपूर्वसाधनीभूतनिर्वापप्रकाशनार्थ एव । तादृशनिर्वापप्रकाशनार्थत्वं च न सामर्थ्यमात्राल्लभ्यते, सामर्थ्यस्य निर्वापप्रकाशनमात्रे सत्त्वात् । ततश्चावश्यं प्रकरणादिसामान्यसंबन्धबोधकं प्रमाणं स्वीकर्तव्यम्, तथा च दर्शपूर्णमासप्रकरणे तस्य मन्त्रस्य पाठादेवानेन मन्त्रेण दर्शपूर्णमासापूर्वसंबन्धिकिंचित्प्रकाश्यत इत्यवगम्यते । अन्यथा दर्शादिप्रकरणपाठस्य वैयर्थ्यापत्तेः । किं तद्दर्शपूर्णमासापूर्वसंबन्धि प्रकाश्यमित्याकाङ्क्षायां निर्वापप्रकाशनसामर्थ्यात्पुरोडाशनिर्वाप इत्यवगम्यते । निर्वापश्च पुरोडाशसंस्कारद्वाराऽपूर्वसंबन्धीति लिङ्गान्मन्त्रस्य निर्वापार्थत्वे सति न तस्यानर्थक्यापत्तिः । तस्मात् 'अग्नये जुष्टं निर्वपामी'ति मन्त्रस्य प्रकरणाद्दर्शपूर्णमाससंबन्धितयाऽवगतस्य निर्वापप्रकाशनसामर्थ्यरूपाल्लिङ्गान्निर्वापाङ्गत्वमिति ।

तदिदं निरुक्तं सामर्थ्यरूपं लिङ्गं वाक्यप्रकरणादिभ्यः प्रबलमित्याह—तदिदमित्यादिना । अत एवेति । लिङ्गस्य वाक्यादिभ्यो बलवत्त्वादेवेत्यर्थः । 'स्योनं ते सदनं कृणोमी' त्यत्र 'घृतस्य धारया सुशेवं कल्पयामि तस्मिन्सीदामृते प्रतितिष्ठ व्रीहीणां मेध सुमनस्यमानः' इति वाक्यशेषः । भोः पुरोडाश ! ते तव स्योनं समाचीनं सदनं स्थानं कृणोमि करोमि,

तच्च स्थानं घृतस्य धारया सुष्ठु सेवितुं योग्यं कल्पयामि। भो व्रीहीणां मेध व्रीहिसारभूत! त्वं सुमनस्यमानः समाहितमनस्कः सन् तस्मिन्नमृते समीचीने स्थाने सीद उपविश प्रतिष्ठित। तत्र स्थिरो भवेत्यर्थः। तत्र च तस्मिन्नित्यनेन तच्छब्देन प्रकृतवाचकेन पूर्वोत्तरार्धयोरेकवाक्यत्वे सिद्धे मन्त्रद्वयस्याभावात्सर्वोऽप्ययं मन्त्रः स्थानकरणस्याङ्गं पुरोडाशस्थापनस्य चाङ्गं भवति, तत्र विनियोजिका श्रुतिश्चैवं कल्पनीया सर्वेणानेन मन्त्रेण स्थानं कर्तव्यमिति। तथा सर्वेणानेन मन्त्रेण तत्र पुरोडाशः स्थापनीय इति च। तथा च सदनकरणपुरोडाशस्थापनयोरस्य मन्त्रस्य विकल्पः समुच्चयो वा स्वेच्छया भविष्यतीति पूर्वपक्षः। तत्र हि यदेतत्पूर्वोत्तरार्धयोः परस्परान्वयेनैकवाक्यं संपन्नं तदेतदुत्तरार्धस्य सदनकरणे शक्तिमकल्पयित्वा सकलं मन्त्रं सदने विनियोक्तुं नार्हति। तथा तदेव वाक्यं पूर्वार्धस्य पुरोडाशस्थापने शक्तिमकल्पयित्वा न पुरोडाशस्थापने कृत्स्नं मन्त्रं विनियोक्तुं प्रभवति। ततश्च लिङ्गकल्पनव्यवधानेन वाक्यं श्रुतिं प्रति विप्रकृष्यते। प्रत्यक्षं तु लिङ्गद्वयं तां श्रुतिं प्रति न विप्रकृष्यते। तथा सति लिङ्गेन वाक्यस्य बाधान्मन्त्रस्यार्धद्वयं सदनकरणस्थापनयोर्व्यवस्थितमिति राद्धान्तः। तमेतमभिप्रेत्याह—मन्त्रस्येत्यादिना। लिङ्गादिति। सदनकरणप्रकाशनसामर्थ्यरूपादित्यर्थः। न तु वाक्यादिति। पुरोडाशसदनसादनरूपार्थकरणाङ्गत्वं, न तु सदनसादनलक्षणशेषशेषिरूपार्थप्रतिपादकात्सदनं कृणोमि तस्मिन्सीदेत्येवं सहोच्चारणरूपाद्वाक्यादित्यर्थः।

शब्द से सामान्यतः दो प्रकार के अर्थ प्रकट होते हैं। एक अर्थ वह है जो शब्द का उच्चारण होते ही प्रतीत हो जाता हैं। इसके लिये उसका व्युत्पत्तिगत अर्थ नहीं लिया जाता। यह अर्थ मुख्यतः अनादि परम्परा से लोकस्वीकृत होता है। यही मुख्य अर्थ कहा जाता है। उदाहरणार्थ 'पङ्कज' शब्द लिया जा सकता है। इसका सर्वस्वीकृत अर्थ है 'कमल' नामक पुष्पविशेष। यही उसका मुख्यार्थ हैं। 'कीचड़ में उत्पन्न होने वाला' उसका व्युत्पत्तिगत अर्थ है, इसी को यौगिक अर्थ कहते हैं जो गौण हैं। यही समाख्या भी है। मुख्य अर्थ की प्रतीति कराने वाली शब्दशक्ति को अभिधा शक्ति कहते हैं। इसी का **मीमांसा में पारिभाषिक नाम** लिङ्ग है। मीमांसक प्रधानतः अभिधावादी हैं, अतः उनकी दृष्टि में अभिधा की ही प्रधानता है।

अभिधा से प्रतीत होने वाला अर्थ रूढ़ होता है, अतः अभिधा को ही शक्ति, रूढ़ि आदि भी कहा जाता है। अभिधा शक्ति से रूढ़ अर्थ शब्द को सुनते ही प्रकट हो जाता है। शब्द-श्रवण तथा अर्थबोध में व्यवधान नहीं पड़ता, जब कि यौगिक अर्थ को समझने में इसकी अपेक्षा अधिक समय लगता है। अव्यवहित रूप से अर्थ की प्रतीति रूढ-अर्थ की मुख्यता का कारण है। निश्चित ही यह समाख्या अथवा यौगिक शब्द से भिन्न है।

'बर्हिर्देवसदनं दामि' मन्त्र कुश के काटने का अङ्ग लिङ्ग प्रमाण से ही होता है, क्योंकि 'बर्हिस्' के अनेक अर्थों में 'कुश' ही रूढ़ है न कि 'उलप' आदि कुश के सदृश दूसरे तृण। कुश ही देवसदन है। इसी का काटना अभीष्ट है। यहाँ 'बर्हिस्' तथा 'दामि' दोनों का रूढ़ अर्थ क्रमशः 'कुश' तथा 'काटना' है।[1] वस्तुतः यह मन्त्र 'दर्शपौर्णमास' प्रकरण में पठित है, किन्तु वहाँ इस प्रकार का कोई निर्देश नहीं है कि 'इस मन्त्र से क्या किया जाये'। अतः साक्षात् विनियोजक श्रुति के अभाव में मन्त्रस्थ 'बर्हिः' पद से दर्भ या कुश जिसे मुनियों ने एक तृणविशेष के रूप में स्वीकार कर रखा है, प्रकट होता है और 'दामि' का 'लवन' अर्थ अनादि परम्परा से मुख्य अर्थ के

१. लवितव्यं च बर्हिर्द्विविधं मुख्यं गौणञ्च। मुख्यं कुशकाशादि दशदर्भरूपं, गौणन्तु तत्सदृशं तृणान्तरम्।...मुख्यस्यैव लवने मन्त्रविनियोगो न गौणस्येति सिद्धान्तितम्। प्रतिपादिका पृ० ४९

रूप में स्वीकृत हो चुका है, से स्पष्ट हो जाता है कि इस मन्त्र से कुश काटना चाहिये। 'अनेन मन्त्रेण कुशं छिन्द्यात्' यह श्रुति यहाँ कल्पित होती है जिससे कुशच्छेदन में इस मन्त्र का विनियोग होता है। 'बर्हिर्दामि इति लिङ्गात्' आदि मूल के शब्दों का यही तात्पर्य है।

'एवमन्यत्रापि' आदि का अर्थ है कि जिस प्रकार यहाँ यौगिक अर्थ न लेकर मुख्यार्थ से ही विनियोग में सहायता ली गयी है, उसी प्रकार अन्य स्थलों पर भी लिङ्ग की प्रधानता देखी जा सकती हैं।

दर्शपौर्णमास याग के प्रसङ्ग में 'स्योनं ते' आदि मन्त्र का प्रयोग होता है। पूरा मन्त्र इस प्रकार है—''स्योनं ते सदनं कृणोमि घृतस्य धारया सुशेवं कल्पयामि। तस्मिन् सीद, अमृते प्रतितिष्ठ, व्रीहीणां मेध सुमनस्यमानः।' इसका अर्थ है—हे पुरोडाश, तुम्हारा समीचीन स्थान कर रहा हूँ, उस स्थान को घी की धारा से सुष्ठु सेवनयोग्य बना रहा हूँ। हे व्रीहि के सारभूत, तुम समाहित चित्त से उसी सेवनीय सदन पर स्थिर होओ।' यहाँ विनियोगविशेष से सम्बद्ध श्रुति न होने के कारण मन्त्र का लिङ्ग से ही विनियोग करना है। 'क्या किया जाये ?' ऐसी आकांक्षा होने पर 'स्योनं' से 'कल्पयामि' तक पूर्वार्द्ध का अर्थ पुरोडाश के सदनकरण—बैठने का स्थान बनाने—से सम्बद्ध प्रतीत होता है, तथा 'तस्मिन् सीद' आदि से 'सुमनस्यमानः' तक के उत्तरार्ध से 'पुरोडाशस्थापन' का अर्थ प्रतीत होता है। मध्यवर्ती 'तस्मिन्' पद से पूर्वार्ध तथा उत्तरार्ध का संयोग करके एकवाक्य बनाया जा रहा है। अब प्रश्न है कि पूरे मन्त्र का प्रयोग एकवाक्य के रूप में 'पुरोडाशसदनकरण' के लिये किया जाये अथवा 'पुरोडाशस्थापन' के लिये अथवा पृथक्-पृथक् दोनों के लिये। दोनों पक्ष समान बलशाली हैं किन्तु किसी एक के ग्रहण में वाक्य की अपेक्षा लिङ्ग ही प्रबल है, क्योंकि 'स्योनं' से 'कल्पयामि' तक मन्त्र का 'सदनकरण' अर्थ को प्रकाशित करने का सामर्थ्यरूप लिङ्ग प्रत्यक्ष है। इसी प्रकार 'तस्मिन्' आदि का 'पुरोडाशसादन-प्रकाशन सामर्थ्यरूप लिङ्ग प्रत्यक्ष है। इस प्रकार प्रत्यक्षलिङ्ग के द्वारा पूर्वार्ध का सदनकरण में और परार्ध का पुरोडाशसादन में विनियोजिका श्रुति की तत्काल कल्पना हो जाती है।

समग्र मन्त्र का दोनों कार्यों के लिये पृथक्-पृथक् विनियोग पूर्ण संगत नहीं लगता क्योंकि पूर्वार्ध की सदनकरण में उपयोगिता प्रतीत होती है, किन्तु परार्ध की नहीं, इसी प्रकार पुरोडाश-सादन में उत्तरार्ध की उपयुक्तता लगती है किन्तु पूर्वार्ध की नहीं। इस प्रकार 'तस्मिन्' पद के अन्वय से पहले एकवाक्यता की अवधारणा करनी पड़ेगी और उसके बाद परार्ध सहित पूर्वार्ध को सदनकरणरूप अर्थ का प्रकाशक तथा पूर्वार्ध सहित उत्तरार्ध को पुरोडाशसादनरूप अर्थ का प्रकाशक निश्चित करके समग्र मन्त्र का प्रत्येक से विनियोग समझा जा सकेगा। ऐसा करने पर बीच में लिङ्ग की भी कल्पना करनी पड़ेगी, अतः यहाँ वाक्य से विनियोग मानने पर लिङ्ग और श्रुति दोनों की कल्पना ही करनी पड़ेगी और बीच में व्यवधान बढ़ जाने से दुर्बलता होगी, जब कि लिङ्ग से ही विनियोग मानने पर पूर्वार्ध का 'सदनकरण' और उत्तारार्ध का 'सादन' अर्थ ग्रहण करने पर केवल श्रुति की कल्पना करनी पड़ेगी। इस रूप में लिङ्ग द्वारा विनियोग वाक्य की अपेक्षा शीघ्र होने से प्रबल है। यहाँ सिद्धान्त पक्ष यही है कि पूर्वार्ध से 'सदनकरण' हो और उत्तरार्ध से 'सादन', पूरे मन्त्र का प्रयोग अपेक्षित नहीं।[1]

वाक्यनिर्वचनम्

(२२) समभिव्याहारो वाक्यम्। समभिव्याहारश्च साध्यत्वादिवाचकद्वितो-

---

१. द्रष्टव्य-'मीमांसान्यायप्रकाश' पर 'सारविवेचनी'-''पूर्वार्धं सदनं प्रकाशयति, उत्तरार्धं तु सादनम्। यद्यपि 'तस्मिन्' इति उत्तरार्धस्थ-तच्छब्दस्य पूर्वार्धसापेक्षत्वात् एकवाक्यत्वं परिकल्प्यते, तदा उभयोरेकवाक्यत्वात् उभयोरपि अर्थयोः सदने सादने उभयत्र वा विनियोगः स्यात्। तद् बाधित्वा लिङ्गेन पूर्वार्धस्य सदनाङ्गत्वमेव।

याद्यभावेऽपि, वस्तुतः शेषशेषिवाचकपदयोः सहोच्चारणम् । यथा 'यस्य पर्णमयी जुहूर्भवति न स पापं श्लोकं शृणोति' । अत्र पर्णताजुह्वोः समभिव्याहारादेव पर्णताया जुह्वङ्गत्वम् । न चानर्थक्यम्, अन्यथापि जुह्वाः सिद्धत्वादिति वाच्यम् । जुहूशब्देन तत्साध्यापूर्वलक्षणात् ।

तथा च वाक्यार्थः पर्णतयावत्तहविर्धारणद्वारा जुह्वपूर्वं भावयेदिति । एवं च पर्णतया यदि जुहूः क्रियते तदैव तत्साध्यमपूर्वं भवति नान्यथेति गम्यत इति न पर्णताया वैयर्थ्यम् । अवत्तहविर्धारणद्वारेति । चावश्यं वक्तव्यम् । अन्यथा स्रुवादिष्वपि पर्णतापत्तेः । सेयं पर्णता अनारभ्याधीतापि सर्वप्रकृतिष्वेवान्वेति न विकृतिषु । तत्र चोदकेनापि तत्प्राप्तिसंभवात्पौनरुक्त्यापत्तेः ।

प्रकृतिविकृतिलक्षणम्

यत्र समग्राङ्गोपदेशः सा प्रकृतिः, यथा दर्शपूर्णमासादिः । तत्प्रकरणे सर्वाङ्गपाठात् । यत्र न सर्वाङ्गोपदेशः सा विकृतिः । यथा सौर्यादिः । तत्र कतिपयाङ्गानामतिदेशेन प्राप्तत्वात् । अनारभ्यविधिः सामान्यविधिः ।

तदिदं वाक्यं प्रकरणादिभ्यो बलवत् । अत एव 'इन्द्राग्नी इदं हविः' इत्यादेरेकवाक्यत्वाद्दर्शाङ्गत्वं न तु प्रकरणाद्दर्शपूर्णमासाङ्गत्वम् ।

समभिव्याहार वाक्य है । साध्यत्व आदि के वाचक द्वितीया आदि के न रहने पर भी वस्तुतः अङ्ग एवं अङ्गी के वाचक पदों का एक साथ उच्चारण समभिव्याहार है । जैसे—जिसकी जुहू पलाश की होती है वह अपयश नहीं सुनता है' ।[१] यहाँ पर्णता तथा जुहू दोनों का एक साथ उच्चारण होने से ही पर्णता जुहू का अङ्ग है, यहाँ (यह नहीं कहना चाहिये कि पर्णता का उच्चारण) व्यर्थ है, क्योंकि अन्यथा भी जुहू को बनाया जा सकता है । (वस्तुतः) यहाँ 'जुहू' शब्द का लक्षणा से अर्थ है, जुहू के द्वारा साध्य अपूर्व । इस वाक्य का अर्थ हुआ—विभक्त की गयी हवि के धारण द्वारा पलाश से जुहू के अपूर्व की भावना करे । इस तरह यदि पलाश से ही जुहू का निर्माण होता है तभी उससे साध्य अपूर्व बनेगा, नहीं तो नहीं, यह ज्ञात होता है, अतः पर्णता की व्यर्थता नहीं सिद्ध होती । 'विभक्त (अवत्त) की गयी हवि के धारण द्वारा' यह शब्द अवश्य कहना चाहिये, नहीं तो स्रुवा आदि में भी पर्णता की व्याप्ति होने लगेगी । यह चर्चित पर्णता सामान्यतः विहित होने पर भी सभी प्रकृतियागों में ही अन्वित होती है, विकृतियागों में नहीं क्योंकि वहाँ (विकृति में) अतिदेश वाक्यों से भी उसकी प्राप्ति संभव है । (यदि विकृतियों में भी पर्णता आदि की अन्विति मान ली गयी तो) पुनरुक्ति की उपस्थिति होगी ।

जहाँ समस्त अङ्गों का कथन होता है वह प्रकृतियाग हैं, जैसे दर्शपूर्णमास आदि, क्योंकि उसके प्रकरण में समग्र अङ्गों का पाठ होता है । जहाँ समग्र अङ्गों का उपदेश नहीं होता है वह विकृति है, जैसे सौर्य आदि, क्योंकि वहाँ कुछ अङ्गों की प्राप्ति अतिदेश से भी होती है । अनारभ्यविधि सामान्यविधि है ।

---

१. पूरा मन्त्र इस प्रकार है—"यस्य खादिरः स्रुवो भवति स छन्दसामेव रसेनावद्यति, यस्य पर्णमयी जुहूर्भवति न स पापं श्लोकं शृणोति, यस्याश्वत्थी उपभृद्भवति ब्रह्मणैवास्यान्नमवरुन्धे, यस्य वैकङ्कती ध्रुवा भवति प्रत्येवास्याहुतयस्तिष्ठन्तीति ।

यह चर्चित वाक्य प्रकरण आदि से प्रबल है। इसीलिये 'इन्द्राग्नी इदं हविः' इत्यादि की एकवाक्यता के कारण दर्श की अङ्गता है, न कि प्रकरण के कारण इसमें दर्शपूर्णमास की अङ्गता।

वाक्यं लक्षयति—समभिव्याहार इति। वाक्यमिति लक्ष्यनिर्देशः। समभिव्याहारशब्दं व्याचष्टे—समभिव्याहारश्चेत्यादिना। तत्रोदाहरणमाह—यथेत्यादिना। पर्णताजुह्वोरिति। शेषशेषिलक्षणयोरिति शेषः। ननु काष्ठान्तरेणैव जुह्वाः सिद्धत्वात्पर्णताया आनर्थक्यं स्यादित्याशङ्क्य परिहरति—न चेत्यादिना। न च वाक्यमित्यत्र हेतुमाह—जुहुशब्देनेत्यादिना।

यदि जुहूः पर्णतयैव क्रियते तदैव जुह्वाऽपूर्वं जन्यते नान्यथेति भावः। फलितं वाक्यार्थमाह—तथा चेत्यादिना। क्वचित्पुस्तकेऽवत्तेत्यतः प्रागिततः परत्रैवं च पर्णतया यदि जुहूः क्रियते तदैव तत्साध्यमपूर्वं भवति नान्यथेति गम्यत इति न पर्णताया वैयर्थ्यमिति पाठः। अवद्यत इत्यवत्तं अवत्तं च तद्धविश्च तस्य धारणद्वारेत्यर्थः। अवत्तेत्यादेर्व्यावृत्तिमाह—अन्यथेत्यादिना। अन्यथाऽवत्तेत्यादेरनुपादान इत्यर्थः। स्रुवस्रुवादिभिराज्यहविर्धारणद्वारैवोपक्रियत इति भावः। ननु पर्णताया अनारभ्याधीतत्वादनारभ्यविधेश्च सामान्यविधित्वात्पर्णता सर्वेषु प्रकृतिविकृतियागेषु समन्वेतिवत्याशङ्क्याह—सेयमित्यादिना। एवकारव्यावर्त्यमाह—न विकृतिष्विति। तत्रेति। विकृतिष्वित्यर्थः। चोदकेनेति। प्रकृतिवद्विकृतिः कर्तव्येति चोदकशब्दितातिदेशवाक्येनेत्यर्थः। तत्प्राप्तिसंभवादिति। पर्णताप्राप्तिसंभवादित्यर्थः। पौनरुक्त्यापत्तेरिति। 'प्रकृतौ वाऽद्विरुक्तत्वा'दिति न्यायविरोधेन पौनरुक्त्यरूपदोषापत्तेरित्यर्थः।

केयं प्रकृतिर्विकृतिश्चेत्याकाङ्क्षायां तल्लक्षणमाह—यत्रेत्यादिना। अतिदेशेनेति। उक्तचोदकशब्दितातिदेशवाक्येनेत्यर्थः। किंच यत्र चोदकेनाङ्गप्राप्तिस्तत्रानारभ्याधीतानां संनिवेशः, दर्शपूर्णमासयोरपि चोदकप्रमाणेनाङ्गानामप्राप्तेः प्रकरणपठितैरेवाङ्गैर्नैरकाङ्क्ष्यात् तत्र पर्णतायाः संनिवेशो न्याय्य एव। गृहमेधीययागाद्यपि कुत्रापि विकृतौ नाङ्गानामतिदेशेन प्राप्तिस्तथापि तस्य क्लृप्तोपकारै राज्यभागादिभिरेव नैराकाङ्क्ष्येण तत्रापि चोदकादङ्गाप्राप्तेः सत्त्वात्तत्रापि पर्णतासंनिवेशो भवत्येव। किंच योऽनारभ्यविधिः स सामान्यविधिरित्युच्यते। सामान्यविधेश्चास्पष्टत्वात्तस्य विशेषेणोपसंहारो भवति। तथा चोक्तं 'सामान्यविधिरस्पष्टः संह्रियेत विशेषतः' इति। तथा च सामिधेन्यृचां साप्तदश्यस्यानारभ्याधीतत्वेऽपि न प्रकृतिषु गमनं तस्य प्रकृतियागानां सामिधेन्यृक्पाञ्चदश्यावरोधात्। नापि विकृतिमात्रे तद्गमनं तत्र चोदकप्राप्तपाञ्चदश्यबाधप्रसङ्गात्, किंतु प्रत्यक्षश्रुतसाप्तदश्यासु मित्रविन्दादिष्वेव विकृतिषु तस्य साप्तदश्यस्य गमनं भवति। तथा चोक्तम् 'एवं च प्रकृतावेतत्पाञ्चदश्यं प्रतिष्ठितम्। विकृतौ च न यत्रास्ति साप्तदश्यपुनःश्रुति'रिति। न च वाक्यवैयर्थ्यम्। 'अनारभ्याधीतस्यैव साप्तदश्यस्य मित्रविन्दादिप्रकरणस्थवाक्येनोपसंहारात्। उपसंहारश्च नाम सामान्यप्राप्तस्य विशेषे नियमनम्। ततश्च साप्तदश्यस्यानारभ्यविधिः सामान्यविधिः। मित्रविन्दादिप्रकरणस्थश्च विशेषविधिरिति सर्वमभिप्रेत्याह—अनारभ्यविधिः सामान्यविधिरिति। किंच तद्धि वाक्यं प्रकरणाद्बलीयो भवति, स्थानादि-

तस्तु सुतराम् । तस्य प्रकरणादपि दुर्बलत्वात् वाक्यस्य प्रकरणादिभ्यो बलवत्त्वादेव 'इन्द्राग्नी इदं हवि'रित्यादिमन्त्रस्य दर्शवाक्यत्वाद्दर्शाङ्गत्वं, न तु दर्शपूर्णमासप्रकरणाद्दर्शपूर्णमासोभयाङ्गत्वमित्याह—तदिदमित्यादिना । अत्र चेदं बोध्यम्—'अग्नीषोमाविदं हविरजुषेतामवीवृधेतां महोज्यायोऽक्राताम्, इन्द्राग्नी इदं हविरजुषेतामवीवृधेतां महोज्यायोऽक्राता'मिति सूक्तवाके श्रूयते । तत्र च देवतावाचकं पदमग्नीषोमादिरूपं पौर्णमास्यादिकाले यथादेवतं विभज्य प्रयोक्तव्यमिति तृतीये स्थितम् । इदं हविरित्यादिपदमवशिष्टं तु यथोक्ताग्नीषोमेन्द्राग्निमन्त्रद्वयगतमपि यथाक्रममममावास्यायामाग्नीषोमपदपरित्यागेन पौर्णमास्यामिन्द्राग्निपदपरित्यागेन च पठनीयम् । तथा च सति तेषां मन्त्रभागानां सर्वशेषत्वबोधको दर्शपूर्णमासप्रकरणपाठोऽनुगृहीतो भवतीति प्राप्तेऽभिधीयते—अग्नीषोममन्त्रशेषस्येदं हविरित्यादिरूपस्येन्द्राग्निपदान्वयाश्रवणात्प्रकरणेन प्रथमं तदन्वयरूपं वाक्यं कल्पनीयं, तेन च वाक्येनेन्द्राग्निप्रकाशसामर्थ्यरूपं लिङ्गं कल्पनीयम् । तच्च लिङ्गमनेन मन्त्रभागेनेन्द्राग्निविषया काचित्क्रियानुष्ठेयेति विनियोजिकां तृतीयां श्रुतिं कल्पयति । ततः प्रकरणविनियोगयोर्मध्ये त्रिभिर्व्यवधानं भवति । अग्नीषोमपदान्वयरूपं वाक्यं तु श्रूयमाणत्वाल्लिङ्गश्रुतिभ्यामेव व्यवधीयते । एवमिन्द्राग्निमन्त्रशेषस्याप्यग्नीषोमपदान्वयाश्रवणात्प्रकरणेन प्रथमं तदन्वयरूपं वाक्यं कल्पनीयमित्यादि स्वयमूह्यम् । तस्माद्वाक्येन स्वस्माद् दुर्बलस्य प्रकरणस्य बाधितत्वात्तत्तन्मन्त्रशेषस्तत्र तत्रैव व्यवतिष्ठत इति ।

श्रुति तथा लिङ्ग के बाद 'वाक्य' प्रमाण का निरूपण किया जा रहा है । वाक्य सामान्यतः आकांक्षा, योग्यता एवं सन्निधि से युक्त पदों का समूह समझा जाता है । उक्त अपेक्षाओं के साथ होने पर भी यहाँ 'वाक्य' पारिभाषिक अर्थ में प्रयुक्त है । एक वाक्य में निहित पदों को अर्थबोध के लिये एक साथ उच्चरित माना जाता है, किन्तु यहाँ वाक्य का अर्थ उन पदों का एक साथ उच्चारण है जिनसे अङ्ग एवं अङ्गी का ज्ञान होता है, अन्यथा 'श्रुति' आदि में भी वाक्यता स्वीकार करनी पड़ेगी ।

सामान्यतः 'व्याहार' पद (वि+आ+$\sqrt{}$हृ+घञ्) कथन का वाचक है । पारिभाषिक अर्थ में भी इतना ही पर्याप्त था, किन्तु 'समभिव्याहार' पद बनाकर (सम्+अभि+वि+आ+$\sqrt{}$हृ+घञ्), 'हृ' धातु में चार-चार उपसर्ग लगाकर अधिक से अधिक भाव की अभिव्यक्ति ही अपेक्षित है । सम् एवं अभि उपसर्गों के योग से 'साथ उच्चारण' का अर्थ व्यक्त होने में अधिक सुविधा होती है ।

साध्यत्वादि—'साध्यत्वादि' पदों द्वारा वाक्यप्रमाण की श्रुति तथा लिङ्ग प्रमाणों से अङ्गबोधन की भिन्नता प्रतिपादित की गयी है । पहले 'श्रुतिप्रमाण' के प्रसङ्ग में स्पष्ट किया जा चुका है कि किस प्रकार से विभक्तिरूपा श्रुति में 'अश्वाभिधानीमादत्ते', 'पशुना यजेत' 'आहवनीये जुहोति' आदि मन्त्रों में प्रयुक्त द्वितीयान्त 'अश्वाभिधानी', तृतीयान्त 'पशु' तथा सप्तम्यन्त 'आहवनीय' से साध्य, करण तथा अधिकरण आदि अङ्गों का ज्ञान स्वतः हो जाता है ।[1] इसी प्रकार शब्दसामर्थ्यरूप लिङ्ग को भी समझा जा सकता है ।[2] वाक्य-प्रमाण के प्रसङ्ग में 'द्वितीयादि'

---

१. कर्मत्व-करणत्वादि-वाचकानि च द्वितीया-तृतीयादीन्येवेति तदेवाह द्वितीयादिति । एवञ्च साध्यत्वादिवाचक-द्वितीयाद्यघटितत्वे सति शेषशेषिवाचकपदयोः सहोच्चारणमिति लक्षणमापाततः फलितम् । प्रतिपादिका पृ० ५१.

२. पदयोरिति । एतेन लिङ्गादिव्यावृत्तिः । ...'एवकारेण न कर्मत्वादिबोधकद्वितीयादिश्रुतेर्नापि लिङ्गादिभ्य इति दर्शितम् । वही पृ० ५१-२.

पदों के स्मरण का अभिप्राय यह है कि यहाँ अङ्गता के बोधक पद द्वितीया आदि विभक्तियों में नहीं होते हैं, फिर भी अङ्गता का ज्ञापन करते हैं। यहाँ अङ्गता का ज्ञान प्रधान के वाचक-पद के साथ पठित होने से ही सम्पन्न हो जाता है। यह आवश्यक नहीं कि अङ्गता-वाचक पद द्वितीया आदि में हो। वाक्य-प्रकरण में उद्धृत उदाहरण से प्रतीत होता है कि अङ्ग तथा प्रधान दोनों के वाचक-पद सम-विभक्तिक और यथासम्भव समान लिङ्ग तथा वचन के होते हैं।

शेष, अङ्ग, गौण, साधन आदि पद समानार्थक हैं, इसी प्रकार शेषी, अङ्गी, प्रधान आदि भी।

'यस्य पर्णमयी जुहूर्भवति०' आदि में 'पर्णता' इसीलिये जुहू का अङ्ग है, क्योंकि एक ही मन्त्र में दोनों का एक साथ पाठ है। पर्ण पलाश को कहते हैं।[१] 'जुहू' यज्ञ में प्रयुक्त होने वाला एक पात्र-विशेष है जिसका आकार अर्धचन्द्र की भांति होती है। इसमें दूसरे पात्र से घी काट-काटकर रखा जाता है। नियमानुसार इस अवत्त (काट-काटकर रखे गये) घृत का पात्र पलाश का ही बना होना चाहिये।[२] जहाँ तक बनाने का प्रश्न है जुहू जैसा पात्र पलाश से भिन्न किसी दूसरे काष्ठ से भी बनाया जा सकता है, किन्तु उस काष्ठ से निर्मित पात्र में अवत्तहवि रहने से 'अपूर्व' सम्पन्न नहीं हो सकता। अपेक्षित 'अपूर्व' तभी बनेगा जब 'जुहू' पलाशकाष्ठ की ही होगी। अतः यह नहीं कहा जा सकता है कि दूसरे काष्ठ से भी निर्माण हो सकने से पलाशकाष्ठ व्यर्थ होगा। ऐसी दशा में 'जुहू' शब्द पात्रविशेष का ही नहीं अपितु उससे सिद्ध होने वाले 'अपूर्व' का वाचक है। मूल के 'अत्र पर्णताजुह्वोः…लक्षणात्' का यही भाव है। 'यस्य पर्णमयी जुहूर्भवति' मन्त्र का मीमांसाशास्त्र के अनुसार अर्थ होगा 'पलाश से निर्मित पात्रविशेष में अवत्त-हवि को रखकर जुहू के अपूर्व को सम्पन्न करे। 'अर्थात् जुहू को पलाश से निर्मित करने पर उससे अपेक्षित अपूर्व की निष्पत्ति होगी, अन्यथा नहीं। अर्थसंग्रहकार के अनुसार 'जुहू' का अर्थ करते समय 'अवत्त-हविर्धारणद्वारा' इस पद का ग्रहण अनिवार्य है, अन्यथा पर्णता को अतिव्याप्ति स्रुवा आदि पात्रों में भी होने लगेगी। स्रुवा और जुहू दोनों भिन्न-भिन्न यज्ञपात्र हैं, दोनों का कार्य भिन्न है और दोनों के लिये अपेक्षित काष्ठ भी भिन्न होते हैं। 'जुहू' वह पात्र है जिसमें बड़े पात्र से खण्ड-खण्ड करके निकालकर घृत रखा जाता है। स्रुवा वह पात्र है जिससे जुहू में रखा घृत निकाल कर अग्नि में डाला जाता है और यह खदिरकाष्ठ से बनती है। यदि 'अवत्तहविर्धारणद्वारा' अर्थ 'जुहू' के साथ नहीं लिया जाता है तो उसके तथा स्रुवा के कार्यों की एकता का भ्रम हो जायेगा और कार्यसाम्य के कारण 'जुहू' की ही भांति स्रुवा का भी निर्माण पलाश से ही होने लगेगा, जबकि वस्तुतः उसको खदिर का ही बनाना अपेक्षित है।

'यस्य पर्णमयी जुहूः' आदि मन्त्र एक सामान्यविधि है जिसको अनारभ्यविधि भी कहते हैं। सामान्यविधि होने से प्रकृति तथा विकृति दोनों प्रकार के यागों में समानरूप से इसकी स्वतन्त्रप्राप्ति होती हैं। किन्तु लौगाक्षिभास्कर का कहना है कि सामान्यविधि होने पर भी 'पर्णता' आदि की प्राप्ति प्रकृतियागों में ही होगी, विकृतियागों में उसकी स्वतन्त्र उपस्थिति अपेक्षित नहीं है, क्योंकि 'प्रकृतिवद् विकृतिः कर्त्तव्या' (प्रकृति की भांति ही विकृति को भी करना चाहिये) इस अतिदेश वाक्य से प्रकृतियाग में पठित 'पर्णता' विकृतियागों में स्वतः प्राप्त हो जायेगी। अतिदेश वाक्य से विकृति-याग में 'पर्णता' की प्राप्ति होने पर भी, यदि 'प्रकृति' की भांति उसमें भी 'पर्णता' की स्वतन्त्र प्राप्ति स्वीकार की गयी तो दो-दो बार उसकी प्राप्ति होगी और पुनरुक्ति हो जायेगी जो दोष है। पुनरुक्ति दोष से बचने के लिये 'पर्णता' की अन्विति प्रकृतियाग में माननी चाहिये और विकृतियागों में उसकी प्राप्ति अतिदेश वाक्य से स्वीकार करनी चाहिये।

---

१. पलाशः किंशुकः पर्णो यज्ञियो रक्तपुष्पकः।

२. वैकङ्कती ध्रुवा प्रोक्ता आश्वत्थी चोपभृन्मता।
 जुहूः पलाशकाष्ठस्य खदिरस्य स्रुवो मतः॥

जिन यागों में द्रव्य, देवता, पात्र, काल आदि समस्त अङ्गों का कथन स्वतन्त्र रूप से होता है उनको 'प्रकृतियाग' कहते हैं, किन्तु जहाँ समग्र का कथन नहीं होता है, कर्ममात्र का निर्देश होता है, उसे 'विकृतियाग' कहते हैं। विकृति के अङ्गोपाङ्ग प्रकृति के अनुसार ही होते हैं। अग्निहोत्र, ज्योतिष्टोम, दर्शपूर्णमास आदि केवल प्रकृतियाग हैं और सौर्य, वायव्य, उद्भिद्, पौण्डरीक आदि विकृतियाग हैं।

अतिदेश—अतिदेशवाक्य तथा चोदकवाक्य परस्पर पर्याय हैं। किसी एक सन्दर्भ में शब्दतः प्राप्त विधियों का कार्यवशात् दूसरे कर्म में भी अन्वय कर लेना अतिदेश कहा जाता है।[1] ये विधिवाक्य प्रकृतियागों में उक्त होते हैं और सम्बद्ध विकृतियागों में भी प्राप्त होते हैं। जहाँ कहीं भी पठित वाक्य जिस किसी से भी न लगकर सम्बद्धों से ही अन्वित होते हैं। मीमांसासूत्रों के भाष्यकार शबरमुनि के अनुसार—"अतिदेशो नाम…

ये परत्र विहिता धर्मास्तमतीत्य अन्यत्र तेषां देशः। यथा, देवदत्तस्य भोजनविधि कृत्वा 'शालि-सूप-मांसापूपैः देवदत्तो भोजयितव्य' इति तमेव विधिं यज्ञदत्तेऽतिदिशति 'देवदत्तवद् यज्ञदत्तो भोजयितव्य' इति। श्लोकमपि उदाहरन्ति—

प्राकृतात् कर्मणो यस्मात् तत्समानेषु कर्मसु।
धर्मप्रदेशो येन स्यात् सोऽतिदेश इतिस्थितिः॥[2]

अनारभ्य विधि—जब यागविशेष का उपक्रम करके उससे ही सम्बद्ध विधियों का स्वतन्त्र रूप से निरूपण किया जाता है तब उसको आरभ्यविधि कहते हैं। यही विशेषविधि भी कही जा सकती है। किन्तु जब यागविशेष का उपक्रम न करके भी विधान किये जाते हैं, तब उनको अनारभ्यविधि कहते हैं। इन विधियों का सम्बन्ध यागविशेष से न होकर यागसामान्य से होता है, अतः इसे सामान्यविधि भी कहते हैं।

वाक्य की प्रकरण से प्रबलता—क्रम में पहले आने से 'वाक्य' 'प्रकरण' की अपेक्षा प्रबल माना जाता है। अन्यत्र उल्लेख किया जा चुका है कि एक ही देश या काल में दो प्रमाणों से विनियोग की संभावना होती है वहाँ दोनों का प्रयोग न करके केवल एक का किया जाता है। जिसका विधान होता है वही प्रबल होता है, क्योंकि उसके समक्ष दूसरे की कुछ नहीं चलती है।

इसी प्रकार का प्रसंग 'दर्शपूर्णमास' से सम्बद्ध अध्याय में निरूपित 'सूक्तवाक' नामक अनुवाक में आता है। इस अनुवाक में 'दर्भ' नामक घास का जिसे पारिभाषिक शब्दावली में 'प्रस्तर' कहते हैं—अग्नि प्रक्षेप प्रहरण—विहित है[3]। वहीं 'सूक्तवाक' में दो वाक्य पठित हैं। वे हैं—

१–अग्नीषोमाविदं हविरजुषेतामवीवृधेतां महोज्यायोऽक्राताम्।

तथा

२–इन्द्राग्नी इदं हविरजुषेतामवीवृधेतां महोज्यायोऽक्राताम्॥

मीमांसा का सिद्धान्तपक्ष यह है कि इन दोनों वाक्यों में से 'अग्नीषोमाविदं हविः' आदि वाक्य का विनियोग पौर्णमासयाग में होना चाहिये और 'इन्द्राग्नी इदं हविः' आदि का दर्शयाग के समय में क्योंकि अग्नि और सोम पौर्णमास के देवता है तथा इन्द्र और अग्नि दर्श के। देवता के नाम वाले मन्त्रों का विनियोग उससे सम्बद्ध याग में ही करना उचित है। एक-एक वाक्य भी सूक्तवाचक है, यतः एक ही मन्त्र के दोनों वाक्यों का अलग-अलग विनियोग अनुचित नहीं होगा।

---

१. अन्यत्रैव प्रणीतायाः कृत्स्नायाः धर्मसंहतेः।
अन्यत्र कार्यतः प्राप्तिरतिदेशोऽभिधीयते॥

२. जैमिनिसूत्र (७।१।१२) पर शाबरभाष्य तथा प्रतिपादिका पृ० ५५

३. 'सूक्तवाकेन प्रस्तरं प्रहरति'

यह है सिद्धान्तपक्ष, किन्तु पूर्वपक्ष की ओर से शङ्का की जा सकती है कि 'दर्शपूर्णमास' के प्रकरण में पठित होने से दोनों वाक्यों का विनियोग दर्श तथा पूर्णमास दोनों में समानरूप से होना चाहिये, एक-एक का पृथक्-पृथक् नहीं। जहाँ तक देवतावाचक पदों के प्रयोग का प्रश्न है, वहाँ उस देवता का नाम मन्त्र से निकाल दिया जायेगा जिसका उस क्रिया से सम्बन्ध नहीं होगा अर्थात् 'अग्नीषोमौ' अंश को दर्शयाग के प्रसंग में निकाल दिया जायेगा और 'इन्द्राग्नी' अंश को पौर्णमास के प्रसंग से, शेष पूरा मन्त्र दोनों ओर पढ़ा जायेगा। ऐसा करने से दर्शपूर्णमास प्रकरण में इन मन्त्रों के पाठ का औचित्य सिद्ध होगा अन्यथा वह दर्श अथवा पूर्णमास नामक एक ही अंश से सम्बद्ध होने पर पूरे प्रकरण में व्याप्त नहीं हो सकेगा। सामान्यतः दर्श[1] और पूर्णमास[2] इन दोनों का एक साथ 'दर्शपूर्णमास' पाठ अधिक मिलने से ऐसा प्रतीत होता है मानों यह एक ही याग का नाम है, जब कि वस्तुतः दोनों भिन्न हैं। दर्शयाग अमावस्या को तथा पूर्णमास पूर्णिमा को सम्पन्न किया जाता है। यहाँ मन्त्र एक है। यदि प्रकरण पर ध्यान दिया जाये तो उसे दर्श तथा पूर्णमास दोनों से समानरूप से पृथक्-पृथक् युक्त होना चाहिये और यदि देवता को देखा जाये तो अपने में पूर्ण वाक्यों का अलग-अलग क्रियाओं में विनियोग होना चाहिये। प्रथम विकल्प का ग्रहण करने पर प्रकरण की प्रबलता होगी और द्वितीय विकल्प का ग्रहण करने पर वाक्य की। दोनों में से किसका ग्रहण हो यही समस्या है।

मीमांसकों को प्रकरण की अपेक्षा वाक्य का ही प्राबल्य स्वीकार्य है अतः वाक्य के आधार पर ही विनियोग होना चाहिये। वाक्यप्रमाण का आश्रय लेने पर 'इन्द्राग्नी इदं हविः' यह वाक्य 'दर्श' का ही अङ्ग होगा, दर्श और पूर्णमास दोनों का नहीं। इसी प्रकार 'अग्नीषोमाविदं' आदि पूर्णमास, का अङ्ग होगा दर्श का भी नहीं। क्योंकि वाक्य प्रकरण से प्रबल है। भास्कर ने मूल ग्रन्थ में मन्त्र के उत्तरार्ध के वाक्य 'इन्द्राग्नी इदं हविः' को दर्श का अङ्ग कहा है, जब कि सुविधा के लिये पूर्वार्ध के "अग्नीषोमाविदं" आदि को पूर्णमास का अंग बतलाना चाहिये था। इसके दो कारण हो सकते हैं—१—प्रथम तो यह कि 'दर्शपूर्णमास' में 'दर्श' नाम पहले आता है अतः उसके ही अङ्ग का प्रथम निर्णय होना चाहिये। २—दूसरे दर्श की तिथि अमावस्या भी पहले आती है, पूर्णिमा बाद में, अतः उसके ही निर्णय की आवश्यकता भी पहले ही है।

प्रकरण की अपेक्षा वाक्य को प्रबल मानने के कारण है। वाक्य से प्रकरण की दुर्बलता का कारण विनियोग से उसकी दूरी है। उदाहरण के लिये 'इन्द्राग्नी इदं हविः' आदि मन्त्रों को लिया जा सकता है। यहाँ प्रकरण से विनियोग मानने पर 'अग्नीषोमौ' और 'इन्द्राग्नी' पदों को क्रमशः दर्श एवं पूर्णमास के प्रसंगों में निकाल देना पड़ेगा। 'दर्श' में 'अग्नीषोमौ' को निकाल देने पर शेष वाक्य में कर्त्ता का अभाव होने से 'इन्द्राग्नी' का अन्वय करना पड़ेगा और 'वाक्य' पूरा करना पड़ेगा। अर्थात् प्रकरण के अनुसार कार्य करने पर 'वाक्य' की कल्पना करनी पड़ेगी। उस वाक्य के द्वारा 'इन्द्राग्नि' दोनों देवताओं को प्रकाशित करने वाले सामर्थ्यरूप लिङ्ग प्रमाण की कल्पना करनी पड़ेगी। उस लिङ्ग से साक्षात् विनियोजक श्रुति को जानना आवश्यक होगा। अर्थात् प्रकरण से प्रारम्भ करने पर वाक्य, लिङ्ग और श्रुति तीन की कल्पना करने पर अर्थसिद्धि होगी जब कि वाक्य से प्रारम्भ करने पर केवल लिङ्ग और श्रुति की हो। मध्य में एक प्रमाणकल्पना कम करनी पड़ती है। इसलिये वाक्य प्रकरण की अपेक्षा प्रबल हुआ।

---

१. अमावास्या त्वमावस्या दर्शः सूर्येन्दुसङ्गमः। अमरकोशः। १।४।८॥

२. एकत्रस्थितचन्द्रार्कदर्शनात् दर्श इति इच्यते। 'दर्श इति सूर्याचन्द्रमसोः परः सन्निकर्षः अभिधीयते।' अमाशब्दः सहार्थे। यस्मिन् काले सूर्याचन्द्रमसोः सहवासः स कालः अमावस्या। मास इति चन्द्रमसः आख्या। पूर्णोमासो यस्मिन् काले स पूर्णमासः।

प्रकरणनिरूपणम्

(२३) उभयाकाङ्क्षा प्रकरणम्, यथा प्रयाजादिषु 'समिधो यजती'त्यादि-वाक्ये फलविशेषस्यानिर्देशात्समिद्यागेन भावयेदिति बोधानन्तरं किमित्युप-कार्याकाङ्क्षा । दर्शपूर्णमासवाक्येऽपि 'दर्शपूर्णमासाभ्यां स्वर्गं भावये'दिति बोधानन्तरं कथमित्युपकारकाकाङ्क्षा । इत्थं चोभयाकाङ्क्षया प्रयाजादीनां दर्शपूर्णमासाङ्गत्वम् ।

(उपकारक एवं उपकार्य) दोनों की परस्पर अपेक्षा 'प्रकरण' है । जैसे प्रयाजादि में 'समिधो यजति' इत्यादि वाक्यों में फलविशेष का उल्लेख न होने से 'समिध् नामक याग से भावना करे' इस अर्थ का बोध होने के पश्चात् 'किसको' (भावित करे) इस प्रकार की उपकार्य की आकांक्षा होती है । (इसी प्रकार) दर्शपूर्णमास के प्रसंग में पठित वाक्य में भी दर्श एवं पूर्णमास से स्वर्ग की भावना करे, बोध होने के पश्चात् 'कैसे' (करे) । इस प्रकार के उपकारक की आकांक्षा होती है । इस प्रकार से दोनों ओर की सापेक्षता के कारण प्रयाज आदि दर्शपूर्णमास के अङ्ग सिद्ध होते हैं ।

प्रकरणं लक्षयति—उभयेत्यादिना । आकाङ्क्षात्वं चेल्लक्षणं शाब्दबोधकारणीभूता-काङ्क्षायामतिप्रसङ्गस्तद्वारणाय—उभयेति विशेषणम् । उभयत्वं चेत्तदोभयत्वावच्छिन्ने घटपटादावतिव्याप्तिस्तद्वारणायोत्तरं दलम् । परस्परमुभयाकाङ्क्षेत्यर्थः । प्रकरणमिति लक्ष्यनिर्देशः । तत्रोदाहरणद्वारोभयाकाङ्क्षां प्रदर्शयन् लक्षणसमन्वयं करोति—यथेत्यादिना । इत्थं चेति । अनेन प्रकारेण चेत्यर्थः ।

यहाँ 'उभय' का अर्थ है अङ्ग तथा अङ्गी । इससे स्पष्ट हो जाता है कि अङ्ग और अङ्गी में ही परस्पर आकांक्षा होने पर 'प्रकरण' माना जायेगा, अन्यत्र नहीं । अङ्गी हैं दर्शपूर्णमास आदि प्रधान याग तथा अङ्ग हैं समिध् आदि प्रयाज । अङ्गी को ही प्रधान, फल, उपकार्य आदि तथा अङ्ग को अप्रधान, साधन, उपकारक आदि कहते हैं ।

जिन स्थलों पर अङ्गीसूचक वाक्य हैं उनके समीप में फलवत्ता आदि के भी बोधक वाक्य हैं किन्तु 'कथमाकाङ्क्षा'—अंग की आकांक्षा—के बोधक वाक्य नहीं हैं, वहाँ अङ्गाङ्गियों की परस्पर आकांक्षा पूर्ति न होने से 'प्रकरण' नहीं होगा । उदाहरणार्थ—'दर्शपौर्णमासाभ्यां स्वर्गं भावयेत्' यह स्वर्ग भावना-विषयक वाक्य है । इसकी 'कथंभावाकाङ्क्षा' के निवृत्त न होने से 'यो ब्राह्मणा-यवगुरेत् तं शतेन यातयात्' इस फलवत्ता का अभिधान होने पर भी यहाँ प्रकरण नहीं है, क्योंकि इस वाक्य से इस आकांक्षा की पूर्ति नहीं होती है कि दर्शपूर्णमास को कैसे सम्पन्न किया जाये ।

यहाँ आकांक्षा का भी अर्थ 'शाब्दबोध' की प्रक्रिया में पठित आकांक्षा से भिन्न है क्योंकि वहाँ परस्पर साकांक्ष पद होते हैं, यहाँ पर अंग और अंगी कार्य ।

विकृतियागों में 'प्रकृतिवद् विकृतिः कर्त्तव्या' इस अतिदेशवाक्य से ही विकृतियाग की फल-भावना की अङ्गता की आकांक्षा शान्त हो जाती है । यहाँ उसके अपूर्व के अङ्गों की आकांक्षा रहने पर भी 'प्रकरण' से अङ्गता नहीं स्वीकार की जायेगी, अपितु उसकी सिद्धि सान्निध्यरूप स्थान प्रमाण से होगी ।

अङ्ग और अङ्गी की परस्पर आकांक्षा कैसे होती है, यह मूल में स्पष्ट है । 'दर्शपूर्णमास' अङ्गी हैं जिनको अपनी पूर्णता के लिये अङ्गों की आवश्यकता है । 'समिध्' आदि याग अंग हैं जिनको अपनी सार्थकता के लिये अंगी की आवश्यकता है । एक दूसरे के अभाव में अपूर्ण-से हैं । ऐसी स्थितियों में कथंभावाकाङ्क्षा के पूरक अंग होते हैं ।

(२४) तच्च प्रकरणं द्विविधम्। महाप्रकरणमवान्तरप्रकरणं चेति।

तत्र मुख्यभावनासंबन्धिप्रकरणं महाप्रकरणम्। तेन च प्रयाजादीनां दर्शपूर्णमासाङ्गत्वम्। एतच्च प्रकृतावेव उभयाकाङ्क्षायाः संभवान्न नतु विकृतौ। तत्र 'प्रकृतिवद्विकृतिः कर्तव्ये' त्यतिदेशेन कथंभावाकाङ्क्षाया उपशमेनापूर्वाङ्गानामप्युभयाकाङ्क्षया विनियोगासंभवात्। तस्मादपूर्वाङ्गानां स्थानादेव विकृत्यर्थत्वमिति।

वह प्रकरण दो प्रकार का है—१—महाप्रकरण तथा २—अवान्तरप्रकरण। इन दोनों में मुख्य भावना से सम्बन्धित प्रकरण महाप्रकरण है। इसी से (महाप्रकरण से) प्रयाज आदि की दर्शपूर्णमास की अङ्गता सिद्ध होती है। यह महाप्रकरण प्रकृतियागों में ही होता है क्योंकि उभयकांक्षा वहीं संभव है न कि विकृतियागों में। वहाँ (विकृतियागों में) तो 'प्रकृति के सदृश ही विकृति भी करनी चाहिये' इस अतिदेश से ही कथंभावाकांक्षा की शान्ति हो जाने से अपूर्व-प्रकृति में अप्राप्त अङ्गों–का भी उभयाकांक्षा से विनि.ाग नहीं हो सकता। अतः (अर्थात् प्रकरण का अभाव होने से) अपूर्वाङ्गों की–प्रकृति में अप्राप्त अङ्गों की–स्थान-प्रमाण से ही विकृति के लिये उपयोगिता सिद्ध होती है।

प्रकरणं विभजते—तच्च प्रकरणमित्यादिना। तच्चेति। उक्तलक्षणलक्षितं चेत्यर्थः।

तत्रेति। महाप्रकरणावान्तरप्रकरणयोर्मध्य इत्यर्थः। मुख्यभावनेति। फलभावनेत्यर्थः। तेन चेति। महाप्रकरणेन चेत्यर्थः। अङ्गत्वम्। बोध्यत इति शेषः। तद्धि महाप्रकरणं प्रयाजादीन्यङ्गानि दर्शपूर्णमासयोर्विनियुङ्क्ते इत्यर्थः। एतच्च। महाप्रकरणं चेत्यर्थः। तत्र हेतुमाह—उभयेति। प्रकृतावेवेत्यनुषङ्गः। एवकारव्यावर्त्यमाह—न त्विति। विकृतावुभयाकाङ्क्षाया असंभवादिति भावः। तत्रेति। विकृतावित्यर्थः। अतिदेशेनेति। अतिदेशवाक्यप्राप्तप्राकृताङ्गजातेनेत्यर्थः। कथंभावाकांङ्क्षायाः। इतिकर्तव्यताकाङ्क्षाया इत्यर्थः। तथा च यद्यप्युपहोमादीनामपूर्वाङ्गानामुपहोमादिभिर्भावयेत् किं भावयेदित्यस्त्याकाङ्क्षा तथापि सौर्यादिविकृतियागस्यातिदेशवाक्यप्राप्तप्राकृताङ्गैरेव नैराकाङ्क्षयेण नापूर्वाङ्गानामप्युपहोमादीनामुभयाकाङ्क्षया विकृतौ विनियोगः संभवतीति भावः। ननु प्राकृताङ्गानां विकृतावपठितत्वादप्रत्यक्षाणां कथं विकृत्याकाङ्क्षोपशमहेतुत्वं, वैकृताङ्गानां तूपहोमादीनामत्र पठितत्वेन प्रत्यक्षाणां संभवत्याकाङ्क्षोपशान्तिहेतुत्वमिति चेन्न। तेषां विकृतौ पठितत्वेन प्रत्यक्षत्वेऽप्यन्यत्राक्लृप्तोपकारकत्वाच्छीघ्रं विकृत्याकाङ्क्षोपशान्तावसामर्थ्यात्। अतिदिष्टानां तु प्रकृतौ क्लृप्तोपकारकत्वेन संभवति तदाका.्क्षोपशमनसामर्थ्यम्। न च तेषामेव प्राकृताङ्गानां विकृतौ प्रकरणाद् ग्रहणं स्यादिति वाच्यम्। तेषामपि प्रकृतावुपकारकत्वेनोपक्षीणाकाङ्क्षत्वात्। न च प्राकृताङ्गानामत्रोपस्थापकाभावेनानुपस्थितत्वमिति वाच्यम्। उपमानप्रमाणस्योपस्थापकस्य सत्त्वेन तेषामत्रोपस्थितत्वात्। तथा हि—सौर्यवाक्यस्य दर्शने ह्यौषधद्रव्यत्वस्यैकदैव ह्युक्तस्य च सादृश्यस्य दर्शनेनानेन सदृशमाग्नेयवाक्यमित्याग्नेयवाक्यमुपमीयते गवयदर्शनादनेन सदृशी मदीया गौरिति गोरुपमानवत्। आग्नेयवाक्ये चोपमिते तेन तदर्थो ज्ञायते। स च त्र्यंशभावनारूपस्तस्मिंश्च ज्ञाते सौर्यवाक्ये भावनाया भाव्यस्य करणस्य च विद्यमानत्वेन तत्राकाङ्क्षाभावेऽपीतिकर्तव्यताकाङ्क्षायां प्राकृतोपकारपृष्ठभावेनाग्नेयेतिकर्तव्यतामतिदिश्य सौर्ययागेन

ब्रह्मवर्चसं भावयेदाग्नेयवदिति सिद्ध्यति । तस्मादाग्नेयेतिकर्तव्यतयैव विकृत्याकाङ्क्षोपशमने सौर्यादौ विकृतावुभयाकाङ्क्षारूपप्रकरणाभावात् स्थानादेवोपहोमादीनामपूर्वाङ्गानां विकृति-शेषत्वमित्युपसंहरति—तस्मादिति ।

प्रकरण के दोनों अंगों का उल्लेख करने के पश्चात् बतलाया जा रहा है कि महाप्रकरण की संभावना प्रकृतियागों में ही होती है, क्योंकि वहीं फलभावना का निर्देश होता है, वहीं अंग और अंगी का समग्रोपदेश भी होता है। जहाँ अंग और अंगी दोनों का कथन समानरूप से होगा, वहीं उभयाकांक्षा संभव भी होगी। यदि एक में भी आकांक्षा का अभाव हुआ तो 'प्रकरण' संभव न होगा। विकृतियागों में अंगों का साक्षात् कथन नहीं होता है अपितु 'प्रकृतिवद् विकृतिः कर्त्तव्या' इस अतिदेश वाक्य से ही उनकी प्राप्ति हो जाती है। कुछ स्थल ऐसे भी हैं जहाँ विकृतियागों की इतिकर्त्तव्यता की पूर्ति अतिदेश वाक्यों से हो जाने पर भी कुछ अंगबोधक वाक्य कथित होते हैं जिनका उल्लेख प्रकृतियाग में नहीं होता है। मूल में प्रयुक्त 'अपूर्वाङ्ग' पद का प्रयोग ऐसे ही वाक्यों के लिये हुआ है जो अंग तो हैं किन्तु पूर्वपठित प्रकृतियाग के साथ अंगरूप में उल्लिखित नहीं हैं। यहाँ प्रश्न उठता है कि किस प्रकरण से इनको अंगता स्वीकार्य होगी।

इस प्रश्न का समाधान ग्रन्थकार ने दिया है कि ऐसे वाक्यों से अङ्गता का ज्ञान तो होगा किन्तु प्रमाण 'प्रकरण' नहीं अपितु 'स्थान' होगा। प्रकृति के साथ अनुल्लिखित किन्तु विकृति के साथ पठित वाक्य, सन्निधि के कारण समीपवर्ती विकृति के अङ्ग हो जाते हैं।

विकृति की सन्निधि में पठित अपूर्वाङ्ग प्रकरण से अङ्ग नहीं होते हैं क्योंकि उभयाकांक्षा के अभाव में प्रकरण संभव नहीं। यदि एक की भी साकांक्षता न रही तो वहाँ प्रकरण नहीं हो सकता है। अतः विकृतियागों की इतिकर्त्तव्यता 'प्रकृतिवद् विकृतिः कर्त्तव्या' अतिदेश वाक्य से ही पूर्ण हो जाती है। उसके साधन का ज्ञान अन्यतः अपेक्षित नहीं रहता, अतः अन्य अङ्गबोधक पठित वाक्यों के प्रति वह सामान्यतः निराकांक्ष हो जाता है। ऐसी परिस्थिति में अङ्गवाक्य को तो अंगी की आवश्यकता होती है, किन्तु अंगी को अंग की आकांक्षा नहीं रहती। उभयाकांक्षा न रहने से उसकी अङ्गता प्रकरण से सिद्ध नहीं होती।[1] उसकी अङ्गरूप में सार्थकता 'स्थान' प्रभाव से होती है। सौर्यादि विकृति हैं। इनकी सन्निधि में पठित उपहोम आदि प्रकृति दर्शपूर्णमास आदि के साथ पठित नहीं हैं, अतः सौर्य याग में इसे प्रकरण प्रमाण से अङ्ग नहीं माना जा सकता, सन्निधि में पठित होने से उसकी अङ्गता 'स्थान' प्रमाण से होगी।

(२५) अङ्गभावनासंबन्धिप्रकरणमवान्तरप्रकरणम् । तेन चाभिक्रमणादीनां प्रयाजाद्यङ्गत्वम् । तच्च संदशेनैव ज्ञायते । तदभावे चाविशेषात्सर्वेषां फल-भावनाकथंभावेन ग्रहणप्रसङ्गेन प्रधानाङ्गत्वापत्तेः ।

अङ्गभावना से सम्बद्ध प्रकरण अवान्तर-प्रकरण है। इसी (अवान्तर प्रकरण से ही) अभिक्रमण आदि की प्रयाज आदि की अङ्गता का ज्ञान होता है। यह अङ्गता सन्दंश से ही ज्ञात होती है। उसके (सन्दंश के) न रहने पर तो (प्रकरण के भेदों में कोई) अन्तर न रहने से (प्रयाज आदि महाप्रकरण तथा अभिक्रमण आदि अवान्तरप्रकरण) सभी का फल-भावना की इतिकर्त्तव्यता के रूप में ग्रहण होने लगेगा (और उनमें समान रूप से) प्रधान की अङ्गता सिद्ध होने लगेगी।

---

१. यत्र न समग्राङ्गोपदेशः सा विकृतिः, यथा सौर्यादिः। तत्र च यान्यपूर्वाण्यङ्गानि विद्यन्ते उपहोमादीनि तेषां न प्रकरणं विनियोजकम्। तत्र यद्यपि तेषां किं भावयेदित्यस्त्याकांक्षा, तथापि प्रधानस्य न कथंभावाकाङ्क्षाऽस्ति, प्राकृतैरेवाङ्गैर्निराकाङ्क्षत्वात्। मीमांसान्यायप्रकाश पृ० १७५–६।

अवान्तरप्रकरणं लक्षयति—अङ्गभावेनेति । तेन चेति । **अवान्तरप्रकरणेन चेत्यर्थः । अत्रापि बोध्यत इति शेषः** । तच्चेति । तेन तेषां तदङ्गत्वं चेत्यर्थः । संदंशेनेति । **संदंशो लोहकण्टकविद्धलोहशलाकाद्वयरूपस्तेनेत्यर्थः** । तन्न्यायेनेति यावत् । **तदनङ्गीकारे दोषमाह**—तदभाव इति । **संदंशाभाव इत्यर्थः** । अविशेषात् । **प्रकरणाविशेषात् । सर्वेषां प्रयाजादीनामभिक्रमणादीनां च** कथंभावेन **इतिकर्तव्यतारूपेण** । प्रधानाङ्गत्वापत्तेः **दर्शादिप्रधानाङ्गत्वापत्तेः । तथा चाभिक्रमणादीनां प्रयाजाद्यङ्गत्वग्रहे संदंशस्याभावे सति दर्शादिप्रधानयागप्रकरणपाठाविशेषात्प्रयाजादिवदभिक्रमणादीनामपि दर्शादिफलभावनाया इतिकर्तव्यताकाङ्क्षया ग्रहणप्रसङ्गेन दर्शादिप्रधानयागाङ्गत्वापत्तेस्ततसंदंशेनैव ज्ञातुं शक्यत इति समुदायार्थः ।**

महाप्रकरण का सम्बन्ध फलभावना से होता है और अवान्तर प्रकरण का अङ्गभावना से। अङ्ग की बोधक विधियों से ज्ञात होने वाली भावना अङ्गभावना है। दर्शपौर्णमास प्रधान याग है। उससे स्वर्गरूप फल की भावना होती है, अतः प्रधान याग से सम्बद्ध भावना फलभावना या प्रधानभावना कही जाती है। प्रयाज आदि अङ्गयाग हैं जिनसे दर्श आदि प्रधान की इतिकर्त्तव्यता की पूर्ति होती है। प्रयाज आदि कुछ अङ्गों से घटित होते हैं। इन अङ्गों से प्रयाज की कथंभावाकांक्षा की पूर्ति होती है। प्रयाज आदि दर्श आदि प्रधान यागों के साक्षात् उपकारक होते हैं, किन्तु प्रयाज के अङ्ग सीधे दर्श आदि से नहीं युक्त होते हैं। वे प्रयाज के माध्यम से प्रधान के उपकारक होते हैं।

इसी को अवान्तरप्रकरण कहते हैं। प्रधान दर्श आदि के सन्दर्भ में पठित और साक्षात उपकारक प्रयाज आदि महाप्रकरण हैं। किन्तु उसके अङ्गभूत प्रयाज आदि के भी जो अङ्ग होते हैं वे गौण होने से सीधे प्रधान याग से नहीं जुड़ पाते, अतः उनको अवान्तर प्रकरण कहते हैं।

अङ्गों के भी अङ्गभूत अवान्तर प्रकरण का ज्ञान सन्दंश से होता है। प्रयाज आदि स्वयं में दर्श आदि के अङ्ग हैं। यह प्रयाज अनेक क्रियाओं या उपयागों का समूह है। ये उपयाग प्रयाज नाम से प्रधान के उपकारक हैं। इन अङ्गों के भी उपकारकों का ज्ञान कैसे हो, उनकी अङ्गता कैसे होती है, यह समस्या उत्पन्न होती है। उसी के समाधान के लिये सन्दंश का विवेचन अपेक्षित है। सन्दंश सँडसी को कहते हैं जिसके दोनों सिरों को दबाकर बीच में बटलोई आदि वस्तुओं को पकड़ा जाता है। इसी प्रकार एक अङ्गकर्म से सम्बद्ध दो वाक्यों के बीच में जब कोई वाक्य पठित होता है और उसका प्रधान कर्म से सीधा सम्बन्ध भी नहीं प्रतीत होता है, तब उस सँड़सी के बीच में बटलोई की भांति पड़े वाक्य को सन्दंशपतित कहा जाता है। प्रधान का साक्षात् उपकारक न होने से वह अङ्ग का ही उपकारक मान लिया जाता है, क्योंकि इस वाक्य को अपनी सार्थकता के लिये किसी कर्म से जुड़ने की आकांक्षा होती है। इसी प्रकार जिसके निकट यह वाक्य पठित है उसे भी साधन की अपेक्षा होनी है। अतः उभयाकांक्षा होने से प्रकरण का लक्षण यहाँ घटित हो जाता है। यदि यह अवान्तरप्रकरण सन्दंश के मध्य में न होता तो इसका सम्बन्ध अङ्ग से न होकर अन्य क्रियाओं की भांति सीधे दर्शादि से ही हो जाता और अवान्तर तथा महाप्रकरणों में कोई अन्तर ही न रह जाता। इसी बात को मूल में 'अविशेषात्' आदि शब्दों से व्यक्त किया गया है।

व्याख्याकारों में मतभेद—मूल में पठित 'तच्च और' 'तदभावे' में दोनों 'तद्' के अर्थ कुछ टीकाकारों ने भिन्न-भिन्न दिये हैं। रामेश्वर शिवयोगी ने प्रथम 'तत्' का अर्थ 'अङ्गत्व' तथा द्वितीय का 'सन्दंश' दिया है। **तच्चेति । तेन तेषां तदङ्गत्वं चेत्यर्थः ।……तदभाव इति । सन्दंशाभाव इत्यर्थः ।'** वहीं श्रीकृष्णनाथ भट्टाचार्य ने प्रथम तथा द्वितीय दोनों 'तद्' का अर्थ 'अवान्तर प्रकरण' ही किया है—**'तच्चेति । अवान्तर प्रकरणञ्चेत्यर्थः ।……तद्भाव इति ।**

अवान्तरप्रकरणाभावे इत्यर्थः।[1] किन्तु अर्थसङ्गति रामेश्वर शिवयोगी की ही टीका से बैठती है, अतः उसी के अनुसार अर्थ किया गया है।

संदंशलक्षणम्

(२६) एकाङ्गानुवादेन विधीयमानयोरङ्गयोरन्तराले विहितत्वं संदंशः। यथाभिक्रमणे। तद्धि 'समानयते जुह्वाम् उपभृतस्तेजो वा' इत्यादिना प्रयाजानुवादेन किंचिदङ्गं विधाय विधीयते–'यस्यैवंविदुषः प्रयाजा इज्यन्ते प्रैभ्यो लोकेभ्यो भ्रातृव्यान्नुदतेऽभिक्रामं जुहोत्यभिजित्यै' इति, तदनन्तरं 'यो वै प्रयाजानां मिथुनं वेद' त्यादिना किंचिदङ्गं विधीयते। अतः प्रयाजाङ्गमध्ये विहितमभिक्रमणं तदङ्गम्। प्रयाजैरपूर्वं कृत्वा यागोपकारं भावयेदिति ज्ञाते कथमेभिरपूर्वं कर्तव्यमिति कथंभावाकाङ्क्षायाः सत्त्वात्। सा च संदंशपठितैरभिक्रमणादिभिः शाम्यति।

न चाङ्गभावनायाः कथंभावाकाङ्क्षाऽभावः, भावनासामान्येन तत्रापि तत्संभवात्।

(किसी भी) एक अङ्ग का अनुवाद करते समय (उससे सम्बद्ध) दो अङ्गविधियों के बीच में किये जा रहे विधान को सन्दंश कहते हैं। जैसा कि अभिक्रमण में (किया गया है)। वह (अभिक्रमण) का प्रसङ्ग इस प्रकार है। 'जुहू' में 'उपभृत्' से घृत लाता है' इत्यादि वाक्य से प्रयाज का अनुवाद करके उसके किसी अङ्ग का विधान किया जाता है। इसके बाद 'जिस विद्वान् के इस प्रकार से प्रयाजों का यजन होता है वह इन लोकों से शत्रुओं को नष्ट (अथवा पीड़ित) करता है। विजय के लिये अभिक्रमण का अनुष्ठान करता है (अथवा अभिक्रमण करते हुए होम करता है।), इसका विधान होता है। इसके भी बाद में 'जो प्रयाजो के मिथुन को जानता है' इत्यादि मन्त्र से किसी अङ्ग का विधान होता है। इसलिये प्रयाज के (दोनों) अङ्गों के बीच में पठित अभिक्रमण उस (प्रयाज) का अङ्ग है। 'प्रयाजों से अपूर्व उत्पन्न करके याग का उपकार करना चाहिये' इतना ज्ञात होने पर इन (प्रयाजों) से अपूर्व कैसे (उत्पन्न) करना चाहिये' इस प्रकार की कथंभावाकांक्षा उपस्थित होती है। यह कथंभावाकांक्षा सन्दंश में पठित अभिक्रमण आदि से शान्त होती है। यह बात नहीं है कि अङ्गभावना को कथंभावकांक्षा का अभाव है, क्योंकि भावनासामान्य में (कथंभावाकांक्षा) होने से वहाँ भी उसकी संभावना है।

संदंशंलक्षयति। एकाङ्गानुवादेनेति। तत्रोदाहरणमाह—यथाभिक्रमण इति। अभिक्रमणे ह्येकस्य प्रयाजरूपस्याङ्गस्यानुवादेन विधीयमानयोः प्रयाजाङ्गयोरन्तराले विहितत्वं भवत्येव। तदेवाह—तद्धीत्यादिना। तद्धि, अभिक्रमणं हीत्यर्थः। समानयते जुह्वामुपभृत इति। उपभृतो घृतपात्रविशेषाज्जुह्वां जुहूरूपपात्रविशेषे घृतं समानयत इति मन्त्रार्थः। किंचिदङ्गमिति। उपभृतः पात्राज्जुह्वां प्रयाजार्थं घृतानयनरूपमङ्गमित्यर्थः। तदनन्तरमपीति। अभिक्रमणानन्तरमपीत्यर्थः। तदनन्तरमपीत्यस्य 'किंचिदङ्गं विधीयत' इत्युत्तरेणान्वयः। 'प्रयाजाङ्ग'मिति पाठे तु तस्यापि किंचिदङ्गमित्यनेनोत्तरेणैवान्वयः। भ्रातृव्यानिति। शत्रूनित्यर्थः। तुदत इति। व्यथयति अपतुदतीति वार्थः। जयतीति यावत्।

१. प्रतिपादिका पृ० ६१।

अभिक्रामं जुहोत्यभिजित्यै इति । **विजययाहवनीयं सर्वतः संचरणं कृत्वा जुहुयादित्यर्थः ।** मिथुनं वेदेति । **युगलं जानातीत्यर्थः ।** अत इति । **प्रयाजानुवादेन विहिततदङ्गमध्ये विहितत्वादित्यर्थः ।**

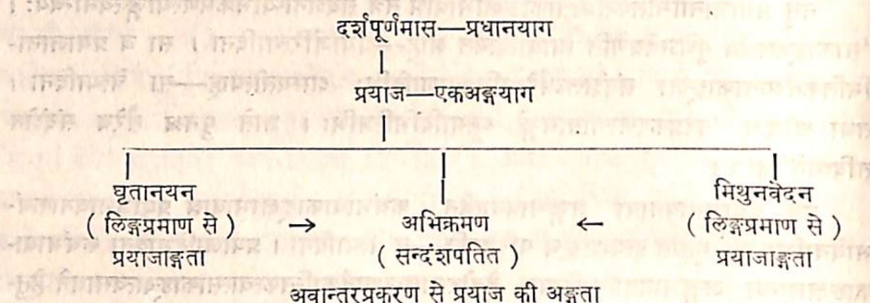
ननु प्रयाजानामितिकर्तव्यताकाङ्क्षाभावान्न तत्र संदंशेनाप्यभिक्रमणस्याङ्गत्वेनान्वयः । 'साकाङ्क्षस्यैव गुणेऽन्वेषणेति न्यायादित्यत आह—प्रयाजैरित्यादिना । **सा च प्रयाजानामितिकर्तव्यताकाङ्क्षा संदंशलब्धैरेवाभिक्रमणादिभिः शाम्यतीत्याह**—सा चेत्यादिना । **तथा चोक्तम् 'परप्रकरणस्थानामङ्गे श्रुत्यादिभिस्त्रिभिः । ज्ञाते पुनश्च तैरेव संदंशेन तदिष्यते' इति ।**

ननु प्रयाजभावनाया अङ्गभावनात्वेन कथंभावाकाङ्क्षाभावान्न प्रयाजभावनाकथंभावेनाभिक्रमणं गृह्यत इत्याशङ्क्य परिहरति—न चेत्यादिना । **प्रयाजादिभावना कथंभावाकाङ्क्षाशून्या अङ्गभावनात्वादित्यत्र हेतोरसाधारणानैकान्तिकत्वात्साकाङ्क्षत्वसाधने हेतुसत्त्वाच्च न प्रयाजाद्यङ्गभावनायाः कथंभावाकाङ्क्षाशून्यत्वमित्याह**—भावनासाम्येनेति । **प्रयाजाद्यङ्गभावना कथंभावसाकाङ्क्षा भावनात्वाद्दर्शादिभावनावदिति प्रयोगोऽत्र बोध्यः । न चावहननादिभावनाव्यभिचारः, तस्याः पक्षसमत्वात् ।** तत्रापि तत्संभवादिति । **प्रयाजाद्यङ्गभावनायामपि कथंभावाकाङ्क्षासंभवादित्यर्थः ।**

यहाँ सन्दंश का अर्थ तथा उसके मध्य में पड़े हुए वाक्य की अवान्तरप्रकरणता का विवेचन किया गया है । सर्वप्रथम मूल में प्रयुक्त 'एकाङ्ग' 'अनुवाद' आदि शब्दों का भी अर्थ समझ लेना चाहिये । दर्शपूर्णमास प्रधानयाग हैं और प्रयाज उनके अङ्ग हैं । प्रयाज में पाँच क्रियायें होती हैं—१–समिध् २–तनूनपात ३–इड् , ४–बर्हिष् तथा ५–स्वाहाकार याग । इन पाँचों के समूह को प्रयाज कहते हैं । इनका विधान सर्वप्रथम 'प्रयाजाः कर्त्तव्याः' विधिवाक्य से किया जाता है । इसी प्रथम कथन को 'वाद' भी कहा जाता है । यही एकाङ्गवाद है । किन्तु जब प्रयाज की पाँचों क्रियाओं का अलग-अलग विधान 'समिधो यजति,' 'तनूनपातं यजति,' 'इडो यजति,' 'बर्हिर्यजति,' 'स्वाहाकारं यजति' रूपों में किया जाता है, तब दुबारा भी विधान होने के कारण इसे 'अनुवाद' कहते हैं । यहाँ प्रयाजरूप एक अङ्ग के आहवनीय स्थल पर घृत का होम करना है । उसके विधायक वाक्य हैं । अतः यहाँ 'एकाङ्गानुवाद' हुआ । 'उपभृत्' तथा 'जुहू' यज्ञ में काम आने वाले दो पात्रों का नाम है । 'समानयते०' आदि मन्त्र में तेजस् अर्थात् घृत लाने का वर्णन है, अतः इसे घृतानयन मन्त्र कहते हैं । इसी प्रकार 'यो वै प्रयाजानां मिथुनं वेद' आदि में मिथुनपद आया है, उसीको जानने की बात वर्णित है, अतः इसको 'मिथुनवेदन' मन्त्र कहते हैं । प्रयाज के एकाङ्गानुवाद रूप में इन दोनों विधिवाक्यों का प्रयोग है । इन दोनों वाक्यों के मध्य में 'यस्यैवं विदुषः··· अभिक्रामं जुहोति' आदि मन्त्र आता है । दोनों विधिवाक्य सन्दंश की दो शलाकाओं की भांति हैं जिनके मध्य में 'अभिक्रामं जुहोति' मन्त्र है । इस मन्त्र को अभिक्रमण-मन्त्र भी कहते हैं । यह अभिक्रमणविधि प्रयाज के अङ्गभूत घृतानयन तथा मिथुनवेदन के मध्य में पठित होने से प्रयाज का अङ्ग है, क्योंकि इस मध्यवर्ती विधि से प्रयाज की इतिकर्त्तव्यता का ज्ञान होता है । वस्तुतः प्रयाजाः 'कर्त्तव्याः' का अर्थ है—प्रयाजैः अपूर्वं कृत्वा यागोपकारं भावयेत्'—प्रयाजों से अपूर्व उत्पन्न करके प्रधान याग का उपकार करना चाहिये । प्रयाजों का इससे प्रयोजन तो सिद्ध हो गया, किन्तु यह ज्ञात नहीं हो सका कि इनसे अपूर्वों की निष्पत्ति कैसे होगी । उसकी कथंभावाकांक्षा बनी ही रह जाती है जिसकी पूर्ति अभिक्रमण वाक्य से होती है— जिसका अर्थ है अभिक्रमण करते हुए—आहवनीय के चारों ओर घूमते हुए यजन करना चाहिये—अभिक्रामं जुहोति । यहाँ 'कैसे' का

उत्तर 'चारो ओर घूमते हुये' से मिलता है। प्रयाज के अङ्गभूत घृतानयन एवं मिथुनवेदन के मध्य में आया 'अभिक्रमण' अवान्तरप्रकरण है जो अङ्ग के माध्यम से प्रधान का उपकारक है।

इनमें घृतानयन तथा मिथुनवेदन की प्रयाज की अङ्गता लिङ्ग प्रमाण से सिद्ध होती है और अभिक्रमण की अवान्तरप्रकरण से। रेखाचित्र इस प्रकार है—



अवान्तरप्रकरण से प्रयाज की अङ्गता

अङ्गभावना की कथंभावाकांक्षा—यहाँ एक शङ्का हो सकती है कि इतिकर्त्तव्यता अर्थात् कथंभावाकांक्षा तो प्रधान याग से सम्बद्ध भावना में होती है न कि अङ्ग-यागों की भावना में। इसका समाधान यह है कि जहाँ कहीं भी भावना है उसके साथ इतिकर्त्तव्यता का होना आवश्यक है। वहाँ यह नहीं देखा जाता है कि वह प्रधानभावना है अथवा अङ्गभावना है। अङ्ग यागों के विधायक विधिवाक्यों में भी धातु होती है जिसके प्रत्ययांश से भावना व्यक्त होती है। अतः भावना होने से वहाँ भी साध्य, साधन तथा प्रकार की अपेक्षा होती है। जिस प्रकार प्रधान याग के विधायक वाक्य में धातु के प्रत्ययांश में भावना होती है और उसके अङ्गोपाङ्ग होते हैं, उसी प्रकार से अङ्गभावना में भी उसकी सत्ता होती ही है। इससे प्रयाज की अङ्गभावना की कथंभावाकांक्षा पर आक्षेप नहीं किया जा सकता। यहाँ दर्शपूर्णमास प्रधानयाग से सम्बद्ध भावना प्रधानभावना तथा प्रयाज की भावना अङ्गभावना है। प्रयाजभावना भी भावना है, अतः वहाँ कथंभावाकांक्षा का होना आवश्यक है।

(२७) तदिदं प्रकरणं क्रियाया एव साक्षाद्विनियोजकं द्रव्यगुणयोस्तु तद्द्वारा। तथाहि—'यजेत स्वर्गकाम' इत्यत्र फलभावनायां कथंभावाकाङ्क्षायां संनिधिपठिताऽश्रूयमाणफलकं क्रियाजातमुपकार्याकाङ्क्षयेतिकर्तव्यतात्वेनान्वेति। क्रियाया एव लोके कथंभावाकाङ्क्षायामन्वयदर्शनात्। न हि हस्तेन कुठारेण छिन्द्यादित्यत्र कथंभावाकाङ्क्षायामुच्चार्यमाणोऽपि हस्तोऽन्वेति किंतु हस्तेनोद्यम्य निपात्येति उद्यमननिपातने एव, हस्तश्च तद्द्वारैवान्वेतीति सर्वजनीनमेतत्।

वह (दो प्रकार का निरूपित) विवेचन का विषय प्रकरण क्रिया की ही साक्षात् रूप से अङ्गता का ज्ञापक (विनियोजक) होता है, द्रव्य एवं गुण की (अङ्गता का ज्ञापक) उस (क्रिया) के माध्यम से ही होता है। जैसे—'यजेत स्वर्गकामः' इस वाक्य में (स्वर्गरूप) फल की भावना में कथंभावाकांक्षा होने पर पास में ही पठित और न सुने जा रहे फल वाला क्रियासमूह उपकार्य —प्रधान–की आकांक्षा से इतिकर्त्तव्यता के रूप में अन्वित हो जाता है। क्योंकि लोक में देखा जाता है कि कथंभावाकांक्षा होने पर क्रिया का ही अन्वय होता है। 'कुठार से काटना चाहिये' इस वाक्य में कथंभावाकांक्षा होने पर कथित होने पर भी हस्त

का अन्वय नहीं होता है, अपितु 'हाथ से उठाकर गिराकर' इस प्रकार उठाना और गिराना ही (अन्वित होता है ।) हाथ तो उसके (उद्यमन आदि क्रिया के) माध्यम से ही (छेदन रूप क्रिया से) अन्वित होता है, यह सभी लोगों को ज्ञात है ।

निरूपितप्रकरणस्य साक्षाद्विनियोज्यविषयमुपन्यस्यति—तदिदमित्यादिना । प्रकृतस्यैव व्यवहितविनियोज्यमादर्शयति—द्रव्येति । तद्द्वारेति । क्रियाद्वारेत्यर्थः । अत्र च द्रव्यस्य क्रियाद्वारैव प्रकरणं विनियोजकं गुणस्य तु द्रव्यक्रियोभयद्वारा विनियोजकमिति भावः । फलभावनायामिति । फलभावनायां क्रियाजातमितिकर्तव्यतात्वेनान्वेतीति संबन्धः । भिन्नप्रकरणस्थक्रियाया अन्यत्र क्रियायामन्वयापत्तिवारणाय संनिधिपठितमित्युक्तम् । श्रूयमाणफलस्य क्रियाजातस्येतिकर्तव्यतात्ववारणायाश्रूयमाणफलमित्युक्तम् । प्रधानस्योपकारकाङ्क्षाभावे तत्र तदन्वयादर्शनात्कथंभावाकाङ्क्षायामित्युक्तम् । गुणस्याप्युपकार्याकाङ्क्षाभावेऽप्युपकारकत्वेनान्वयादर्शनादुपकार्याकाङ्क्षयेत्युक्तम् । इतिकर्तव्यताकाङ्क्षायां क्रियाया एव साक्षादन्वये लोकप्रसिद्धिं हेतुत्वेन दर्शयति–क्रियाया एवेत्यादिना । क्रियाया एवान्वयदर्शनादित्यन्वय इत्यर्थः । कुठारेण छिन्द्यादित्यत्र कथमिति कथंभावाकाङ्क्षायां हस्तेनेत्युच्चार्यमाणोऽपि हस्तो न हि च्छिदिभावनायां साक्षादन्वेतीत्यभिप्रेत्याह—न हीत्यादिना । उद्यमननिपातने एवान्वित इति शेषः । उद्यमनं च निपातनं चोद्यमननिपातने इति द्विवचनं । सन्धिस्तु लेखकप्रमादतः । यद्वा–उद्यमनेन निपातन उद्यमननिपातन इति व्याख्येयम् । अत्र चान्वेतीत्यनुषङ्गः । तद्द्वारैवेति । उद्यमननिपातनद्वारैवेत्यर्थः । सर्वजनीनमिति । सर्वेषु जनेषु भवमित्यर्थः । सर्वजनप्रसिद्धमिति यावत् । किंच कथंभावाकाङ्क्षा नाम करणगतप्रकाराकाङ्क्षा थमुनः प्रकारवाचित्वात्, सामान्यस्य भेदको विशेषः प्रकारः, सामान्यं च क्रियारूपमेवाख्यातेनोच्यते । 'यजेत स्वर्गकाम' इत्यस्य ह्ययमर्थः-यागेन तथा कर्तव्यं यथा स्वर्गो भवतीति, क्रियासामान्यस्य च विशेषः क्रियैव भवति, न हि ब्राह्मणविशेषः परिव्राजकादिरब्राह्मणो भवति, एवं च करणगतक्रियाविशेषाकाङ्क्षापरनामधेयायां कथंभावाकाङ्क्षायां क्रियैवान्वेतीति युक्तम् । स च करणगतः क्रियाविशेषोऽन्वाधानादिब्राह्मणतर्पणान्तः क्रियारूप एवेति युक्तं तस्य प्रकरणेनैव ग्रहणं तस्य च करणगतत्वं तदुपकारकत्वमेव तेन विना यागेनापूर्वाजननात् । न ह्युद्यमननिपातनव्यतिरेकेण कुठारेण द्वैधीभावो जन्यते । तत्सिद्धं कथंभावाकाङ्क्षया क्रियेवान्वेतीति । तदिदं प्रकरणं स्थानादितो बलीयो भवति । तथा हि—राजसूयप्रकरणे पश्विष्टिसोमभागा बहवः समप्रधानभूताः पठ्यन्ते । तत्र च कश्चिदभिषेचनीयसंज्ञकः सोमयागः पठितः । तस्य हि संनिधौ विदेवनादयो धर्माः 'अक्षैर्दीव्यति राजन्यं जिनाति शौनःशेपमाख्यापयती'ति श्रूयन्ते । जिनाति जयतीत्यर्थः । बहवृचब्राह्मणे समाम्नातं शुनःशेपविषयमुपाख्यानं शौनःशेपं तदाख्यापयतीत्यर्थः । तत्र च विदेवनादीनां संनिधिबलादभिषेचनीयाङ्गत्वमिति प्राप्ते राद्धान्तः, राजसूयेतिकर्तव्यताकाङ्क्षायामनुवृत्तायां विहिता विदेवनादयः प्रकरणेन राजसूयशेषा एव भवन्ति । राजसूयश्च बहुयागात्मको भवति । ततश्च तत्रत्यसर्वयागशेषत्वं विदेवनादीनां सिध्यति । किंचाभिषेचनीयस्य काचिदप्याकाङ्क्षा विदेवनादिषु नास्त्येव । तस्य ज्योतिष्टोमविकृतित्वेनातिदिष्टैरेव प्राकृताङ्गैस्तदाकाङ्क्षानिवृत्तेः ।

यहाँ स्पष्ट किया गया है कि प्रकरणप्रमाण के द्वारा किसकी अङ्गता प्रदर्शित की जाती है, द्रव्य की, गुण की, क्रिया की अथवा जाति की। पूर्व सन्दर्भों में देखा जा चुका है कि श्रुतिप्रमाण के द्वारा व्रीहि सदृश द्रव्य, आरुण्य सदृश गुण, प्रोक्षण आदि क्रिया, 'इमाम् अगृभ्णन्०' आदि मन्त्र, आहवनीय सदृश अग्नि, और यहाँ तक कि एकत्व एवं पुंस्त्व सदृश अमूर्त अदार्थों की भी अङ्गता सिद्ध की गयी है। लिङ्गप्रमाण के द्वारा 'बर्हिर्देवसदनं दामि', 'स्योनं ते सदनं कृणोमि' आदि मन्त्रों की ही अङ्गता प्रदर्शित की गयी है। इसी प्रकार वाक्यप्रमाण से 'यस्य पर्णमयी जुहूर्भवति' सदृश मन्त्रों में पर्णतारूप गुण की और 'इन्द्राग्नी इदं हविः' आदि में मन्त्र की अङ्गता प्रकट की गयी है। यहाँ इस बात पर बल दिया जा रहा है कि प्रकरण प्रमाण के द्वारा—चाहे वह महा-प्रकरण हो या अवान्तर—केवल क्रिया का ही साक्षात् विनियोग होता है। द्रव्य और गुणों का विनियोग गौणरूप से क्रिया के माध्यम से ही होता है।

यथा 'यजेत स्वर्गकामः' यह स्वर्गरूप फल को प्रदर्शित करने वाला वाक्य है। इसका अर्थ है कि जिसे स्वर्ग की कामना हो वह याग करे। प्रश्न है, कैसे करे? यही कथंभावाकांक्षा है। उत्तर है कि उसी प्रकरण में पठित है—'प्रयाजाः कर्त्तव्याः'। ये क्रियासमूह प्रयाज आदि ही इतिकर्त्तव्यता के रूप में उपस्थित होकर प्रधान याग से अन्वित होते हैं। प्रयाज इसलिये अन्वित होते हैं क्योंकि इनको भी किसी 'उपकार्य'—प्रधान क्रिया की आकांक्षा रहती है। 'किमर्थं प्रयाजाः' कर्त्तव्याः' यह प्रश्न रहता है, और समाधान मिलता है प्रधानक्रिया 'यजेत' से—स्वर्ग की साधनभूता यजन क्रिया से। अर्थात् स्वर्ग को साधनभूता यजन-क्रिया को पूर्णता हेतु प्रयाज करना चाहिये। प्रयाज स्वयं में न द्रव्य है न गुण, अपितु समिध् आदि पाँच क्रियाओं का समूह हैं। इस प्रकार इति-कर्त्तव्यता के रूप में प्रयाज के क्रियासमूह ही उपस्थित होते हैं, क्योंकि 'प्रयाजाः कर्त्तव्याः' में उनका प्रयोजन या फल शब्दतः उपात्त नहीं है, अतः फलाकांक्षा के कारण यह भी 'स्वर्गकामो यजेत' से सम्बद्ध होता है।

लौकिक उदाहरण के द्वारा भी यह स्पष्ट किया गया है कि कैसे इतिकर्त्तव्यता के रूप में क्रिया का विनियोग होता है। 'हस्तेन कुठारेण छिन्द्यात्'—हाथ से कुल्हाड़ी से (वृक्ष) काटना चाहिये सदृश लौकिक वाक्यों में साधन के रूप में 'हाथ' मौजूद है। हाथ स्वयं कुठार से काष्ठ काटने में समर्थ नहीं होता है, अपितु वह कुठार को उठाने और गिराने की क्रिया के द्वारा ही सफल होता है। अतः उद्यमन और निपातन क्रियायें ही प्रमुख हैं जिनका कटाई से सम्बन्ध है। हाथ तो इनके द्वारा ही कटाई का सहयोगी होता है। इससे सिद्ध होता है कि प्रकरणप्रमाण से क्रिया का ही साक्षात् विनियोजन होता है, हस्त सदृश द्रव्य आदि का नहीं।

(२८) इदं च स्थानादितः बलवत्। अत एवाक्षैर्दीव्यति राजन्यं जिनातीति देवनादयो धर्मा अभिषेचनीयसंनिधौ पठिता अपि स्थानान्न तदङ्गं, किंतु प्रकरणाद्राजसूयाङ्गमिति।

यह प्रकरण स्थानादि प्रमाणों से प्रबल है। इसी लिये 'अक्षैर्दीव्यति'—पांसों से जुआ खेलता है—, 'राजन्यं जिनाति'-'क्षत्रिय को जीतता है—, ये द्यूत आदि धर्म अभिषेचनीय के समीप में पठित होने पर भी स्थानप्रमाण से उसके-अभिषेचनीय के-अङ्ग नहीं हो सके अपितु प्रकरणप्रमाण के कारण राजसूय के अङ्ग हुये।

ननु संनिहितविधिबलादाकाङ्क्षोत्थाप्यत इति चेत् तर्ह्याकाङ्क्षारूपमन्तराले प्रकरणमादौ परिकल्प्य तद्द्वारा वाक्यलिङ्गश्रुतिकल्पनयासंनिधिर्विप्रकृष्यते, राजसूयाकाङ्क्षारूपं महाप्रकरणं तु क्लृप्तत्वादेकयाऽऽकाङ्क्षया संनिकृष्यते, ततश्च प्रकरणेन संनिधेर्बाधात्सर्व

यागशेषा विदेवनादयो धर्मा इत्यभिप्रेत्य प्रकरणस्य स्थानादिभ्यो बलवत्त्वमाह—इदं चेत्यादिना ।

एक साथ पठित होना स्थानप्रमाण है और उभयाकांक्षा प्रकरण । ऐसी दशा में अन्यत्र पठित होने पर भी यदि परस्पर आकांक्षा की पूर्ति होती है तो उन भिन्नदेशीय क्रियाओं में अङ्गाङ्गीभाव होगा, न कि निरपेक्ष किन्तु एक स्थान पर पठित क्रियाओं का । इसी से प्रकरण स्थान आदि की अपेक्षा प्रबल कहा जाता है ।

वैदिक उदाहरण द्वारा इस विषय को स्पष्ट किया जाता है । राजसूय नामक एक यज्ञविशेष है । उसके प्रसङ्ग में पशुयाग, इष्टि, सोमयाग आदि अनेक प्रमुख याग निरूपित हैं । वहीं अभिषेचनीय नामक कोई सोमयाग भी विहित है । इसी अभिषेचनीययाग के पास ही देवन, राजजय आदि धर्म भी पठित हैं—अक्षैर्दीव्यति, राजन्यं जिनाति आदि । अब प्रश्न यह उठता है कि संनिधि पाठ के कारण देवन आदि को अभिषेचनीय का उपकारक माना जाये अथवा प्रकरण के कारण राजसूयगत पशुयाग आदि सभी का उपकारक । ये देवन आदि धर्म अभिषेचनीय के समीप तो हैं किन्तु उनकी न तो उसे आकांक्षा है और न उन देवनादि में अभिषेचनीय की अर्हता । अभिषेचनीय को इनकी आकांक्षा इसलिये नहीं है क्योंकि वह स्वयं में ज्योतिष्टोम का विकृतियाग है, अतः उसकी कथंभावाकांक्षा उसके अतिदेश से—'प्रकृतिवद् विकृतिः कर्त्तव्या' से—ही पूर्ण हो जाती है । उसे अन्य की आकांक्षा ही नहीं रहती । इस रूप में देवनादि को उपकार्य की आकांक्षा होने पर भी अभिषेचनीय उनके प्रति निराकांक्ष हो जाता है और उनका अङ्गाङ्गिभाव संभव नहीं होता । दूसरी ओर राजसूय की कथंभावाकांक्षा की पूर्ति देवन आदि क्रियाओं से हो जाती है । उनके कथंभावाकांक्षा की पूर्ति इनके अतिरिक्त अन्यों से नहीं होती । ऐसी दशा में राजसूय की कथंभावाकांक्षा की पूर्ति देवनादि से होने से और देवनादि की फलाकांक्षा की पूर्ति राजसूय से होने से, एक साथ पठित न होने पर भी, दोनों का अङ्गाङ्गिभाव सिद्ध हो जाता है । यदि एक साथ पढ़ा जाना ही प्रबल होता तो यह क्रिया संभव न होती । अतः सिद्ध हो जाता है कि प्रकरण स्थान से प्रबल है । देवन आदि के राजसूय का अङ्ग सिद्ध होने से उसके पशुयाग, इष्टि आदि सभी के साथ देवन का योग होता है ।

(२९) देशसामान्यं स्थानम् । तद्द्विविधम्-पाठसादेश्यमनुष्ठानसादेश्यं चेति । स्थानं क्रमश्चेत्यनर्थान्तरम् । पाठसादेश्यमपि द्विविधम्-यथासङ्ख्यपाठः संनिधिपाठश्चेति ।

समानदेशता स्थानप्रमाण है । वह स्थान दो प्रकार का है—पाठसादेश्य और अनुष्ठान-सादेश्य । स्थान और क्रम भिन्न अर्थ नहीं हैं (अर्थात् स्थान और क्रम दोनों का एक ही अर्थ है ।) पाठसादेश्य भी दो प्रकार का है—यथासंख्यपाठ और संनिधिपाठ ।

स्थानं लक्षयति—देशसामान्यमिति । संनिधिविशेषत्वमिति लक्षणान्तरम् । स्थानं क्रमश्चेति लक्ष्यत्वेन निर्दिश्यते । पाठसमानदेशत्वेनानुष्ठानसमानदेशत्वेन च स्थानं विभजते—तद्द्विविधमित्यादिना । यथासंख्यपाठत्वेन संनिधिपाठत्वेन च पाठसमानदेशत्वमपि विभजते—पाठसादेश्यमित्यादिना ।

देशसामान्य का अर्थ है समानदेशता अर्थात् एक ही स्थान पर एकाधिक वाक्यों का होना । 'देश' जगह का वाचक है और 'सामान्य' समानता का । 'समान' या सदृश का भाव ही 'सामान्य' है । इस प्रकार विभिन्न प्रत्ययों के कारण रूप भिन्न होने पर भी अर्थ में भेद नहीं है और देश-सामान्य, सादेश्य, सदेशत्व, समानदेशत्व सब समानार्थक ही हैं—समानः देशः येषां ते समानदेशाः सदेशाः वा । समानदेशानां सदेशानां वा भावः समानदेशत्वं सदेशत्वं सादेश्यं वा ।

वाक्यों की एक स्थान पर उपस्थिति दो रीतियों से संभव है, या तो उनको एक साथ एक ग्रन्थ के अध्यायविशेष में पढ़ा गया हो अथवा वे पठित तो हों भिन्न-भिन्न अध्यायों में किन्तु उनको एक ही अनुष्ठान को सम्पन्न करने के लिये सङ्कलित कर लिया गया हो। जहाँ पाठमात्र से समान-देशवर्तित्व का ज्ञान होता है उसको पाठसादेश्य कहते हैं। यह सादेश्य का प्रथम प्रकार है। जब एक ही स्थान पर अनुष्ठेय रूप से निर्देश होता है तब अनुष्ठान-सादेश्य होता है। इन रूपों में स्थानप्रमाण दो प्रकार का हुआ।

स्थान तथा क्रम की एकता—मीमांसासूत्र में 'स्थान' की जगह 'क्रम' का उल्लेख है—"क्रमश्च देशसामान्यम्" (मी० सू०)। वार्तिक में भी 'क्रम' के ही दो भेद पाठसादेश्य' और 'अनुष्ठानसादेश्य' बतलाये गये हैं—

तत्र क्रमो द्विधैवेष्टो देशसामान्यलक्षणः।
पाठानुष्ठानसादेश्याद् विनियोगस्य कारणम्॥

ऐसी दशा में यहाँ 'क्रम' का उल्लेख होना था, न कि 'स्थान' का। उसी का निराकरण करने के लिये ग्रन्थकार ने 'स्थान' तथा 'क्रम' को एकार्थक माना है। लौगाक्षिभास्कर की यह प्रक्रिया 'मीमांसान्याय-प्रकाश'[1] के अनुसार है। वहाँ भी 'देशसामान्यं स्थानम्' ही कहा गया है। 'स्थान' तथा 'क्रम' की समानार्थकता अन्यत्र भो दृष्टिगोचर होती है—

श्रुतिर्द्वितीया क्षमता च लिङ्गं वाक्यं पदान्येव तु संहतानि।
सा प्रक्रिया या कथमित्यपेक्षा **स्थानं क्रमो** योगबलं समाख्या॥[2]

लौकिक व्यवहार में भी 'स्थान' तथा 'क्रम' समानार्थक देखे जा सकते हैं। किसी परीक्षोत्तीर्ण छात्र से यह पूछना कि 'तुम्हारा कौन-सा स्थान है', इसी भाव को व्यक्त करता है कि 'योग्यता-क्रम में कहाँ हो।'

(३०) तत्र 'ऐन्द्राग्नमेकादशकपालं निर्वपेत्'। वैश्वानरं द्वादशकपालं निर्वपेदि'त्येवं क्रमविहितेषु† 'इन्द्राग्नी रोचना दिव' इत्यादीनां याज्यानुवाक्या-मन्त्राणां यथासंख्यं प्रथमस्य प्रथमं द्वितीयस्य द्वितीयमित्येवंरूपो विनियोगो यथासंख्यपाठात्। प्रथमपठितमन्त्रस्य हि कैमर्थ्याकाङ्क्षायां प्रथमतो विहितं कर्मैव प्रथममुपतिष्ठते समानदेशत्वात्। एवं द्वितीयमन्त्रस्यापि। वैकृताङ्गानां प्राकृताङ्गानुवादेन विहितानां संदंशपतितानां विकृत्यर्थत्वं संनिधिपाठात् यथा आमनहोमानाम्‡। तेषां हि कैमर्थ्याकाङ्क्षायां फलं विकृत्यपूर्वमेव भाव्यत्वेन संबध्यते, उपस्थितत्वात्, स्वतन्त्रफलकत्वे विकृतिसंनिधिपाठानर्थक्यापत्तेः।

उनमें (पाठसादेश्य के दोनों भेदों में) 'ऐन्द्राग्नम् एकादशकपालं निर्वपेत्'—इन्द्र और अग्नि के लिये ग्यारह कपालों में निर्वपन करे—'वैश्वानरं द्वादशकपालं निर्वपेत्'—वैश्वानर के लिये बारह कपालों में निर्वपन करे—इस प्रकार के क्रम से अभीष्ट कर्मों में 'इन्द्राग्नी रोचना दिवः' इत्यादि याज्यानुवाक्या मन्त्रों का जो संख्या के अनुसार प्रथम का प्रथम के साथ और द्वितीय का द्वितीय के साथ इस प्रकार का विनियोग है वह यथासंख्यपाठ से है। प्रथम पठित मन्त्र के साध्य–कैमर्थ्य–की आकांक्षा होने पर प्रथमतः निर्दिष्ट कर्म ही सर्वप्रथम उपस्थित

१. मीमांसान्यायप्रकाश पृ० १९९। २. प्रतिपादिका टीका पृ० ६६।

† विहितेष्टिषु इति पाठान्तरम्।

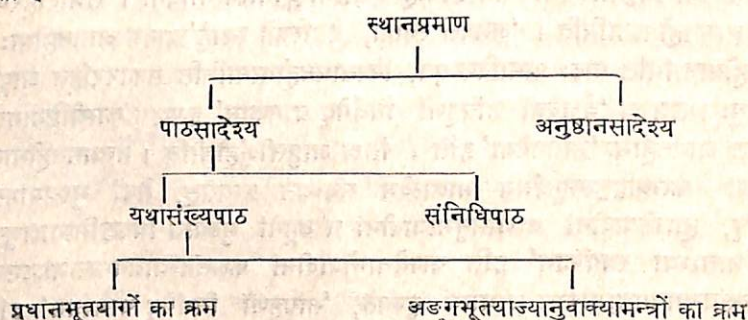
‡ अमनोहोमानाम् आमनहोमादीनाम् इति पाठान्तरम्

होता है, क्योंकि उनमें सादेश्य होता है। इसी प्रकार से द्वितीय मन्त्र का भी। प्रकृतियागों के अङ्गों के अनुवाद के रूप में कथित और विकृतियागों के सन्दंशपतित अङ्ग संनिधिपाठ से विकृति के अङ्ग होते हैं जैसे कि आमनहोम। उन वैकृताङ्गों के साध्य की आकांक्षा होने पर फलरूप में विकृति का अपूर्व ही भाव्य रूप से सम्बद्ध होता है, क्योंकि वही निकट में उपस्थित होता है, (संदंशपतित अङ्गों का विकृतयाग से) अलग साध्य मानने पर उनका विकृतियाग की सन्निधि में पाठ व्यर्थ सिद्ध होने लगेगा।

तत्र यथासंख्यपाठत्वेन समानदेशत्वं तमुदाहरति—तत्रैन्द्राग्नमित्यादिना। प्रथमस्य प्रथममिति। प्रथमस्यैन्द्राग्नमित्यैन्द्राग्नेष्टियागस्य 'इन्द्राग्नी रोचना दिव' इति प्रथमं याज्यानुवाक्यायुगलमङ्गं, द्वितीयस्य वैश्वानरमिति वैश्वानरेष्टियागस्य 'वैश्वानरोऽजीजन' दित्यादि द्वितीयमङ्गमित्यर्थः। एवंरूपे विनियोगे हेतुमाह—प्रथमपठितमन्त्रस्येत्यादिना। कैमर्थ्याकाङ्क्षायामिति। किमर्थोऽयं मन्त्र इति कैमर्थ्याकाङ्क्षायामित्यर्थः। एवं द्वितीयमन्त्रस्यापीति। किमर्थोऽयं मन्त्र इति द्वितीयमन्त्रस्यापि कैमर्थ्याकाङ्क्षायां द्वितीयस्थाने विहितमेव कर्मोपतिष्ठते समानदेशत्वादित्यर्थः। कोऽर्थो यस्य सकिमर्थः, तस्य भावः कैमर्थ्यं तस्याकाङ्क्षायामिति निरुक्त्या किमनेन मन्त्रेण भाव्यमिति सिध्यति। अत्र च क्रमस्योदाहरणान्तरमपि वर्तते। तथा हि—दर्शपूर्णमासयोराध्वर्यवे काण्डे आग्नेयोपांशुयाजाग्नीषोमीययागाः क्रमेणाम्नाताः। याजमाने च काण्ड आग्नेयादिविषयास्तेनैव क्रमेण मन्त्रा आम्नाताः 'अग्नेरहं देवयज्ययान्नादो भूयासं दब्धिरस्यदब्धो भूयासममुं दभेयमग्नीषोमयोरहं देवयज्यया वृत्रहा भूयास'मिति। तत्राद्यन्तयोराग्नेयाग्नीषोमीययोः कर्मणोराद्यन्तौ मन्त्रौ, मध्यमस्य चोपांशुयाजस्य कर्मणो मध्यमो 'दब्धिरस्यदब्धो भूयासममुं दभेय'मिति मन्त्रोऽङ्गं, तस्य च ब्राह्मणवाक्यमेवमाम्नायते—'एतया वै दब्ध्या देवा असुरान् दभ्नुवन् तयैव भ्रातृव्यं दाम्नोतो'ति दिधर्घातकमायुधमित्यर्थः। न चाग्नेयाग्नीषोमीययोरप्यनिष्टनिवारकत्वेन साधारणलिङ्गेन दब्धिमन्त्रस्याङ्गत्वं किं न स्यादिति वाच्यम्। यथा वाक्यद्वयानुसंधानेन संपन्नं प्रकरणं पृथक्प्रमाणं तथा प्रकरणद्वयानुसंधानसंपन्नेन क्रमप्रमाणेनोपांशुयाजे तस्य मन्त्रस्य विनियोगात्। न च क्रमस्य प्रकरणस्य प्रकरणेऽन्तर्भाव इति वाच्यम्। द्वयोर्वाक्ययोरिव प्रकरणयोरेकवाक्यत्वाभावात्। तस्मात्क्रमप्रमाणेन मध्यवर्तिन उपांशुयाजस्य मध्यवर्ती मन्त्रोऽङ्गं समानदेशत्वादिति यथासंख्यपाठत्वाद्विनियोग उक्तः। संनिधिपाठात्तु यानि वैकृतान्यङ्गानि प्राकृताङ्गानुवादेन विहितानि संदंशपतितानि तेषां विकृतौ विनियोग इत्याह—वैकृताङ्गानामित्यादिना। तत्रोदाहरणमाह—यथा आमनहोमानामिति। 'अमनसे स्वाहा, रेतस्विने स्वाहे'त्यादय आमनहोमाः। यद्वा,—अमनोहोमानामिति पाठः प्रामादिक एव, किंत्वामनहोमानामिति सकाररहित आपूर्व एव पाठः साधुः। तत्र च 'वैश्वदेवीं सांग्रहणीं निर्वपेद् ग्रामकाम' इत्यस्य काम्येष्टियागस्य संनिधौ श्रूयन्त आमनहोमा 'आमनदेवा' इति। तिस्र आहुतीर्जुहोतीति। नन्वामनहोमानां फलाकाङ्क्षायां फलवद्विकृत्यपूर्वमेव भाव्यत्वेन संबध्यत इत्यसत्, तेषां मुख्ययागत्वे विरोधाभावात्, ह्याग्नेयादीनां षण्णामनुमत्यादीनां च बहूनां मुख्यत्वं विरुद्धमित्याशङ्क्य यथा 'दर्शपूर्णमासाभ्यां स्वर्गकाम' इति वाक्येनाग्नेयादीनां फलसंबन्धावगमस्तथाऽऽमनहोमानां फलसंबन्धावगमाभावान्न प्राधान्यं युज्यते, 'सांग्रहणीं निर्वपेद् ग्रामकाम' इति

वाक्यस्य तु सांग्रहण्या एव फलसंबन्धबोधकत्वेनामनहोमानां तत्संबन्धबोधकत्वाभावात्। तस्मात् 'फलवत्संनिधावफलं तदङ्ग'मिति न्यायात्फलवत्याः सांग्रहण्याः संनिधावाम्नाता अफला आमनहोमास्तदङ्गमित्यभिप्रेत्य किमर्था इमे किलेति कैमर्थ्याकाङ्क्षायां फलवत्तया विकृत्यपूर्वस्यैव भाव्यत्वेन संबन्धे हेतुमाह—उपस्थितित्वादिति। **संनिधिप्रमाणेनोपस्थितत्वादित्यर्थः। नन्वामनहोमानां सांग्रहणीसंनिधिपाठेऽपि विश्वजिन्न्यायेन स्वतन्त्रफलकत्वमेव किं न स्यादित्यत आह**—स्वतन्त्रफलकत्व इत्यादिना। **फलवत्कर्मासंनिधौ पठितस्यैवाश्रूयमाणफलस्य विश्वजिन्न्यायेन स्वतन्त्रफलं कल्प्यते। अन्यथा प्रयाजादीनामपि तन्न्यायेन स्वतन्त्रफलकत्वापत्तिः स्यात्। अफलस्य फलवत्संनिधौ पाठस्तु तदङ्गत्वायैव। तदभावेऽनर्थकत्वमेव तस्यापद्येतेति भावः।**

यहाँ पाठसादेश्य के सन्निधिपाठ तथा यथासंख्यपाठ दोनों भेदों का क्रमशः निरूपण किया गया है। इन्द्र तथा अग्नि को लक्ष्य कर सम्पाद्य कर्म ऐन्द्राग्न्येष्टि याग तथा विश्वानर को लक्ष्य करके वैश्वनरेष्टियाग कहा जाता है। 'ऐन्द्राग्नम्०' आदि से ऐन्द्राग्न्येष्टि और 'वैश्वानरं द्वादश०' आदि से वैश्वानरेष्टियाग का विधान है। इसी क्रम से 'इन्द्राग्नी रोचना दिवः' और 'वैश्वानरोऽजीजनत्' ये याज्यानुवाक्या मन्त्र हैं। ये अङ्गमन्त्र हैं। याज्या (इज्यते अनया) वह मन्त्र है जिसका पाठ 'होता' हविप्रदान के समय करता है। अनुवाक्या (अनूच्यते अनया) एक आह्वान मन्त्र है जिसे 'होता' या 'मैत्रावरुण' देवताओं का आह्वान करने के लिये पढ़ता है, जिससे देवता उपस्थित होकर प्रदान किये जा रहे हव्य को स्वीकार करता है। 'इन्द्राग्नी' आदि मन्त्र इसी प्रकार के हैं। 'ऐन्द्राग्नम् एकादशकपालं निर्वपेत्' तथा 'वैश्वानरं द्वादशकपालं निर्वपेत्' दोनों 'मैत्रायणी संहिता' के मन्त्र हैं और क्रमशः आगे-पीछे पठित हैं। 'ऐद्राग्नम्' आदि की संख्या (मै० सं० २।१।१) है और 'वैश्वानरम्०' की (मै० सं० २।१।२)। जिस प्रकार ये दोनों मन्त्र–मन्त्रयुगल–एक साथ एक क्रम में पठित हैं उसी प्रकार मैत्रायणी संहिता (४।११) में ही क्रमशः 'इन्द्राग्नी रोचना दिवः' तथा 'वैश्वानरोऽजीजनत्' इन याज्यानुवाक्या मन्त्रों के जोड़े प्रारम्भ होते हैं। अतः दोनो स्थानों पर पाठसादेश्य है जिनमें क्रमशः साध्य की आकांक्षा होने पर प्रथमपठित का प्रथम के साथ और द्वितीयतः पठित का द्वितीय के साथ सम्बन्ध अभीष्ट होता है। जब यह प्रश्न होता है कि 'इन्द्राग्नी०' मन्त्र का साध्य क्या है तब वहाँ प्रथमपठित 'ऐन्द्राग्नं०' आदि उपस्थित होता है और इसी प्रकार 'वैश्वानरो०' की कैमर्थ्यामांक्षा होने पर क्रमप्राप्त 'वैश्वानरं द्वादश०' की प्राप्ति होती है। वहाँ 'ऐन्द्राग्नं' प्रथम है, यहाँ 'इन्द्राग्नी रोचना०' और वहाँ 'वैश्वानरं द्वादशकपालं०' द्वितीय स्थान पर है तथा यहाँ 'वैश्वानरोऽजीजनत्' द्वितीय स्थान पर है। इस प्रकार प्रथम का प्रथम से और द्वितीय का द्वितीय से योग यथासंख्य है। इस रेखाचित्र से पूरी स्थिति स्पष्ट हो जाती है—



१—ऐन्द्राग्न (मै० सं० २।१।१) ←——→ १—इन्द्राग्नी रोचना दिवः (मै० सं० ४।११)
२—वैश्वानर (मै० सं० २।१।२) ←——→ २—वैश्वानरोऽजीजनत्

यथासंख्यपाठ से विनियोग के विशिष्ट ज्ञान के लिये जैमिनीयन्यायमालाविस्तर (३।३।१२) द्रष्टव्य है।

संनिधिपाठ नामक पाठसादेश्य के भेद का उपयोग प्रकृतियागों के अङ्गों के अनुवाद के रूप में विहित विकृतियागों के अङ्गों के मध्य सन्दंशपतित कर्मों के निरूपण के समय किया जाता है। प्रकृतियाग, विकृतियाग और संदंश का अर्थ पहले निरूपित किया जा चुका है, अतः उनकी पुनरुक्ति यहाँ अपेक्षित नहीं। सन्दंश के मध्य पठित—सन्दंशपतित—वाक्यों से बोधित क्रियाओं का भी साध्य विकृतियों का साध्य ही है। विकृति का ही अपूर्व उससे भी परम्परया पुष्ट होता है। संदंशपतितों की विकृत्यङ्गता समीप में उपस्थिति के कारण होती है। यदि उसका फल विकृति का अपूर्व न मानकर कोई स्वतन्त्र साध्य मान लिया जाये तो विकृति के समीप में उसका पाठ व्यर्थ हो जायेगा। मीमांसा में कोई भी मन्त्र या पद अनर्थक नहीं होता।

यथा आमनहोमानाम्—यहाँ आमनहोमों को संनिधिपाठ के कारण विकृति के अपूर्व का उपकारक सन्निधिपाठ से बतलाया गया है। 'आमन' उस होम का नाम है जिसमें मन का सम्यक् ग्रहण अपेक्षित होता है—'संगृहीतं मनोऽस्मिन् इति आमनम्। छान्दसोऽन्त्यलोपः। संस्कृत में 'मनस्' शब्द है जिसके अन्त्यसकार का लोप वैदिक प्रयोग में हुआ है। रामेश्वर शिवयोगी को 'आमनहोम' शब्द ही अभीष्ट है 'अमनोहोम' नहीं। 'आमनसे स्वाहा' 'रेतस्विने स्वाहा' इत्यादि आमनहोम कहे जाते हैं।

दर्शपूर्णमास प्रकृतियाग हैं। इनकी प्राप्ति 'दर्शपूर्णमासाभ्यां यजेत स्वर्गकामः' से होती है। उसका एक विकृति याग 'सांग्रहणी' है। इसकी प्राप्ति "वैश्वदेवीं सांग्रहणीं निर्वपेद् ग्रामकामः" मन्त्र से होती है। यह एक काम्य इष्टियाग है। इसका शाब्दिक अर्थ है 'जीतना' और सायण के अनुसार व्याख्या है—"मनसा परस्परमैकमत्येन सम्यक् स्वीकारः संग्रहणम्। तद् यस्याम् इष्टौ अस्ति सा सांग्रहणी।"

दर्शपूर्णमास नामक प्रकृतियाग के अङ्ग कथित होते हैं। विकृतियाग सांग्रहणी के दो प्रकार के अङ्ग होंगे—प्रथम तो वे जो प्रकृति के अङ्ग हैं किन्तु यहाँ अतिदेश से प्राप्त हैं, दूसरे प्रकार के वे हैं जो अपूर्ण हैं। इनमें कुछ प्राकृत अङ्गों के अनुवाद के रूप में प्राप्त होते हैं और प्रयाज आदि के रूप में प्राप्त होते हैं। दूसरे कुछ उपहोमादि अनुयाज के रूप में होते हैं। इन दोनों के मध्य में–प्राकृत धर्मों के निरूपक वाक्यों के मध्य में–सन्दंशरूप में पठित होते हैं। यहीं आमनहोम हैं जो यहाँ उल्लिखित हैं।

प्रकृतिदर्शपूर्णमास
|
विकृतिसांग्रहणी
|
प्रयाज | आमनहोम (आमनसे स्वाहा) (रेतस्विने स्वाहा आदि) | अनुयाज

अनुष्ठानसादेश्येन विनियोगः

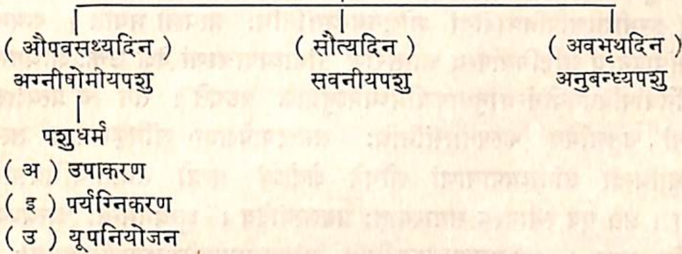
(३१) पशुधर्माणामग्नीषोमीयार्थत्वमनुष्ठानसादेश्यात्। औपवसथ्येऽह्नि अग्नीषोमीयः पशुरनुष्ठीयते तस्मिन्नेव दिने ते धर्माः पठ्यन्ते। अतस्तेषां कैमर्थ्याकाङ्क्षायामनुष्ठेयत्वेनोपस्थितं पशवपूर्वमेव भाव्यत्वेन संबध्यते।

पशुधर्मों की अग्नीषोमीय की अङ्गता अनुष्ठानसादेश्य के कारण है। औपवसथ्य के दिन अग्नीषोमीय पशु का अनुष्ठान होता है और उसी दिन वे (पशु) धर्म भी पढ़े जाते हैं। अतः उन पशुधर्मों को फलाकांक्षा होने पर अनुष्ठेय रूप में उपस्थित पशु का अपूर्व ही साध्य के रूप में सम्बद्ध हो जाता है।

संनिधिपाठसादेश्येन विनियोगं निरूप्यानुष्ठानसादेश्येन विनियोगं निरूपयति— पशुधर्माणामित्यादिना। **पशुधर्मा ह्युपाकरणपर्यग्निकरणादयस्तत्र प्रजापतेर्जायमानाः, इदं पशुमित्याभ्यामृग्भ्यां पशोरुपस्पर्शनमुपाकरणम्, दर्भज्वालया त्रिःप्रदक्षिणीकरणं पर्यग्निकरणम्, यूपे रज्ज्वा बन्धनं यूपनियोजनमित्यादयो बोध्याः, तेषामनुष्ठानसमानदेशत्वादग्नीषोमीयपशुशेषत्वमेव नतु सवनीयादिशेषत्वमित्यर्थः। किंच ज्योतिष्टोमप्रकरणे त्रयः पशवः समाम्नाताः। अग्नीषोमीयः सवनीयोऽनुबन्ध्यश्चेति। तत्राग्नीषोमीयः पशुः सौत्यनामकादह्नः प्राचीने औपवसथ्यनामकेऽह्नि धिष्ण्यनिर्माणादूर्ध्वं समनुष्ठीयते तत्र चैवाह्नि ते धर्माः समाम्नाताः। ततश्च तेषां शेष्याकाङ्क्षायामनुष्ठेयतयोपस्थितमग्नीषोमीयपश्वपूर्वमेव संनिधितो भाव्यत्वेन संबध्यते, नतु सवनीयानुबन्ध्यापूर्वं तत्संनिधिविरहात्। अथ कथमिति चेन्न, सवनीयपशोः सौत्यनामकेऽह्नि समाम्नानादाश्विनं ग्रहं गृहीत्वा त्रिवृता यूपं परिवीयाग्नेयं पशुमुपाकरोतीति। अनुबन्ध्यस्य त्ववभृथान्ते श्रूयमाणत्वाच्च। तस्मादुपपद्यते ह्येतेषां धर्माणां संनिधिनाऽग्नीषोमीयार्थत्वं, सवनीयानुबन्ध्ययोस्तु चोदकात्तेऽतिदिश्यन्ते। न च पाठसादेश्यादेव तेषां तदर्थत्वं किं न स्यादिति वाच्यम्। अग्नीषोमीयपशोः सोमक्रयसमीपे पाठात्तेन तत्त्वासंभवात्। न च क्रयसंनिधावेव तस्यानुष्ठानमपि किं न स्यादिति वाच्यम्। 'स एष द्विदैवत्यः पशुरौपवसथ्येऽहनि आलब्धव्य' इति वाक्यात्तस्य तत्रानुष्ठानानुपपत्तेः। न च स्थानात्प्रकरणस्य बलीयस्त्वात्तेन तद्धर्माणां ज्योतिष्टोमार्थत्वमेव किं न स्यादिति वाच्यम्। तस्य सोमयागत्वात्तद्धर्मग्रहणायोगात्। सोमो ह्यभिषवादीन्धर्मानाकाङ्क्षति नतु यूपनियोजनविशसनादीन्। तस्मात् 'आनर्थक्यप्रतिहतानां विपरीतं बलाबल'-मिति न्यायेन प्रकरणं प्रधानात्प्रच्याव्य स्थानात्पशुयागार्थत्वमेव पशुधर्माणां युक्तं भवति। न चाङ्गिन्यनर्थकाः सन्तस्ते धर्मा अङ्गेषु त्रिष्वपि पशुयागेष्वविशेषेणावतिष्ठन्त्विति वाच्यम्। संनिधिरूपस्य विशेषस्य दर्शितत्वात्। न चाग्नीषोमीयेऽपि तद्धर्माणां प्रकरणादेव विनियोगः किं न स्यादिति वाच्यम्। क्लृप्तोपकारैरेव प्राकृतधर्मैरग्नीषोमीयस्येतिकर्तव्यताकाङ्क्षाया उपशान्तत्वात्। अग्नीषोमीयो हि सांनाय्ययागप्रकृतिको भवति तयोरुभयोरपि पशुप्रभवद्रव्यकत्वाविशेषात् सांनाय्यं दधिपयसी तत्र पशुयागः पयोयागप्रकृतिकः, साक्षात्पशुप्रभवद्रव्यकत्वात्। तच्चोक्तं—'सांनाय्यं वा तत्प्रभवत्वा'दिति। तस्माच्चोदकप्राप्तैस्तद्धर्मैर्निराकाङ्क्षत्वान्न पशुयागे तद्धर्माणां प्रकरणं विनियोजकं किंतु स्थानमेवेत्यभिप्रेत्याह—** औपवसथ्येऽह्नीत्यादिना।

पाठसादेश्य के पश्चात् अनुष्ठानसादेश्य का निरूपण किया जा रहा है। एक दिन अनुष्ठित किये जाने वाले कर्मों से सम्बद्ध जितने भी सहायक कर्म हैं वे भी उसी दिन प्राप्त होते हैं। इस रूप में उनकी अङ्गता पाठ के कारण न होकर अनुष्ठान के कारण होती है। पाठसादेश्य में अङ्गता का निश्चय एक साथ पठित होने से होता है जब कि इसमें एक साथ अनुष्ठित होने से। यही दोनों का अन्तर है।

यहाँ अग्नीषोमीय पशु और उसे पशु के धर्मों में अनुष्ठानसादेश्य निरूपित किया गया है। पूरे प्रसङ्ग को इस प्रकार समझना चाहिये। तीन प्रकार के मुख्ययाग होते हैं (१) पाकयज्ञसंस्थ, (२) हविर्यज्ञसंस्थ, (३) सोमयागसंस्थ। इनमें से प्रत्येक के अन्तर्गत सात-सात यज्ञ हैं, जिनकी संख्या कुल मिलाकर इक्कीस होती है। ज्योतिष्टोम एक सोमयाग है जो प्रायः सभी सोमयागों का प्रकृति है। ज्योतिष्टोम तीन दिनों में सम्पन्न होने वाला याग है—इनको क्रमशः औपवसथ्य, सौत्य और अवभृथ कहते हैं। औपवसथ्यदिन उपस्थित किये जाने वाले पशु को अग्नीषोमीय, सौत्यदिन वाले को सवनीय और अवभृथदिन वाले को अनुबन्ध्य पशु कहते हैं। प्रथम दिन पशु को यज्ञभूमि में लाकर मन्त्रपाठ कर उसे छूने, कुश जलाकर उसके चारों ओर तीन बार घुमाने तथा खूँटे में बाँधने की क्रियायें की जाती हैं। इनको ही 'पशुधर्म' कहा जाता है। पशु के स्पर्श आदि की क्रिया को पारिभाषिक शब्दावली में उपाकरण, पर्यग्निकरण तथा यूपनियोजन कहते हैं।[1] जिस प्रथम औपवसथ्यदिन अग्नीषोमीय पशु का अनुष्ठान होता है, उसी दिन इन धर्मों का भी पाठ होता है। वहाँ प्रश्न होता है कि पशु होते हैं ज्योतिष्टोम नामक याग के स्वर्गप्राप्ति-रूप फल के लिये, किन्तु इन पशुधर्मों की क्या उपयोगिता है? उसका उत्तर है कि जिस अपूर्व की उत्पत्ति पशु से होती है, उसी अपूर्व की सिद्धि में पशुधर्म भी सहायक होते हैं। इस प्रकार पशुधर्म पशु के अङ्ग होते हैं। इनकी अङ्गता प्रथम दिन पशु के साथ अनुष्ठित होने से ही है। ये पशु-धर्म सवनीय और अनुबन्ध्य पशुओं में अतिदेश से प्राप्त होते हैं, साक्षात् नहीं।



(३२) तच्च स्थानं समाख्यातः प्रबलम्। अत एव शुन्धनमन्त्रः सांनाय्य-पात्राङ्गं पाठसादेश्यात्, न तु पौरोडाशिकमिति समाख्यया पुरोडाशपात्राङ्गम्।

वह स्थान प्रमाण समाख्या से प्रबल है। इसीलिए पाठसादेश्य के कारण शुन्धनमन्त्र सांनाय्यपात्र का अङ्ग है, न कि 'पौरोडाशिक' इस समाख्या से पुरोडाशपात्रों का अङ्ग।

एवं स्थानं निरूप्य तस्य समाख्यातः प्राबल्यमाह—तच्च स्थानमित्यादिना। तच्चेति। **उक्तलक्षणलक्षितं चेत्यर्थः। तन्त्रे तृतीये चेदं स्थितम्। 'शुन्धध्वं दैव्याय कर्मणे' इत्ययं मन्त्रः। पौरोडाशिकमिति याज्ञिकैः समाख्याते काण्डे पठितस्य च समाख्यया पुरोडाश-काण्डोक्तानामुलूखलजुह्वादीनामपि शोधनेऽङ्गत्वमिति प्राप्ते राद्धान्तः, न समाख्यया मन्त्रस्य**

---

१. अग्नीषोमीयः सवनीयः अनुबन्ध्य इत्येते त्रयः पशवो ज्योतिष्टोमप्रकरणे समाम्नाताः। पशुधर्माश्च उपाकरणपर्यग्निकरणादयः तत्र आम्नाताः। 'प्रजापतेर्जायमानाः' 'इमं पशुं' इत्याभ्या-मृग्भ्याँ पशोरुपस्पर्शनं **उपाकरणम्**। दर्भज्वालया त्रिः प्रदक्षिणीकरणं **पर्यग्निकरणम्**। यूपे रज्ज्वा बन्धनं यूपनियोजनमित्यादयो बोध्याः। जैमिनिन्यायमालाविस्तरः पृ० १८३-८४.

पुरोडाशपात्राङ्गत्वम्, पदार्थयोर्भिन्नदेशस्थत्वेन संबन्धस्याप्रत्यक्षत्वात्, स्थानविनियोगे तु पदार्थयोर्देशसामान्यलक्षणः संबन्धः प्रत्यक्ष एव। न च सा पदार्थयोः संबन्धवाचिका भवति, यौगिकशब्दानां द्रव्यवाचकत्वेन पदार्थसंबन्धावाचकत्वात्, तथात्वे वा तस्याः सा संबन्धमात्रवाचिका तद्विशेषवाचिका वा स्यात्। नाद्यः, तन्मात्रोक्तौ प्रयोजनाभावात्। सर्वेषां यौगिकवचसां पर्यायतापत्तेश्च। द्वितीये तु संबन्धविशेषस्य संबन्धिविशेषनिरूप्यत्वादवश्यं संबन्धिनौ वक्तव्यौ। तथा च संबन्धिप्रतिपत्त्यैव वाक्यार्थप्रतिपत्तिन्यायेन संबन्धप्रतिपत्तिसंभवे तत्रापि शक्तिकल्पने गौरवान्न समाख्यायाः संबन्धवाचित्वम्। तथा चोक्तम् 'सर्वत्र यौगिकैः शब्दैर्द्रव्यमेवाभिधीयते। न च संबन्धवाचित्वं संभवत्यतिगौरवात्'। तथान्यच्च 'पाकं तु पचिरेवाह कर्तारं प्रत्ययोऽप्यकः। पाकयुक्तः पुनः कर्ता वाच्यो नैकस्य कस्यचि'दिति। किंच पौरोडाशिकमिति समाख्यायां प्रकृतिः पुरोडाशमात्रमभिधत्ते, तद्धितप्रत्ययस्तु पुरोडाशस्येदमिति व्युत्पत्त्या काण्डम्। न चैतावता कृत्स्नपुरोडाशपात्राणां मन्त्रसंनिधिः प्रत्यक्षो भवति किंत्वर्थापत्त्या स कल्प्यते। कथम्? शृणु, यद्युक्तः संनिधिर्न स्यात्तदा शुन्धनप्रतिपादकमन्त्रस्य पौरोडाशिकसमाख्या न स्यात्। न ह्याग्न्यसंनिहितानामिषेत्यादिमन्त्राणामाग्नेयकाण्डसमाख्या भवति। भवति च सा संनिहितानां 'युञ्जानः प्रथमं मनः' इत्यादिमन्त्राणाम्। ततश्च काण्डसमाख्यया संनिधिं परिकल्प्य कल्पितकाण्डसंनिध्यन्यथानुपपत्त्या परस्पराकाङ्क्षारूपं कृत्स्नपात्रप्रकरणं कल्पयित्वा तद्द्वारा वाक्यलिङ्गश्रुतीश्च कल्पयित्वा तया श्रुत्या विनियोग इति स्थानापेक्षया विनियोगे समाख्याया विप्रकर्षः। सांनाय्यपात्राणां तु कुम्भीशाखापवित्रादीनां शोधनमन्त्रसंनिधिः प्रत्यक्षो भवति। कथम्? शृणु, इध्माबर्हिःसंपादनस्य मुष्टिनिर्वापस्य चान्तरालं सांनाय्यपात्राणां देश उक्तः शोधनमन्त्रश्चायमिध्माबर्हिर्निर्वापविषययोर्मन्त्रानुवाकयोर्मध्यमेऽनुवाके पठ्यते। तेन च प्रत्यक्षसंनिधिना प्रकरणादीनां चतुर्णामेव कल्पनात्संनिधिः समाख्यापेक्षया संनिकृष्यते। तस्मात्क्रमेण समाख्यां बाधित्वा सांनाय्यपात्राणां शोधने शेषोऽयं मन्त्रो भवतीत्यभिप्रेत्याह—अत एवेत्यादिना। अत एव स्थानस्य समाख्यातः प्रबलत्वादेव। शुन्धनमन्त्रः 'शुन्धध्वं दैव्याय कर्मण' इति मन्त्रः। सांनाय्यपात्राङ्गमिति सांनाय्ययागयोरैन्द्रदध्यैन्द्रपयसोः पात्राणां कुम्भीशाखापवित्रादीनामङ्गमित्यर्थः। पाठसादेश्यादिति। संनिधिपाठादित्यर्थः। पुरोडाशपात्राङ्गमिति। पुरोडाशपात्राणामुलूखलादीनामङ्गमित्यर्थः।

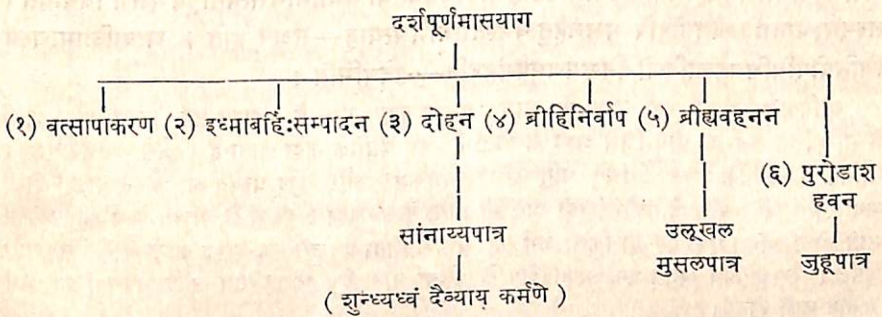
यौगिक शब्द को समाख्या कहते हैं। इसमें अर्थ प्रकृतिप्रत्यय विभाग करके लिया जाता है। 'शुन्धध्वं दैव्याय कर्मणे' इत्यादि मन्त्र शुन्धनमन्त्र कहा जाता हैं। दही और दूध का नाम सांनाय्य है। उससे सम्बद्ध पात्रों को सांनाय्यपात्र कहते हैं। पुरोडाश चावल को पीसकर दूध में गर्म करके बनाया गया पिण्ड है। पुरोडाश में ठक् प्रत्यय लगाकर 'पुरोडाशस्येदम्' अर्थ में 'पौरोडाशिक' शब्द बनाया जाता है। इस प्रकार का अर्थ लेने पर 'पौरोडाशिक-काण्ड' में पठित क्रियाएँ पुरोडाश या उससे सम्बद्ध पात्रों तक ही सीमित हो जाती हैं, अन्यत्र उनका योग नहीं हो पाता। किन्तु कुछ स्थल हैं जहाँ इस नियम का भङ्ग होता है। इसका कारण इसके विपक्षी का प्रबल पड़ना हैं। उदाहरणार्थ यह प्रसङ्ग उपस्थित है।

दर्शपौर्णमासकाण्ड के अन्तर्गत एक पौरोडाशिक काण्ड भी है जहाँ पुरोडाश के उपयोगी विधि पठित हैं। 'पुरोडाशस्येदम्' या 'पुरोडाशमर्हति इति पौरोडाशिकम्' इस व्युत्पत्ति के अनुसार उस काण्ड में उक्त पात्रों, कर्मों और मन्त्रों की पुरोडाशोपयोगिता प्रतीत होती है। इस प्रकार

'शुन्धध्वं' आदि मन्त्र को भी उसी काण्ड में पठित होने से तत्काण्डपठित पुरोडाश के पात्र उलूखल, दृषदुपल (सिलबट्टा), जुहू आदि के शोधन के लिये समझा जाना चाहिये। उसी काण्ड में आदि में इध्माबर्हिःसम्पादन (समिधा, कुश आदि की योजना), उसके बाद सान्नाय्यपात्र और उसके बाद मुष्टिनिर्वाप—इन तीनों पदार्थों का क्रमशः अभिधान है। वहीं मन्त्रों में भी इध्माबर्हिःसम्पादन से सम्बद्ध अनुवाक, फिर 'शुन्धध्वं०' आदि मन्त्र का पाठ, और उसके भी बाद मुष्टिनिर्वापविषयक अनुवाक क्रमशः अभिहित हैं। अतः यथासंख्यक्रमरूप पाठसादेश्य से सान्नाय्यपात्रों का शुन्धन सिद्ध होता है।[1] इसके अतिरिक्त सांनाय्यपात्रों के साथ ही शुन्धनमन्त्र का पाठ होने से सन्निधिपाठसादेश्य भी है। यदि समाख्या से अर्थ ग्रहण किया जाये तो शुन्धन मन्त्र का प्रयोग पुरोडाश से सम्बद्ध उलूखल, मुसल, कृष्णाजिन, दृषदुपल आदि के अङ्ग के रूप में होगा और स्थान प्रमाण से ग्रहण करने पर सांनाय्य से सम्बद्ध कुम्भी, शाखापवित्र, अपिधानी, दोहनपात्र आदि के अङ्गरूप में।

सिद्धान्त यह है कि स्थानप्रमाण से ही इस प्रसङ्ग में शुन्धनमन्त्र सांनाय्यपात्रों का अङ्ग है न कि पौरोडाशिक पात्रों का। यह 'स्थान' के 'समाख्या' से प्रबल होने के कारण ही है। प्रबलता का आधार क्रियानिष्पत्ति में निकटता है। अर्थात् स्थानप्रमाण से शुन्धनमन्त्र का विनियोग करने पर 'स्थान' एवं विनियोग में बीच के प्रकरण, वाक्य, लिङ्ग और श्रुति केवल चार व्यापारो का ही व्यवधान होता है जब कि समाख्या से विनियोग मानने पर स्थान, प्रकरण, वाक्य, लिङ्ग और श्रुति—इन पाँच व्यापारों का व्यवधान हो जाता है। अतः प्रथम का आश्रय लेने पर विनियोग में निकटता है और समाख्या के आश्रयण पर विप्रकृष्टता।

दर्शपूर्णमास में सम्पाद्य कर्मों का विस्तृत रेखाचित्र इस प्रकार है।



समाख्यानिरूपणम्

(३३) समाख्या यौगिकः शब्दः। सा च द्विविधा—वैदिकी लौकिकी च। तत्र होतुश्चमसभक्षणाङ्गत्वम्, होतृचमस इति वैदिक्या समाख्यया। अध्वर्योस्तत्तत्पदार्थाङ्गत्वम्, लौकिक्या आध्वर्यवमिति समाख्ययेति संक्षेपः। तदेवं निरूपितानि संक्षेपतः श्रुत्यादीनि षट् प्रमाणानि।

यौगिक शब्द समाख्या है। वह समाख्या दो प्रकार की है—वैदिकी और लौकिकी। इन (दोनों) में होता की चमसभक्षण की अंगता 'होतृचमस' इस वैदिकसमाख्या से सिद्ध होती है। अध्वर्यु की तत्तत्पदार्थों की अङ्गता 'आध्वर्यवम्' इस लौकिक समाख्या से होती है। (यही समाख्या का) संक्षेप है। इस प्रकार से श्रुति आदि छः प्रमाण संक्षेप में निरूपित हुए।

१. प्रतिपादिका पृ० ६९.

एवं स्थानं निरूप्य समाख्यां लक्षयति—समाख्या यौगिकः शब्द इति । **अत्र यौगिकशब्दत्वं लक्षणम्, समाख्येति लक्ष्यम् । शब्दश्चतुर्धा यौगिको रूढो योगरूढो यौगिकरूढश्चेति । तत्राध्वर्यवं पाचक इत्यादिर्यौगिकः स एव समाख्येति चोच्यते । यत्रावयवार्थ एव ज्ञायते स यौगिक इति तन्निर्वचनम् । योऽवयवशक्तिनिरपेक्षया समुदायशक्त्यैवार्थं बोधयति स रूढः, यथा गवादिशब्दः । यस्त्ववयवशक्तिविषये समुदायशक्त्यापि प्रवर्तते स योगरूढः । यथा पङ्कजादिशब्दस्यैवावयवशक्त्या पङ्कजनिकर्तृत्वेन समुदायशक्त्या च पद्मत्वेन रूपेण पद्मबोधकत्वात् । यस्त्ववयवशक्तिसमुदायशक्तिभ्यां रूढार्थं यौगिकार्थं च स्वातन्त्र्येण बोधयति स यौगिकरूढः यथोद्भिदादिशब्दः । स चोर्ध्वभेदनकर्तृतरुगुल्मादिकं बोधयति यागविशेषमपि चेति । सा यौगिकशब्दात्मिका समाख्या । तत्र, तयोः समाख्ययोर्मध्य इत्यर्थः ।** होतुरिति । **भक्षणस्य क्रियात्मकत्वेन प्राधान्यात्तत्कर्तुर्होतुर्भवति तदङ्गत्वमित्यर्थः ।** तत्तत्पदार्थाङ्गत्वमिति । **'पुरोऽध्वर्युर्विभजती'त्यादिना यजुर्वेदेन विहितानां पदार्थानामङ्गत्वमित्यर्थः ।** लौकिक्येति । **याज्ञिकैः परिकल्पितयेत्यर्थः । तृतीये स्थितं 'प्रैतु होतुश्चमस' इत्यत्र समाख्या भक्षहेतुः 'हरिरसि हारियोजन' इत्यनेन मन्त्रेण गृह्यमाणो ग्रहो हारियोजनः । तत्र वाक्यं 'वषट्कर्तुः प्रथमभक्ष' इत्यत्र वषट्कार इत्येवमुक्तत्वात् त्रय एव भक्षहेतव इति प्राप्ते राद्धान्तः—हविर्धाने ग्रावभिरभिषुत्याहवनीये हुत्वा प्रत्यञ्चः परेत्य सदसि भक्षान्भक्षयन्तीति श्रूयते । उत्तरवेद्याः प्रतीचीने सदसः प्राचीने मण्डपेऽभिषवः, उत्तरवेद्यां होमः, सदसि भक्षणं, तत्राभिषवहोमयोर्वचनान्तरप्राप्तयोरविधेयतया तयोर्निमित्तत्वेनापूर्वभक्षणं विधीयते । तस्मात्स्थानादिवदेतयोरपि भक्षणहेतुत्वमस्तीत्यभिप्रेत्याह—**संक्षेप इति । **श्रुत्यादिप्रमाणस्य विनियोगविधिसहकारिणो निरूपणमुपसंहरति—**तदेवमिति ।

यौगिक शब्द को यहाँ समाख्या नामक प्रमाण कहा गया है। शब्द एवं प्रत्यय इन दोनों के सम्मिलित अर्थ का बोध जिस शब्द से होता है वह यौगिक कहा जाता है। जैसे 'पाचक' शब्द यौगिक है क्योंकि इससे 'पचि' धातु का 'पाचनकर्म' और ण्वुल् प्रत्यय का 'करने वाला' दोनों अर्थ एक साथ अभीष्ट है और वही ज्ञात भी होता है। जहाँ अवयवों के वाच्य अर्थ की अपेक्षा नहीं होती अपितु पूरा पद ही किसी अर्थ का बोधक होता है उसे रूढ़ शब्द कहते हैं, जैसे 'गौ' आदि। इसका अर्थ सीधे एक पशुविशेष ले लिया जाता है, 'गम्' धातु आदि अवयवों का अर्थ अभीष्ट नहीं होता।

जिस शब्द का वैदिक साहित्य में ही प्रयोग होता है तथा उसका अवयवार्थ अभीष्ट होता है, उसे वैदिकी समाख्या कहते हैं। जैसे 'होतुश्चमस'। यद्यपि भास्कर ने 'होतृचमस' शब्द दिया है, किन्तु वैदिक मन्त्र "प्रैतु होतुश्चमस" आदि में पद समस्त न होकर व्यस्त है। 'होता' ऋग्वेद के पाठक को कहते हैं। 'चमस' का अर्थ है 'चमचा', किन्तु लक्षणा से इसका अर्थ होता है 'चमस में रखे हुए सोमरस का भक्षण'। इस प्रकार 'होतृचमस' में 'होता' 'चमसभक्षण' रूप क्रिया का अङ्ग समाख्या से सिद्ध होता है। मीमांसाशास्त्र में क्रिया की प्रधानता होने से भक्षणक्रिया अङ्गी है और द्रव्यरूप 'होता' उसका अङ्ग। वेदों में ही प्रयुक्त होने वाले उक्त प्रकार के शब्दों में वैदिकी-समाख्या होती है, अन्यों में नहीं।

'आध्वर्यवम्' में लौकिकी समाख्या है क्योंकि इसका प्रयोग वेदों में ही नहीं है। इसका निर्माण 'अध्वर्यु' शब्द में तद्धितप्रत्यय लगाकर वैदिकों ने किया है। अध्वर्यु यजुर्वेद के पाठी को कहते हैं, अतः उससे सम्बद्ध या उसके समस्त मन्त्रों के पाठ की क्रिया अथवा उससे बोधित पदार्थों का वह अध्वर्यु अङ्ग होता है। इसी प्रकार होता ऋग्वेद के पदार्थों का, उद्गाता सामवेद का और

ब्रह्मा अथर्ववेद का । मूल में प्रयुक्त 'तत्तत्पदार्थाङ्गत्वं' का अर्थ है 'यजुर्वेदविहित कर्मों का अनुष्ठाता होने से अङ्ग सिद्ध होना' ।

समाख्या विनियोगविधि के सहकारी षट्प्रमाणों में अन्तिम है, अतः उसका निरूपण समाप्त होने से सबका निरूपण पूर्ण समझना चाहिये ।

विनियोगविधिबोधिताङ्गानि

(३४) एतत्सहकृतेन विनियोगविधिना समिदादिभिरुपकृत्य 'दर्शपूर्णमासाभ्यां यजेते'त्येवंरूपेण यानि विनियोज्यन्ते तान्यङ्गानि द्विविधानि सिद्धरूपाणि क्रियारूपाणि चेति । तत्र सिद्धानि जातिद्रव्यसंख्यादीनि । यानि च दृष्टार्थान्येव । क्रियारूपाणि च द्विविधानि—गुणकर्माणि प्रधानकर्माणि च । एतान्येव संनिपत्योपकारकाणि आरादुपकारकाणीति चोच्यन्ते ।

इनसे सहायताप्राप्त विनियोगविधि के द्वारा समिद् आदि से उपकृत होकर 'दर्शपूर्णमासाभ्यां यजेत' इस प्रकार (के मन्त्रों) से जिनका विनियोग होता है वे अङ्ग दो प्रकार के होते हैं—सिद्धरूप तथा क्रियारूप । इनमें सिद्धरूप हैं जाति, द्रव्य, संख्या आदि और ये दृष्टप्रयोजन वाले हैं । क्रियारूप दो प्रकार के हैं—गुणकर्म तथा प्रधानकर्म, यही संनिपत्योपकारक तथा आरादुपकारक भी कहे जाते हैं ।

एतैः षड्भिः प्रमाणैः सहकृतेन विनियोगविधिना यान्यङ्गानि विनियोज्यन्ते तानि विनियोगविधेः स्वरूपमनुवदन्विभजते—एतदित्यादिना । **तत्र सिद्धरूपाणि निर्दिशति**—तत्रेति । **सिद्धरूपक्रियारूपाणां मध्य इत्यर्थः । जातिः पशुत्वादिः, द्रव्यं व्रीह्यादि, संख्या एकत्वादिः, तेषां यागस्वरूपोपकारकत्वेन दृष्टार्थत्वमेवेत्याह**—तानि चेति । **क्रियारूपाणां विभागद्वारा लक्षणमाह**—क्रियारूपाणीत्यादिना । **गुणस्य कर्माङ्गस्य द्रव्यादेः संस्कारकराणि क्रियाविशेषरूपाणि गुणकर्माणि यथाऽवघातादीनि । प्रधानस्य फलापूर्वस्योपकारकाणि तानि प्रधानकर्माणि यथा प्रयाजादीनि । तेषामेव लक्षणमाह**—एतान्येवेत्यादिना ।

दर्शपूर्णमास आदि प्रधानयाग हैं, समिद् आदि सहायक याग हैं, जिनकी प्राप्ति 'समिधो यजति' आदि मन्त्रों से होती है । इनकी प्रधानता तथा अङ्गता का ज्ञान विनियोगविधि से होता है । श्रुति आदि षट्प्रमाण सहायक कर्मों के निर्धारण में उपयोगी होते हैं । यही भाव 'एतत्सहकृतेन' आदि वाक्यों में स्पष्ट किया गया है ।

ये अङ्ग दो प्रकार के होते हैं । एक वे हैं जिनको उत्पन्न करने में कर्त्ता का प्रयास सहायक नहीं होता, वे स्वतः उत्पन्न होते हैं । इनको सिद्धरूप कहते हैं अर्थात् इनका स्वरूप पहले से निश्चित होता है, कर्त्ता उनको उत्पन्न नहीं करता । इस प्रकार की अङ्गसामग्री है जाति, द्रव्य, संख्या आदि । पशुत्व, ब्राह्मणत्व आदि जाति है, व्रीहि आदि द्रव्य है, एकत्व आदि संख्या है । कर्त्ता न तो ब्राह्मणत्व को उत्पन्न करता है न व्रीहि को और न एकत्व आदि संख्या को । ये पूर्वतः प्राप्त होते हैं जिनका उपयोग वह करता है । ये वस्तुयें याग में सहायक होती हैं । 'वसन्ते **ब्राह्मणोऽग्नि**मादधीत' सदृश वाक्यों में ब्राह्मणत्वजाति, '**व्रीहिभिर्य**जेत' में व्रीहि द्रव्य, 'आग्नेयोऽष्टाकपालः' में अष्टत्वसंख्या आदि स्पष्टतः याग के उपकारक अङ्ग परिलक्षित होते हैं । मूल में प्रयुक्त 'जातिद्रव्यसंख्यादीनि' में 'आदीनि' से देवता और गुण का ग्रहण होता है ।[1]

१. आदिना देवतापरिग्रहः । श्वेतमालभेतेत्यादिगुणपरिग्रहश्च । प्रतिपादिका पृ० ७४

दूसरे प्रकार के अङ्गकर्म क्रियारूप होते हैं। इस प्रकार के अङ्ग कर्त्ता के प्रयत्न से साध्य होते हैं।[1] इनके दो भेद आगे विस्तृत रूप से वर्णित होंगे।

सिद्धरूप अङ्ग दृष्टार्थ होते हैं अर्थात् इनकी सहायता से याग का स्वरूप निष्पन्न होता है अतः इनके द्वारा किया गया परिष्कार या उपकार प्रत्यक्ष होता है। इनके अभाव में याग का स्वरूप निष्पन्न नहीं होता, अतः उनका प्रयोजन दृष्ट ही होता है, उनको अनुमान से जानने की जरूरत नहीं होती। मूल में 'दृष्टार्थान्येव' में 'एव' का यही अर्थ है। क्रियारूप अङ्ग अदृष्टार्थ आदि भी हो सकते हैं, किन्तु ये तो दृष्टार्थ ही होते हैं।

संनिपत्योपकारकाणि

(३५) कर्माङ्गद्रव्याद्युद्देशेन विधीयमानं कर्म संनिपत्योपकारकम्। यथाऽवघातप्रोक्षणादि। तच्च दृष्टार्थम् अदृष्टार्थम् दृष्टादृष्टार्थं चेति। तत्र दृष्टार्थमवघातादि, अदृष्टार्थं प्रोक्षणादि, दृष्टादृष्टार्थं पशुपुरोडाशादि। तद्धि द्रव्यत्यागांशेनैव अदृष्टं देवतोद्देशेन च देवतास्मरणं दृष्टं करोति।

होमकर्म के अङ्गभूत द्रव्य आदि को लक्ष्य करके सम्पन्न किये जाने वाले कर्म संनिपत्योपकारक हैं। जैसे अवघात, प्रोक्षण आदि। यह कर्म दृष्टार्थ, अदृष्टार्थ और दृष्टादृष्टार्थ है। इनमें अवघात आदि दृष्टार्थ है, प्रोक्षण आदि अदृष्टार्थ और पशु-पुरोडाश आदि दृष्टादृष्टार्थ है। यह (पशुपुरोडाश आदि) द्रव्यत्याग अंश में ही अदृष्ट (अर्थ करता) है, देवता को लक्ष्य करने से देवतास्मरण रूप दृष्ट प्रयोजन को सम्पन्न करता है।

संनिपत्योपकारकाणां लक्षणमाह—कर्माङ्गेत्यादिना। **यानि चाङ्गानि साक्षात्परम्परया वा विहितफलसाधनयागशरीरं निष्पाद्य तद्द्वारा तदुत्पत्त्यपूर्वोपयोगीनि तानि संनिपत्योपकारकाणीति फलितम्। द्रव्यादीत्यादिना देवतादिपरिग्रहः। क्रियारूपत्वं सर्वेषां कर्मणां गुणकर्मत्वमवघातादीनां प्रधानकर्मत्वं प्रयाजादीनां संनिपत्योपकारकत्वं अवघातादीनामारादुपकारकत्वं प्रयाजादीनां च लक्षणमिति समुदायतात्पर्यम्। तत्रोदाहरणमाह—**यथावघातेति। **संनिपत्योपकारकाणां पुनरपि त्रिविधं विभागं करोति—**तच्चेत्यादिना। **तच्च संनिपत्योपकारकं चेत्यर्थः। दृष्टार्थमुदाहरति—**दृष्टार्थमवघातादीनि। **अवघातादेस्तुषविमोकादिरूपदृष्टद्वारा यागस्वरूपतदुत्पत्त्यपूर्वहेतुत्वात्संभवति तस्य दृष्टार्थत्वमित्यर्थः। अदृष्टार्थमुदाहरति—**अदृष्टार्थमिति। **प्रोक्षणादेर्व्रीहिगतसंस्काररूपातिशयादृष्टद्वारा प्रधानयागोत्पत्त्यपूर्वहेतुत्वात्संभवति केवलादृष्टार्थत्वं प्रोक्षणमन्तरेणापि यागस्वरूपानुपपत्त्यभावात् दृष्टोपकारासंभवात्। दृष्टादृष्टोभयार्थमुदाहरति—**दृष्टादृष्टार्थमिति। **पशुपुरोडाशादीत्यादिना यागादिसंग्रहः।** तद्धि **पशुपुरोडाशादि इत्यर्थः।** अदृष्टमिति। **यागोत्पत्त्यपूर्वद्वारा फलापूर्वमित्यर्थः।**

याग के अङ्गभूत द्रव्य आदि से सम्बद्ध कर्म गुणकर्म कहे गये हैं। प्रधानकर्म प्रधानयाग के अङ्गभूत कर्म हैं। गुणकर्म को ही संनिपत्योपकारक कहते हैं। 'सन्निपत्य' का अर्थ हैं द्रव्य आदि के माध्यम से, न कि साक्षात्, याग के स्वरूप का घटक होना, और 'उपकारक' का अर्थ है यागजन्य अपूर्व की उत्पत्ति में सहायक होना। पूरे पद का अर्थ हुआ—वे कर्म जो यागादि के अङ्गभूत व्रीहिरूप द्रव्य आदि को संस्कृत करके साक्षात् या परम्परया मुख्ययाग के अपूर्व की निष्पत्ति में सहायक

---

१. क्रियारूपाणि कर्तृप्रयत्नसाध्यरूपाणि। वही.

होते हैं, सन्निपत्योपकारक हैं। उदाहरणार्थ, पुरोडाश के निर्माण में व्रीहि सहायक है। व्रीहि द्रव्य है। भूसी अलग करने के लिए इसे कूटना पड़ेगा। कूटना ही 'अवघात' है। उसे पानी छिड़क कर साफ करना 'प्रोक्षण' है। ये 'अवघात' तथा प्रोक्षण की क्रियाएँ सीधे प्रधानअपूर्व को उत्पन्न नहीं करतीं, अपितु कर्म के अङ्गभूत पुरोडाश के उपयोगी व्रीहि आदि को लक्ष्य करके ये सम्पन्न की गई हैं। अतः इनसे याग के शरीर के अङ्गभूत पुरोडाश या व्रीहि के संस्कार में सहायता मिली। अवघात और प्रोक्षण से उत्पन्न अपूर्व पुरोडाश के अपूर्व से सम्बद्ध होगा और पुरोडाश का अपूर्व प्रधान अपूर्व से सम्बद्ध होगा। 'व्रीहीन् अवहन्ति' 'व्रीहीन् प्रोक्षति' आदि श्रुतियाँ अवघातन और प्रोक्षण का विधान करती हैं। 'यथावघातप्रोक्षणादि' में 'आदि' का अर्थ 'पेषण' और 'मन्त्रग्रहण' है।[1]

इनकी दृष्टाद्यर्थता—सन्निपत्योपकारक का त्रिधा विभाजन किया गया है। इनमें कुछ दृष्टार्थ हैं, कुछ अदृष्टार्थ और कुछ दृष्टादृष्टार्थ। जिन क्रियाओं का फल प्रत्यक्ष ही होता है उनको दृष्टार्थ कहते हैं। व्रीहि का अवघात करने पर तुषविमोचन (भूसी का हटना) स्पष्ट दृष्टिगोचर होता है। अवघात भूसी अलग करने के लिए ही हुआ था, वह प्रत्यक्ष है, अतः यह क्रिया दृष्टार्थ हुई। 'अवघातादि' में 'आदि' पद 'पेषण' का बोधक है। पिसाई करने से उसकी पुरोडाश निष्पादन में उपयोगिता प्रत्यक्ष ही है।[2] चावल को धोना-प्रोक्षण-अदृष्टार्थ है। इससे व्रीहि आदि का संस्काररूप अलौकिक प्रयोजन ही सिद्ध होता है। प्रोक्षण से व्रीहि में होने वाली संस्कार की अतिशयता से प्रधानयाग से उत्पन्न अपूर्व ही पुष्ट होता है। यह प्रधान अपूर्व अदृष्ट है—प्रत्यक्ष नहीं होता। व्रीहि का प्रोक्षण करने या न करने से याग के स्वरूप पर कोई अन्तर नहीं आता, अतः उसका प्रयोजन दृष्ट नहीं होता। व्रीहि का प्रोक्षण करने से भी पुरोडाश बन सकता है और न करने से भी बन सकता है। अतः उसकी उपयोगिता प्रत्यक्ष नहीं हो पाती, किन्तु 'व्रीहीन् प्रोक्षति' श्रुतिवाक्य निरर्थक न हो इसलिये यह कल्पना की गयी कि प्रोक्षण का फल भले दृष्टिगत न हो, किन्तु उससे एक अपूर्व अवश्य उत्पन्न होगा। इस अपूर्व से परम्परया प्रधानअपूर्व का परिष्कार होगा, इससे उसको बल मिलेगा। यह प्रधानअपूर्व भविष्य में निष्पन्न होगा, अतः वर्तमान में उसका या उसके परिष्कार का प्रत्यक्ष नहीं हो सकता। इसी से प्रोक्षण को अदृष्टार्थ कहा जाता है।

पशु-पुरोडाश आदि दृष्टादृष्टार्थ हैं। पशुपद तथा पुरोडाशपद इनसे सम्पाद्य होम के वाचक हैं।[3] 'आदि' का अर्थ सोमयाग है। पशु-पुरोडाश होम का उतना ही अंश अदृष्टार्थ है जिसका सम्बन्ध अग्नि में हवि डालने से है क्योंकि अग्नि में हविप्रक्षेप से एक अपूर्व पैदा होगा।[4] अपूर्व प्रत्यक्ष का विषय नहीं होता। अतः पशुहोम और पुरोडाशहोम का अग्नि में हविप्रक्षेपरूप क्रिया अदृष्टार्थक है। हविप्रक्षेप के समय 'यह वस्तु इस देवता यो प्राप्त हो' आदि वचन कहने से उस देवता का स्मरण होता है। यह देवस्मरण की अनुभूति सार्वजनीन है, अतः प्रत्यक्ष है। प्रत्यक्ष होने से दृष्टार्थ है। इस प्रकार यह अंशतः दृष्टार्थ तथा अंशतः अदृष्टार्थ होने से 'दृष्टादृष्टार्थ' उभयरूप है।

मूल के वाक्य 'तद्धि' आदि का अन्वय इस प्रकार करना चाहिये—'तद्धि द्रव्यत्यागांशेनैवादृष्टं (करोति), देवतोद्देशेन च देवतास्मरणं दृष्टं करोति।'

१. आदिना पेषणादिपरिग्रहो मन्त्रपरिग्रहश्च। प्रतिपादिका पृ० ७५

२. आदिपदात् पेषणपरिग्रहः। वही

३. पशुपदं पशुकरणकहोमपरम्। एवं पुरोडाशपदमपि। आदिना सोमकरणकहोमसंग्रहः। होमश्च देवतोद्देशेनाग्निप्रक्षेपावच्छिन्नद्रव्यत्यागरूपः। वही।

४. द्रव्यत्यागांशेन अग्निप्रक्षेपांशेन।......देवतोद्देशेन अमुकदेवताया इदं भवत्वित्यभिसन्धानेन। दृष्टमिति। देवताया इदं भवत्वित्यभिसन्धाने कृते देवतायाः स्मरणस्य सर्वलोकानुभवसिद्धत्वादिति भावः। वही पृ० ७५.

आराद्युपकारकाणि

(३६) द्रव्याद्यनुद्दिश्य केवलं विधीयमानं कर्म आराद्युपकारकम्। यथा प्रयाजादि। आराद्युपकारकं च परमापूर्वोत्पत्तावेवोपयुज्यते। संनिपत्योपकारकं तु द्रव्यदेवतासंस्कारद्वारा यागस्वरूपेऽप्युपयुज्यते। इदमेव चाश्रयि कर्मेत्युच्यते। तदेवं निरूपितः संक्षेपतो विनियोगविधिः।

द्रव्य आदि को लक्ष्य न करके केवल सम्पाद्यमान कर्म आराद्युपकारक है, जैसे प्रयाज आदि। आराद्युपकारक परम अपूर्व–फलापूर्व–की उत्पत्ति में ही प्रयुक्त होता है, जब कि संनिपत्योपकारक तो द्रव्य, देवता और संस्कार के द्वारा याग के स्वरूप में भी प्रयुक्त होता है। यह (संनिपत्योपकारक) ही आश्रयिकर्म भी कहा जाता है। तो इस प्रकार संक्षेप में विनियोग-विधि का निरूपण हुआ।

आराद्युपकारकाणां लक्षणमाह—द्रव्याद्यनुद्दिश्येति। आत्मसमवेतापूर्वजनकान्याराद्युपकारकाणीत्यपि वदन्ति। तत्रोदाहरणमाह—यथेति। प्रयाजादीत्यादिनाज्यभागानुयाजादिपरिग्रहः। अत्र परमापूर्वोत्पत्तावेवेत्येवकारेण द्रव्यदेवतागतसंस्कारजननद्वारा यागस्वरूपोपयोगित्वमाराद्युपकारकाणां निरस्यते। यागस्वरूपेऽपीत्यपिना संनिपत्योपकारकाणां द्रव्यदेवतासंस्काराद्वारा यागोत्पत्त्यपूर्वेऽप्युपकारकत्वं समुच्चीयते। अत्र च व्रीह्यादीनां पिष्टद्वारा पुरोडाशनिर्वर्तकत्वं तद्द्वारा यागशरीरतदुत्पत्त्यपूर्वजनकत्वं च भवति। याज्यानुवाक्यादेर्देवतासंस्कारद्वारा यागोत्पत्त्यपूर्वादावुपयोगित्वं देवतायाश्च साक्षाद्यागशरीरनिर्वर्तकत्वं तद्द्वारा तदुत्पत्त्यपूर्वनिष्पादकत्वं च भवति। यागस्य देवतोद्देशेन द्रव्यत्यागस्वरूपत्वाद् द्रव्यदेवते खलु यागस्वरूपमित्युपगमाच्चेति ध्येयम्। इदमेव चेति। संनिपत्योपकारकमेव च न त्वाराद्युपकारकमित्यर्थः। आश्रयि द्रव्यदेवतादिरूप आश्रयोऽस्यास्तीत्याश्रयि। पारिभाषिकी वाश्रयि कर्मेति संज्ञा। इदमेव सामवायिककर्मेत्यपि वदन्ति। किंच सामान्यतः कर्म द्विविधमर्थकर्म गुणकर्म चेति। तत्रात्मसमवेतापूर्वजनकं कर्मार्थकर्म यथाऽग्निहोत्रदर्शपूर्णमासप्रयाजानुयाजादिकं तस्यात्मगतफलापूर्वजनकत्वात्। द्रव्यादिसंस्कारजनकं द्वितीयम्। तदेव संनिपत्योपकारकमित्युक्तम्। तदपि द्वितीयमुपयोक्ष्यमाणसंस्कारकमुपयुक्तसंस्कारकं चेति। तत्रावघातप्रोक्षणादिकमुपयोक्ष्यमाणसंस्कारकं, यागे व्रीहीणामुपयोक्ष्यमाणत्वात्। प्रतिपत्तिकर्म चात्वालकृष्णविषाणप्रासनेडाभक्षणादिकमुपयुक्तकृष्णविषाणपुरोडाशादिसंस्कारकं द्वितीयम्। उपयुक्तस्याऽऽकीर्णकरस्यावशिष्यमाणद्रव्यादेर्विहितदेशे संस्कारविशेषहेतुः प्रक्षेपः प्रतिपत्तिकर्म। उपयोक्ष्यमाणसंस्कारभिन्नसंस्कारकर्मत्वं प्रतिपत्तिकर्मत्वमित्यपि वदन्ति। ननु भवतु कथंचिदिडाभक्षणस्य प्रधानयागोपयुक्ताकीर्णकरपुरोडाशद्रव्यप्रक्षेपात्मकत्वात्प्रतिपत्तिकर्मत्वं, चात्वाले कृष्णविषाणप्रासनस्याग्निहोत्रादिकर्मवद्विहितबहिर्देशविशेषे प्रक्षेपक्रियात्मकत्वात्कथं प्रतिपत्तिकर्मत्वं, तथा च तद्वदर्थकर्मत्वमेव तस्य। तदित्थं श्रूयते ज्योतिष्टोमे—नीतासु दक्षिणासु चात्वाले कृष्णविषाणां प्रास्यतीति। यजमानेन दक्षिणा दत्ता ऋत्विग्भिर्यदा नीतास्तदा यजमानः स्वहस्ते धृतं कृष्णमृगस्य शृङ्गं चात्वालनामकगर्ते परित्यजेत्। सोऽयं परित्यागोऽर्थकर्म। कुतः ? सप्रयोजनत्वलाभात्। प्रतिपत्तिकर्मत्वेऽपूर्वाभावे निरर्थकः स्यात्। तस्मादपूर्वलाभार्थकर्मत्वमेव न तु प्रतिपत्तिकर्मत्वमिति चेन्न।

'कृष्णविषाणया कण्डूयतो'ति तृतीयाश्रुत्या यजमानशिरःकण्डूतावुपयुक्तस्य कृष्णविषाणस्य प्रतिपत्त्यपेक्षत्वात् । न च प्रतिपत्तिकर्मत्वेऽत्यन्तमपूर्वाभावः । चात्वाल एव प्रासनमित्येवंविधस्य नियमस्य वैधत्वेन प्रासनक्रियाप्रयुक्तापूर्वाभावेऽपि नियमापूर्वसद्भावात् । तस्मात्प्रासनं प्रतिपत्तिकर्मेति । तमेतं सर्वमभिप्रेत्य विनियोगविधिनिरूपणमुपसंहरति—तदेवमिति ।

आरादुपकारक का संनिपत्योपकारक से भेद है । आरादुपकारक से परम अपूर्व–अन्तिम फलापूर्व–की उत्पत्ति होती है । यह उससे साक्षात् सम्बद्ध है । परमापूर्व से सीधे सम्बद्ध होने के कारण यह अदृष्टार्थ है, जब कि संनिपत्योपकारक यागोपयोगी द्रव्य, देवता और संस्कार से सम्बद्ध[1] होने के कारण यागशरीर में सहायक होता है और परमापूर्व से साक्षात् सम्बद्ध न होकर परम्परया होता है । 'यागस्वरूपेऽप्युपयुज्यते' में 'अपि' का यही भाव है कि आरादुपकारक केवल परमापूर्व से सम्बद्ध होता है, किन्तु सन्निपत्योपकारक यागशरीर के निर्माण में सहायक होता है और परम्परया परमापूर्व की निष्पत्ति में भी ।

संनिपत्योपकारक को ही आश्रयिकर्म भी कहते हैं क्योंकि द्रव्य आदि आश्रयों से यह विशिष्ट होता है ।[2]

प्रयोगविधिः

(३७) प्रयोगप्राशुभावबोधको विधिः प्रयोगविधिः । स चाङ्गवाक्यैकवाक्यतापन्नः प्रधानविधिरेव । स हि साङ्गं प्रधानमनुष्ठापयन्विलम्बे प्रमाणाभावादविलम्बापरपर्यायं प्रयोगप्राशुभावं विधत्ते । न च तदविलम्बेऽपि प्रमाणाभाव इति वाच्यम् । विलम्बे हि अङ्गप्रधानविध्येकवाक्यतावगततत्साहित्यानुपपत्तिः । विलम्बेन क्रियमाणयोः पदार्थयोरिदमनेन सह कृतमिति साहित्यव्यवहाराभावात् । स चाविलम्बो नियते क्रमे आश्रीयमाणे भवति । अन्यथा हि किमेतदनन्तरमेतत्कर्तव्यमेतदनन्तरं वेति प्रयोगविक्षेपापत्तेः । अतः प्रयोगविधिरेव स्वविधेयप्रयोगप्राशुभावसिद्ध्यर्थं नियतं क्रममपि पदार्थविशेषणतया विधत्ते । अत एवाङ्गानां क्रमबोधको विधिः प्रयोगविधिरित्यपि लक्षणम् ।

प्रयोग–कर्मसम्पादन–में शीघ्रता के भाव की ज्ञापकविधि प्रयोगविधि है । वह अङ्गवाक्यों के साथ एकवाक्यता को प्राप्त प्रधानविधि ही है । वह अङ्गसहित प्रधान का सम्पादन कराते हुए विलम्ब में प्रमाण का अभाव होने से 'अविलम्ब' इस दूसरे नाम वाले 'प्रयोगप्राशुभाव' का विधान करता है । यह नहीं (कह सकते) कि प्रयोग के अविलम्ब में भी प्रमाण का अभाव है, क्योंकि प्रयोग में विलम्ब मानने पर (प्रयाज आदि) अङ्ग और (दर्श आदि) प्रधान से सम्बद्ध विधियों में एकवाक्यता का बोध होने से उनका एक साथ होना (साहित्य) संगत नहीं हो सकेगा । विलम्ब से किये जाने वाले दो पदार्थों में—'यह इसके साथ किया गया है' इस प्रकार का एक साथ होने का कथन नहीं किया जा सकता । और वह 'अविलम्ब' एक निश्चित क्रम का आश्रय लेने पर ही हो सकता है । नहीं तो 'इसको इसके बाद करना चाहिये अथवा उसके बाद में, इस प्रकार का विक्षेप अनुष्ठान में होने लगेगा । इसलिये प्रयोगविधि ही अपने अनुष्ठेयकर्मों में शीघ्रता के भाव की सिद्धि के लिये कर्म के विशेषण के रूप में

१. द्रव्यद्वारा अवघातादेः । देवतास्मरणद्वारा उद्देशस्य । संस्कारद्वारा प्रोक्षणादेः । यागस्वरूपे अपीति । यागस्वरूपसम्पादनेपीत्यर्थः । प्रतिपादिका पृ० ७६.

२. द्रव्यादिरूपाश्रयविशिष्टमाश्रयि तादृशं कर्म्मेत्यर्थः । वही पृ० ७६.

निश्चित क्रम का भी विधान करती है। इसीलिये 'अङ्गों के क्रम का बोध कराने वाली विधि प्रयोगविधि है, यह भी (इसका) लक्षण है।

इदानीं प्रयोगविधिं निरूपयति—प्रयोगेत्यादिना। साङ्गप्रधानकर्मप्रयोगप्राशुभावबोधक इत्यर्थः। स च प्रयोगविधिः प्रयाजाद्यङ्गजातवाक्यैकवाक्यतामापन्नो 'दर्शपूर्णमासाभ्यां स्वर्गकामो यजेते'त्यादिप्रधानविधिरेवोक्तवक्ष्यमाणविधित्रयमेलनरूपश्चतुर्थोऽयं विधिर्न तु विध्यन्तरमित्याह—स चेति। तत्र हेतुं प्रदर्शयन् प्रयोगप्राशुभावशब्दं व्याचष्टे—स हीत्यादिना। प्रयोगविधिः साङ्गप्रधानकर्मप्रयोगाविलम्बं विधत्ते तद्विलम्बे प्रमाणाभावात्संप्रतिपन्नवत्। तत्र प्रयोगविधिप्रयोग विलम्वं विधत्ते तदविलम्बे प्रमाणाभावादिति संप्रतिसाधनतामाशङ्क्य समाधत्ते—न चेत्यादिना। अङ्गप्रधानविध्योरेकवाक्यतयावगतस्याङ्गप्रधानयोः साहित्यस्यानुपपत्तेरेव तदविलम्बे प्रमाणत्वान्न तत्र प्रमाणाभाववचनं शोभतेतरामिति। तत्रार्थापत्तिं प्रमाणं दर्शयति—विलम्ब इत्यादिना। हिशब्देन तत्साहित्यनिश्चयं द्योतयति। प्रयाजाद्यङ्गजातमङ्गशब्दार्थः। प्रधानशब्देन च दर्शादिः प्रधानयागो ह्युच्यते। तावेव तच्छब्दार्थः। न च तत्साहित्यमेव नास्तीति वाच्यम्। अङ्गप्रधानविध्येकवाक्यत्वानुपपत्तेः, तस्य प्रयोजनान्तरानुपलब्धेश्च। नन्वविलम्बमन्तरेण नाङ्गप्रधानयोः साहित्यानुपपत्तिः, तेन विनापि तथा व्यवहारादित्याशङ्क्य मैवमित्याह—विलम्बेनेत्यादिना। पूर्वेऽह्नि परेऽह्नि च क्रियमाणयोर्भोजनयोरिदमनेन भोजनेन सह कृतमिति व्यवहारादर्शनान्न विलम्बेन क्रियमाणयोरङ्गप्रधानयोः साहित्यव्यवहारोऽभ्रान्तस्योपपद्यते ततश्च सा तदवस्थेत्यर्थः। सोऽप्यङ्गप्रधानयोरविलम्बस्तन्नियतक्रमसमाश्रयणे संभवति यथाग्नेयहविरभिघारणं, ततश्चैन्द्रदधिहविरभिधारणं तत आग्नेययागानुष्ठानं, तदनन्तरमैन्द्रदधियागानुष्ठानमिति नियतः क्रमः। ततश्चैकान्तरितव्यवधानेनाबिलम्ब इति सर्वमुपरिष्टात्स्पष्टीभविष्यतीत्यभिप्रेत्याह—स चेत्यादिना। क्रमानङ्गीकारे दोषमाह—अन्यथेत्यादिना। प्रयोगविक्षेपापत्तेरिति। किमाग्नेयहविषोऽभिघारणमैन्द्रदधिहविरभिघारणानन्तरं कर्तव्यं किंवैन्द्रदधिहविषोऽभिघारणमाग्नेयहविरभिघारणानन्तरमित्येवं सर्वत्र संदेहेन सर्वानुष्ठानोच्छेदापत्तेरित्यर्थः। 'संशयात्मा विनश्यती'त्यादिना भगवद्वचनेन संशयात्मन ऐहिकभोगसाधनेऽपि प्रवृत्त्यभावोपलम्भान्न संदिहानस्यामुत्र भोगसाधने प्रवृत्तिरुपपद्यत इति भावः। ननु नाङ्गप्रधानयोर्नियतः क्रम उपपद्यते, तद्विधायकाभावात्। न च प्रयोगविधिरेव तद्विधायकः, वाक्यभेदापातात्। कथं न प्रयोगविधेरेव प्रयोगप्राशुभावविधायकत्वे गुणप्रधानयोर्नियतक्रमविधायकत्वे च वाक्यभेदापात इति चेन्मैवमित्याह—अत इत्यादिना। यतोऽङ्गप्रधानयोर्नियतक्रममन्तरेणाविलम्बापरनामधेयप्रयोगप्राशुभावो नोपपद्यतेऽतः स्वविधेयप्रयोगप्राशुभावसिद्ध्यर्थं नियतं क्रममपि प्रयोगविधिरेव विधत्ते इत्यर्थः। वाक्यभेदनिरासाय पदार्थविशेषणतयेत्युक्तं व्यापारभेदेन हि विधाने वाक्यभेदो भवति, न तु विशिष्टविधान इत्यवोचामेति भावः। पदार्थश्चात्र क्रियारूपो ग्राह्यः, अन्यथा क्रमविधानानुपपत्तेः। तदुक्तं माधवेन—'यद्यपि क्रमस्य क्रियात्वाभावात्स्वरूपेण न विधियोग्यता तथापि दध्ना जुहोतीत्यादावक्रियारूपं दधिद्रव्यं यथा क्रियाविशेषणं सद्विधीयते दधिसाधनकं होमं कुर्यादिति, एवमनेन क्रमेण कर्तव्यमिति क्रियाविशेषणतया क्रमो विधीयता'

मिति । यतः प्रयोगविधिरेव पदार्थविशेषणतया तन्नियतक्रममपि विधत्तेऽत एव कारणात्तस्य लक्षणान्तरमपीत्याह—अत एवेति ।

विधि का प्रारम्भिक परिचय देते समय इसी ग्रन्थ में पहले जो वर्गीकरण किया गया था उसमें पहले उत्पत्तिविधि का उल्लेख था, फिर विनियोगविधि और उसके बाद क्रमशः अधिकारविधि तथा प्रयोगविधि का। किन्तु यहाँ प्रथम दो का निरूपण करने के बाद अधिकारविधि को न लेकर प्रयोगविधि पर विचार किया जारहा है। इस प्रकार से एक दृष्टि से यह क्रमभङ्ग नाम का दोष हुआ। इसे या तो प्रारम्भ में ही तृतीय स्थान पर रखना था अथवा अधिकारविधि को बाद में निरूपित होना था। किन्तु प्रतीत होता है कि विनियोगविधि के निरूपण से अङ्ग और प्रधान वाक्यों का ज्ञान हो जाने से तत्काल प्रयोग में सुकरता होती है, यही प्रदर्शित करना ग्रन्थकार का उद्देश्य है।

प्रयोगविधि का लक्षण देखने से स्पष्ट होता है कि इससे न तो अङ्गता का ज्ञान होता है न स्वयं में प्रधानता का ही। अङ्गता का ज्ञापक होने से इसे विनियोगविधि में अन्तर्भूत हो जाना चाहिये और प्रधानता का ज्ञापक होने से उत्पत्तिविधि में। उसी को ग्रन्थकार ने स्पष्ट किया है कि इसको सामान्यतः प्रधानविधि ही समझना चाहिये, किन्तु दोनो में अन्तर यह है कि जहाँ प्रधानविधि अकेले कर्मस्वरूपमात्र का बोध कराती है और गुणविधि अङ्गता का, वहीं इसके द्वारा अङ्गवाक्यों को संयोजित करके उनमें क्रमबद्धता लाकर एकवाक्य-सा अर्थबोधक बना दिया जाता है। जिस प्रकार एक वाक्य में कर्त्ता, क्रिया, कर्म आदि परस्पर भिन्न पदसमूह परस्पर मिलकर एक सम्मिलित अर्थ का ज्ञान कराते हैं, उसी प्रकार अङ्गों के बोधक भिन्न-भिन्न वाक्यों को संयोजित करके उनसे एक अविरुद्ध अर्थ का बोध कराना एकवाक्यतापादन है। उदाहरणार्थ, देखा जा सकता है कि 'स्वर्गकामो यजेत' वाक्य में 'स्वर्गकाम' और 'यजेत' पद अपना-अपना अर्थ 'स्वर्ग की कामना वाला' तथा 'याग करे' का बोध कराकर विरत हो जाते हैं, किन्तु आकाङ्क्षावश इनके परस्पर मिल जाने से उनको वाक्य कहा जाता है, उसी प्रकार 'दर्शपौर्णमासाभ्यां यजेत,' 'समिधो यजति,' 'इडो यजति' इत्यादि वाक्यों के अपना-अपना अर्थबोध कराने के बाद कार्य समाप्त हो जाने पर भी उपकार्य एवं उपकारक आकांक्षा होने से परस्पर मिल जाने के कारण इनमें एकवाक्यता हो जाती है। इसलिये जिस प्रकार परस्पर अन्वित पदसमूह वाक्य हैं, उसी प्रकार परस्पर अन्वित वाक्यों का समूह महावाक्य है। यह महावाक्यता ही प्रकारान्तर से एकवाक्यता है। कुमारिलभट्ट के अनुसार—

अर्थबोधे समाप्तानामङ्गाङ्गित्वाद्यपेक्षया ।
वाक्यानामेकवाक्यत्वं पुनः संहत्य जायते ॥

इस प्रकार प्रयोगविधि भी प्रधानविधि ही है, कोई भिन्न नहीं।

एकवाक्यता के कारण आगे-पीछे अन्वित वाक्यों से क्रम का ज्ञान होता है कि अमुक पूर्ववर्ती वाक्य से बोधित कर्म के पश्चात् उसके परवर्ती वाक्य से बोधित कर्म को सम्पन्न करना चाहिये। इस क्रम के कारण कर्मसम्पादन में शीघ्रता होती है—अविलम्बता होती है। क्रम का निर्धारण अविलम्बता के लिये ही किया गया है, अतः कोई कार्य एक कार्य के बाद विलम्ब से किया जाये, इसमें कोई प्रमाण नहीं है। यदि विलम्ब अपेक्षित होता तो अङ्गकर्मबोधक तथा प्रधानकर्मबोधक भिन्न-भिन्न वाक्यों में एकवाक्यता लाकर—उनको परस्पर अन्वित कर-एक साथ क्यों रखा जाता? विलम्ब अपेक्षित होने पर वाक्यों को एक साथ रखना—साहित्य-संगत नहीं होता। जिन कर्मों को विलम्ब से सम्पन्न किया जाता है उनके लिये यह नहीं कहा जाता कि उन दोनों को एक साथ किया गया है। इस प्रकार अङ्ग तथा प्रधान वाक्यों को एक साथ रखने का अर्थ ही होता है, उनसे बोधित कर्मों में शीघ्रता होना।

कर्म का क्रम निश्चित होने पर उनके सम्पादन में शीघ्रता होती है, अन्यथा यह तय करने में 'कि किसे किसके बाद करें?' कार्य में बाधा पड़ती है और विलम्ब हो जाता है। इसी से क्रम का बोध कराने से प्रयोग में प्राशुबोधक प्रयोगविधि को क्रमबोधकविधि भी कहा जाता है।

प्रयोगविधि में एक साथ अन्वित गुण तथा प्रधान वाक्य अर्थबोध कराते हैं। वहाँ शब्दशः यह निर्देश नहीं होता कि 'इसके बाद उसे कीजिये'। फिर क्रम का ज्ञान कैसे होता है, यह समस्या उठती है। उसी के समाधान के लिये कहा गया है कि 'पदार्थ' अर्थात् कर्म के विशेषण के रूप में क्रम का सन्निवेश होता है। कहीं विशेषण स्पष्ट होता है, जैसे 'होतुः प्रथमभक्षः' में 'भक्ष' कर्म का विशेषण 'प्रथम' और कहीं कर्मों के उल्लेखक्रम आदि के द्वारा ही पौर्वापर्य का निर्णय हो जाता है। एक ही वाक्य का क्रम अर्थ भी लेने पर वाक्यभेद नामक दोष हो जाता, किन्तु विशेषण होने से विशिष्टविधान हो जाता है और वह दोष नहीं माना जाता है।

क्रमस्वरूपम्

(३८) तत्र क्रमो नाम विततिविशेषः, पौर्वापर्यरूपो वा।

श्रुत्यादिषट्प्रमाणानि

तत्र षट् प्रमाणानि—श्रुति-अर्थ-पाठ-स्थान-मुख्य-प्रवृत्त्याख्यानि।

श्रुतिलक्षणम्

तत्र क्रमपरवचनं श्रुतिः। तच्च द्विविधम्—केवलक्रमपरं तद्विशिष्टपदार्थपरं चेति। तत्र 'वेदं कृत्वा वेदिं करोती'ति केवलक्रमपरं, वेदिकरणादेर्वचनान्तर-प्राप्तत्वात्। 'वषट्कर्तुः प्रथमभक्ष' इति तु क्रमविशिष्टपदार्थपरम्। एकप्रसरता-भङ्गभयेन भक्षानुवादेन† क्रममात्रस्य विधातुमशक्यत्वात्।

सेयं श्रुतिरितरप्रमाणापेक्षया बलवती। तेषां वचनकल्पनद्वारा‡ क्रमप्रमाण-त्वात्। अत एवाश्विनग्रहस्य पाठक्रमात्तृतीयस्थाने ग्रहणप्रसक्तौ 'आश्विनो दशमो गृह्यत' इति वचनाद्दशमस्थाने ग्रहणमित्युक्तम्।

वहाँ[1] (अर्थात् प्रयोगविधि के क्रमबोधक द्वितीय लक्षण में प्रयुक्त) क्रम का अर्थ है—विस्तारविशेष अथवा आगे-पीछे होना। क्रम-निर्धारण में श्रुति, अर्थ, पाठ, स्थान, मुख्य और प्रवृत्ति नामक छः प्रमाण होते हैं। इन छः प्रमाणों में क्रमबोधक शब्द को श्रुति कहते हैं। श्रुतिप्रमाण दो प्रकार का होता है—१-केवल क्रमबोधक और २-क्रमविशिष्ट पदार्थ-बोधक। इन दोनो भेदों में से 'कुशमुष्टि (वेद) को करके गड्ढाविशेष (वेदि) को करते हैं, यह केवल क्रमबोधक है, क्योंकि वेदि के निर्माण आदि से सम्बद्ध अन्य वाक्य अन्यत्र उक्त हैं। 'वषट् करने वाला का भक्षण प्रथम हो' यह क्रमविशिष्ट पदार्थ का बोधक है। एकवाक्यता का भङ्ग होने के डर से 'भक्ष' का अनुवाद करके क्रममात्र का विधान असम्भव है।

यह चर्चित श्रुति अन्य प्रमाणों की अपेक्षा प्रबल है क्योंकि अन्यों में क्रमबोधक शब्द की कल्पना करके ही क्रम में प्रमाणता होती है। इसीलिये पाठ-क्रम से आश्विनग्रहण तृतीय स्थान पर प्राप्त था, किन्तु 'आश्विनो दशमो गृह्यते'—आश्विन दशम स्थान पर गृहीत होता है—इस शब्द के कारण दशम स्थान पर उसका ग्रहण हो, ऐसा (मी० सू० के पञ्चम अध्याय के चतुर्थपाद के प्रथम अधिकरण में) कहा गया है।

ननु क्रमबोधक इत्यत्र किंलक्षणः क्रमोऽभिमत इत्याकाङ्क्षायां क्रमं लक्षयति—तत्र क्रम इति। यद्वा, वाक्यार्थबोधे पदार्थज्ञानस्य हेतुत्वात्क्रमपदार्थज्ञानमन्तरेण प्रयोग-

---

† भक्षणानुवादेन इति पाठान्तरम्।

‡ वचनकल्पनाद्वारा इति पाठान्तरम्।

१. तत्रेति। प्रयोगविधेर्द्वितीयलक्षणे इत्यर्थः। प्रतिपादिका पृ० ८०

विधिलक्षणवाक्यार्थबोधो न स्यात्ततश्च क्रमपदार्थो वक्तव्य इत्याकाङ्क्षायां क्रमलक्षणमाह—तत्र क्रम इति । तत्र, प्रयोगविधिलक्षणवाक्यार्थघटकपदार्थानां मध्य इत्यर्थः । विततनं वितानो वा विततिः । 'तनु विस्तार' इति धातोः स्त्रियां भावे क्तिन्प्रत्यये विततिरिति रूपम् । तथा च बहुभिः कर्तृभिर्युगपत्कृतानामपि पदार्थानां वितानविशेषो भवत्येव न तु तत्र क्रमव्यवहार इत्यरुच्या लक्षणान्तरमाह—पौर्वापर्यरूपो इति । यद्वा, युगपत्कृतानां क्रमेण कृतानां वा पदार्थानां वितानाविशेषेऽपि विशेषपदसूचितं पौर्वापर्यरूपं विवक्षितं लक्षणार्थं लक्षणान्तरव्याजेन वाशब्दमनास्थायां निश्चयार्थं वा मत्वा प्रकटयति—पौर्वापर्यरूपो वेति । तदुक्तं तत्तत्पदार्थानन्तरं तत्तत्पदार्था इत्येवमनेकपदार्थवृत्तिपौर्वापर्यसमुदायरूपविततिरेव क्रम इति । अत्र भाट्टदीपिकाकारास्तु 'तत्र क्रमो नामाव्यवहितोत्तरत्वरूपमानन्तर्यम् । तच्चैकप्रतियोगिकमेकवृत्ति यथा 'वेदं कृत्वा वेदिं करोती'त्यत्र वेदकरणप्रतियोगिकमानन्तर्यं वेदिकरणवृत्ति । अत्र दर्शपूर्णमासोत्तरं त्वस्यासोमाङ्गत्वात् तद्व्यावृत्त्यर्थमव्यवहितेति विशेषणम् । तत्र दर्शपूर्णमासपूर्वकालताकत्वमात्रं क्त्वाप्रत्ययार्थः, न त्वव्यवहितांशोऽपि । न च सोमविधेस्तदपेक्षा, येनाव्यवधान एव तत्पर्यवस्येत, सोमविधेर्भिन्नप्रयोगविधिविधेयदर्शपूर्णमासप्रतियोगिकक्रमानपेक्षत्वात् । अतस्तत्रोत्तरकालत्वमेव विधेयं न क्रमः । क्रमश्च सर्वत्रोत्तरपदार्थाङ्गं, तस्यैव क्वाहं कर्तव्य इत्यपेक्षणान्न तु पूर्वपदार्थाङ्गं मदुत्तरं कः पदार्थः कर्तव्य इत्यपेक्षायाः क्वचिदप्यदर्शनात् । पूर्वपदार्थस्तु प्रतियोगितया क्रमविशेषणं दर्शपूर्णमासादिरिव पूर्वकालतायाः । एतेन क्रमः पदार्थद्वयाङ्गमिति केषांचिदुक्तमपास्तम्, प्रमाणाभावात् । अस्तु वा 'प्रथमभक्ष' इत्यादौ प्राथम्यं पूर्वपदार्थाङ्गमेवेत्याहुः ।

तन्नियमे च षट् प्रमाणानि श्रुत्यादीनि भवन्तीत्याह—तत्रेति । तत्र क्रम इत्यर्थः ।

तत्र श्रुतिं लक्षयति—तत्रेति । तत्र षट्सु प्रमाणेषु मध्य इत्यर्थः । क्रमपरवचनं, वृत्त्या क्रमबोधकं, क्लृप्तशब्द इत्यर्थः । तच्चाथशब्दादिकम् । तत्राथशब्दस्यानन्तर्यवाचित्वं शक्त्यैव, क्त्वाप्रत्ययादीनां तु पूर्वकालादिवाचिनामपेक्षानुरोधात्क्रमपरत्वं लक्षणतया, अर्थादिषु कल्प्यशब्दस्यैव क्रमबोधकत्वात् क्लृप्तेति विशेषणम् । श्रुतिं विभजते—तच्चेति । क्रमपरवचनं चेत्यर्थः । तत्र केवलक्रमपरं वचनमुदाहरति—तत्रेत्यादिना । तत्र द्वयोर्द्वयोर्मध्य इत्यर्थः । वेदः दर्भमुष्टिविशेषः । वेदिः आहवनीयगार्हपत्ययोर्मध्ये चतुरङ्गुलं निखातं भूतलं हविर्विधानस्थानविशेषरूपम् । तस्य केवलक्रमपरत्वे हेतुमाह—वेदीत्यादिना । दर्शपूर्णमासयोर्हविरधिवासनोत्तरं वेदिकरणविधिवाक्येनैव वेदिकरणस्य प्राप्तत्वात्तदनुवादेन क्त्वाप्रत्ययोक्तक्रममात्रमत्र विधीयत इति भावः । अत्र क्त्वाप्रत्ययोक्तस्य क्रमस्य वाक्यादेव वेदिकरणाङ्गत्वं तत्त्वेनैव तद्विधिरिति बोध्यम् । क्रमविशिष्टपदार्थपरं वचनमुदाहरति—वषट्कर्तुरिति । ननु भक्षस्य कथंचित्संभवत्प्राप्तिकत्वसंभवात् प्रथमशब्दोक्तक्रममात्रस्यात्रापि विधानं भविष्यतीत्याशङ्क्य तत्र हेतुमाह—एकेत्यादिना । तथा च प्राथम्यविशिष्टैकभक्षपदार्थप्रसरभावस्य विशिष्टोपस्थितिरूपस्य भङ्गभिया न क्रममात्रं विधातुं शक्यते । अन्यथा यो वषट्कर्तुर्भक्षः स प्रथम इत्युपस्थितिः स्यान्न तु वषट्कर्तृत्वोपाधिविशिष्टसंबन्ध्यभिन्नः प्राथम्यविशिष्टभक्ष इति भावः । यद्वा, एकप्रसरताभङ्ग एकवाक्यताभङ्गो

बोध्यः। भक्षस्याध्यनेनैव विधानाभ्युपगमात्। तथा चानेन विहितभक्षानुवादेन प्रथमशब्दोपात्तक्रमविधान एकवाक्यताभङ्गेनावृत्त्यात्मको वाक्यभेदः स्यादिति भावः। अत्रापि क्रमविशिष्टभक्षविधानात्प्रथमपदोक्तक्रमस्य वाक्याद्भक्षाङ्गत्वमिति ध्येयम्। अत्रेदं बोध्यम्—यत्र धात्वर्थस्य क्लृप्तप्रमाणेन प्राप्त्यभावेऽपि कथंचित्संभवत्प्राप्तिकस्य पुनर्विधानेन किंचित्प्रयोजनं विधेयान्तरं च नान्यत्किंचित्तत्र क्रम एव श्रुत्युक्तो विधीयते। यथा सत्रात्मके द्वादशाहे, 'अध्वर्युर्गृहपतिं दीक्षयित्वा ब्रह्माणं दीक्षयति तत उद्गातारं ततो होतारं, ततस्तं प्रतिप्रस्थाता दीक्षयित्वार्ऽधिनो दीक्षयति ब्राह्मणाच्छंसिनं ब्रह्मणः, प्रस्तोतारमुद्गातुः मैत्रावरुणं होतुस्ततस्तं नेष्टा दीक्षयित्वा तृतीयिनो दीक्षयति आग्नीध्रं ब्रह्मणः, प्रतिहर्तारमुद्गातुरच्छावाकं होतुस्ततस्तमुन्नेता दीक्षयित्वा पादिनो दीक्षयति पोतारं ब्रह्मणः, सुब्रह्मण्यमुद्गातुर्ग्रावस्तुतं होतुस्ततस्तमन्यो ब्राह्मणो दीक्षयति ब्रह्मचारी वाचार्यप्रेषित' इति श्रुते वाक्ये अत्र हि न दीक्षायाः स्वरूपेण तत्तत्संस्कारकत्वेन वा विधिरतिदेशप्राप्तत्वात्। प्रकृतौ हि यजमानसंस्कारार्था दीक्षातिदेशेनैव सत्रे प्राप्यते, सत्रे च ये यजमानास्त ऋत्विज इति वचनेन ऋत्विक्कार्योद्देशेन यजमानविधानाद् ब्रह्मादीनां यजमानत्वेनैव प्रतिप्रधानगुणावृत्तिन्यायेन तत्तत्संस्कारकत्वप्राप्तेः, ततश्च दीक्षारूपं धात्वर्थमनूद्याख्यातेन, क्त्वाप्रत्ययोक्तस्ततःशब्दोक्तश्च क्रमो विधीयते। अत्र चायमर्थः अध्वर्युर्यजुर्वेदोक्तं करोति तस्य पुरुषास्त्रयः प्रतिप्रस्थाता नेष्टोन्नेता चेति। एते चत्वारो दीक्षयितारः। ब्रह्मा वेदत्रयोक्तस्य प्रत्यवेक्षणं करोति, तस्य पुरुषास्त्रयः ब्राह्मणाच्छंसी अग्नीत् पोता चेति। उद्गातोद्गानं करोति, तस्य पुरुषास्त्रयः प्रस्तोता प्रतिहर्ता सुब्रह्मण्यश्चेति। होता शंसनं करोति, तस्य पुरुषास्त्रयः मैत्रावरुणोऽच्छावाको ग्रावस्तुच्चेति। चतुर्षु वर्गेषु ये प्रथमास्ते दक्षिणां संपूर्णामाप्नुवन्ति। ये द्वितीयास्ते तदर्धं प्राप्नुवन्ति ततोऽर्धिन उच्यन्ते। ये तृतीयास्ते तृतीयांशं प्राप्नुवन्तीति तृतीयिनः। ये चतुर्थास्ते चतुर्थांशं प्राप्नुवन्तीति पादिनः। तानेतानुक्तक्रमेण स स पुरुषः करोतीति। किंच 'इतरमन्यस्तेषां यतो विशेषः स्या'दिति न्यायेनाध्वर्युपुरुषाणामाद्यः प्रतिप्रस्थातैवाध्वर्युदीक्षायां प्राप्नोति। ब्राह्मणाच्छंस्यादिदीक्षासु त्वध्वर्योर्नि पूतः पावयेदिति वचनेन सत्रप्रकरणपठितेन दीक्षासु दीक्षाख्यसंस्काररहितपुरुषकर्तृविधायकेन पर्युदासात् प्रतिप्रस्थातृप्राप्तिः सुलभैव। एवं प्रतिप्रस्थात्रादिदीक्षासु नेष्टुः प्रतिप्रस्थात्रनन्तरस्य नेष्ट्रादिदीक्षासु चोन्नेतुर्नेष्ट्रनन्तरस्य प्राप्तिर्न्यायादेवेति न विनेयान्तराशङ्का। अतः क्रम एवात्राप्राप्तः स एव तत्तद्दीक्षोद्देशेन विधीयते। अत एव चैतानि द्वादशवाक्यानि श्रौतक्रमविधायकानि अर्धित्वाद्युद्देश्यतावच्छेदकमङ्गीकृत्य षडेव वा। उन्नेतृदीक्षावाक्ये तु वैकल्पिकब्रह्मचारिविधानात् हृदयादिन्यायेन पाठादेव क्रमसिद्धेस्तत इत्यनुवादः। निपातत्वाच्च वाशब्दस्य ब्रह्मचारिविशेषणत्वेन न वाक्यभेदः। ब्राह्मणानामेवार्त्विज्यविधानाद् ब्राह्मण इति चानुवादः। ब्रह्मचारिणश्चाचार्याधीनत्वस्मृतेराचार्यप्रेषित इत्यप्यनुवादः। यत्तु—यद्यप्यत्र क्रमस्य वाचकः शब्दो नास्ति तथापि वाक्येन प्रतीयते। स च प्रतीयमानः क्रमो मानान्तरेण कर्तव्यतया प्राप्त्यभावादिह विधीयत इति। तन्न, क्त्वाप्रत्ययादेः क्रमवाचकस्योक्तत्वात्। अतः क्रम एवात्राप्राप्तस्तत्तद्दीक्षोद्देशेन विधीयते क्त्वाप्रत्ययोक्तस्ततः पदोक्तश्चेति भाट्टदीपिकाविरोधाच्चेति। इदानीमुक्तश्रुतेरर्थ-

पाठादिप्रमाणापेक्षया प्राबल्यमाह—सेयं श्रुतिरिति। अर्थादिप्रमाणानां श्रुतिकल्पनद्वारा क्रमे प्रामाण्यादिति। तत्र हेतुमाह—तेषामित्यादिना। ज्योतिष्टोम ऐन्द्रवायवादिग्रहेष्वाश्विननामकग्रहस्तृतीयस्थाने पठितः। ततश्च तृतीयस्थाने ग्रहणप्रसक्तावपि तस्य दशमस्थानत्वमाश्विनो दशमो गृह्यत इति शब्देनैवाम्नायत इति तत्र गमकमप्याह—अत एवेत्यादिना। अत एव, इतरप्रमाणापेक्षया श्रुतेः प्राबल्यादेवेत्यर्थः। इत्युक्तमिति। पञ्चमाध्याये चतुर्थपादस्य प्रथमाधिकरण इति शेषः। पाठो हि न क्रमस्याभिधायकः किं त्वन्यथानुपपत्त्या क्रमं कल्पयति। दशम इत्येषा श्रुतिस्तु साक्षादेव क्रममभिधत्ते। ततः पाठादपि श्रुतिः प्रबलेति भावः।

क्रम के यहाँ दो लक्षण दिये गये हैं। प्रथमतः उसको विशेष प्रकार की वितति या विस्तार कहा गया है। जहाँ बहुत-सी वस्तुयें एक साथ रखी जाती हैं वहाँ विस्तार हो ही जाता है। उसी प्रकार अङ्ग एवं प्रधान कर्मों का एकत्र समन्वय करने पर कर्मों में वितति स्वतः हो जायेगी। किन्तु यह विस्तार अबुद्धिपूर्वक किया गया जमाव नहीं है, यहाँ वस्तुओं या कर्मों का सङ्घटन बुद्धिपूर्वक एक दिशा में होता है। इसीसे यह 'विततिविशेष' अथवा विशेष प्रकार का विस्तार है। वितति और विततिविशेष का अन्तर इस उदाहरण से समझा जा सकता है। बहुत से पीपे, लट्ठे या लोहे के छल्ले एक साथ भाण्डार में रखे जा सकते हैं और अनेकसंख्यक होने से उनका सजातीय विस्तार अथवा ढेर बन सकता है। यह वितति है। किन्तु जब इनमें एक के बाद दूसरे को सम्बद्ध करके रखा जाता है तब उनसे पुल या जञ्जीर बन जाती है। यही विशेष प्रकार का विस्तार है। इसी प्रकार का विस्तार अनुष्ठान में एक के बाद दूसरे कर्म का भी अपेक्षित होता है। यह लक्षण बहुत आसानी से अभीष्ट अर्थ नहीं प्रकट करता और न पदार्थ के विशेषण के रूप में क्रम आ पाता है, अतः दूसरा लक्षण 'पौर्वापर्यरूपो वा' दिया गया है। 'कौन पहले रहे और कौन बाद में' इसकी निश्चित व्यवस्था ही क्रम है, इसी को पौर्वापर्य भी कहते हैं।

पौर्वापर्य को निर्धारित करने में छः प्रमाण सहायक होते हैं। उनका निरूपण क्रमशः किया जा रहा है। इनमें प्रथम है श्रुतिप्रमाण। इसमें क्रम का वाचक शब्द स्वयं उपस्थित होता है जिसकी 'श्रुति' अर्थात् श्रवणमात्र से ज्ञात हो जाता है कि किसके बाद क्या करना है। इसी से भाष्यकार शबर मुनि ने कहा था 'यदर्थस्याभिधानं शब्दस्य श्रवणमात्रादेवावगम्यते।' कुछ विद्वानों का विचार है कि उपस्थित शब्द से कहीं क्रम वाच्य होता है और कहीं लक्ष्य, अर्थात् अभिधा एवं लक्षणा दोनों शब्दशक्तियों से क्रम का ज्ञापन यथावसर होता है। 'अथ' शब्द अभिधा से 'आनन्तर्य' का वाचक है, अतः क्रम इसका वाच्य है। 'क्त्वा' प्रत्ययान्त पद लक्षणया क्रम का ज्ञान कराते हैं।

श्रुति से कहीं केवल क्रम का ही ज्ञान होता है और कहीं क्रमविशिष्ट पदार्थ का अर्थात् क्रम से सम्बद्ध वस्तु का भी। प्रथम का उदाहरण 'वेदं कृत्वा वेदिं करोति' वाक्य के 'क्त्वा' प्रत्यय से होता है।[1] 'क्त्वा' एक पूर्वकालिक प्रत्यय है जिससे ज्ञात होता है कि पहले किसे किया गया। पूर्वकाल में सम्पादन का यह बोधक है। इससे ज्ञात होता है कि पहले 'वेद' का निर्माण हुआ फिर 'वेदि' का। 'वेद' कुश का बना हुआ झाड़ने का साधन है और 'वेदि' 'आहवनीय' तथा गार्हपत्य अग्नियों के मध्य में खुदा हुआ चार अङ्गुल का गड्ढा है।

'वेदं कृत्वा वेदिं करोति' से केवल क्रम का ज्ञान अपेक्षित है क्योंकि 'वेद' का निर्माण कैसे किया

---

१. 'वेदं कृत्वा वेदिं करोति' इति श्रुतौ पूर्वकालवाचिना क्त्वाप्रत्ययेन क्रमः प्रतीयते। वेदो नाम दर्भमयं संमार्जनसाधनम्। वेदिः आहवनीय-गार्हपत्यमध्यवर्तिनी चतुरङ्गुलखाता भूमिः। जैमिनिन्यायमालाविस्तर पृ० ३०.

जाता है और 'वेदि' कैसे बनाई जाती है इस सबका उल्लेख 'दर्शपौर्णमास' के प्रकरण में हवि के अधिवास के वर्णन के प्रसङ्ग में हो चुका है। अतः वेदिकरण से सम्बद्ध अन्य वचन होने से यहाँ उसके निर्माण को क्रम से विशिष्ट नहीं माना जा रहा है, क्योंकि जिनका एक बार निरूपण हो चुका है उनका भी पुनः निरूपण करना उचित नहीं। अतः दूसरे वाक्यों से अप्राप्त क्रम का ही विधान यहाँ अपेक्षित है।[1]

जहाँ क्रम एवं कर्म दोनों वचनान्तर से अप्राप्त होते हैं वहाँ दोनों का कथन होता है। जैसे—'वषट्कर्तुः प्रथमभक्षः' में। वषट्कर्त्ता होता को कहते हैं। यहाँ 'भक्ष' पद का अर्थ सोमरस का पान—सोमभक्षण—है। 'प्रथम' पद भक्षण के साथ है और प्राथम्य का वाचक है। सम्मिलित अर्थ है 'प्राथम्यविशिष्ट सोमभक्षण'।[2] इस मन्त्र का तात्पर्य यह है कि यज्ञ में अवशिष्ट सोम का भक्षण होता नामक ऋत्विक् सर्वप्रथम करे उसके बाद उद्गाता, अध्वर्यु आदि। यहाँ 'प्रथम' पद क्रम का वाचक है और 'भक्ष' कर्म का। विधान है 'भक्षण' क्रिया का और उसका विशेषण है 'प्रथम' से ज्ञात 'प्राथम्य'। उक्त मन्त्र से प्राथम्यरूप क्रम से विशिष्ट भक्षण रूप पदार्थ का बोध होता है, अतएव इसकी 'क्रमविशिष्टपदार्थपरकता' सिद्ध होती है। 'भक्ष' का विधान करने वाली दूसरी विधि के न होने से इसी मन्त्र से उसका भी विधान होता है और क्रम का भी। केवल क्रम का ही विधान नहीं होता। यदि यह कहा जाये कि 'वषट्कर्तुः प्रथमभक्षः' से सबसे पहले 'भक्ष' का विधान कर लिया जाये और दुबारा प्राथम्यरूप क्रम का अर्थ लेते समय उसका अनुवाद विशिष्ट-पदार्थ लिया जाये तो यह संभव नहीं होगा क्योंकि ऐसी दशा में एक ही वाक्य के भक्षपरक तथा क्रमपरक दो भिन्न-भिन्न अर्थ करने से एकप्रसरता अर्थात् एकवाक्यता का भङ्ग हो जायेगा और वाक्यभेद नामक दोष होने लगेगा। ऐसी दशा में दोषहीन 'क्रमविशिष्टपदार्थ' मानना ही उचित है।

श्रुति की अन्य प्रमाणों से प्रबलता—श्रुतिप्रमाण अन्य प्रमाणों—अर्थ, पाठ आदि से प्रबल है। यह अन्यों से प्रबल इसलिये है क्योंकि इसमें क्रम का वाचक शब्द स्वयं उपस्थित रहता है। शब्द के प्राप्त होने से क्रम का ज्ञान तत्काल हो जाता है जिससे क्रिया के अनुष्ठान में शीघ्रता होती है। उदाहरण के लिये 'वेदं कृत्वा वेदिं करोति' में 'कृत्वा' पद वेद के प्रथमकर्तृत्व का ज्ञापक है। पहले किसे किया जाये यह जानने के लिये किसी अन्य वाक्य को खोजना नहीं पड़ता है। 'अर्थ' आदि प्रमाणों में वचन की—क्रमवाचक शब्द की—कल्पना करनी पड़ती है।

ज्योतिष्टोम याग के प्रकरण में ऐन्द्र, वायव और आश्विन के ग्रहण का क्रमशः पाठ है। इस क्रम से प्रथम स्थान पर ऐन्द्र का, द्वितीय पर वायव का, तृतीय पर आश्विन का ग्रहण होना चाहिये। किन्तु आश्विन के ग्रहण के विषय में श्रुतिवाक्य प्राप्त है—आश्विनो दशमो गृह्यते—अर्थात् आश्विन का ग्रहण दशम स्थान पर करे। इस प्रकार आश्विनग्रहण पाठप्रमाण से तृतीय किन्तु श्रुतिप्रमाण से दशम स्थान पर प्राप्त होता है। इस विवाद का निर्णय 'दशम' शब्द से होता है। 'पाठ' में स्वयं समझना पड़ता है, क्रम को गिनना पड़ता है, इसमें विलम्ब होता है, जब कि श्रुति में 'दशमः' शब्दतः उक्त होने के कारण अनुष्ठान में निर्भ्रान्त रूप से शीघ्रता कराता है। 'पाठप्रमाण' से होने वाले विधान को निरस्त करके श्रुतिप्रमाण से ही कार्य सम्पादन होना इसकी प्रबलता का सूचक है।

इत्युक्तम्—ग्रन्थ में पाठ है 'इत्युक्तम्'—ऐसा कहा गया है। इसका अभिप्राय यह है कि पाठ आदि की अपेक्षा श्रुति की प्रबलता और दशम स्थान पर आश्विनग्रहण का निरूपण मीमांसासूत्रों

---

१. अदग्धदहनन्यायेन यावदप्राप्तं तावद्विधीयत इति प्रमाणान्तराप्राप्तस्य क्रमस्यैव विधायकत्वमितिभावः। प्रतिपादिका पृ० ८२–३.

२. वषट्कर्त्ता होतेति माधवाचार्याः। प्रथमभक्ष इति। प्राथम्यविशिष्टं सोमभक्षणमित्यर्थः। विशिष्टस्याप्राप्तत्वादितिभावः। वही पृ० ८३.

में किया गया है। रामेश्वर शिवयोगी के अनुसार 'उक्तम्' के बाद "पञ्चमाध्याये चतुर्थपादस्य प्रथमाधिकरणे" इतना और पाठ होना चाहिये, जब कि श्रीकृष्णनाथ भट्टाचार्य के अनुसार 'उक्तम्' का अर्थ यह है कि इस विषय का प्रतिपादन भाष्यकार शबर मुनि ने विस्तार से किया है और यही सिद्धान्त स्थिर किया है।[1]

उदाहरण पर विशेष विचार—विनियोगविधि में प्रबलता का निरूपण करते समय प्रत्येक पूर्ववर्ती प्रमाण की प्रबलता यद्यपि समस्त परवर्तियों से बतलाई गयी है, किन्तु उदाहरण तत्काल बाद वाले का दिया गया है। उसके अनुसार यहाँ श्रुति को 'अर्थ' से प्रबल दिखलाना चाहिये था, किन्तु उदाहरण पाठक्रम का दिया गया है। इससे भास्कर की अनवधानता दृष्टिगोचर होती है। संभव है अर्थप्रमाण की अपेक्षा पाठप्रमाण का उदाहरण देने में सरलता समझकर उन्होंने ऐसा किया हो। अतः उदाहरण में न आने पर भी यह नहीं समझना चाहिये कि श्रुति 'अर्थ' से प्रबल नहीं है। वस्तुतः श्रुति से अर्थ, पाठ आदि सभी उत्तरोत्तर निर्बल हैं।

अर्थलक्षणम्

(३९) यत्र प्रयोजनवशेन क्रमनिर्णयः सोऽर्थक्रमः यथा 'अग्निहोत्रं जुहोति', 'यवागूं पचती' त्यग्निहोत्रयवागूपाकयोः। अत्र हि यवाग्वा होमार्थत्वेन तत्पाकः प्रयोजनवशेन पूर्वमनुष्ठीयते।

स चायं पाठक्रमाद् बलवान्। यथापाठं ह्यनुष्ठाने क्लृप्तप्रयोजनबाधोऽदृष्टार्थत्वं† च स्यात्। न हि होमानन्तरं क्रियमाणस्य पाकस्य किञ्चिद् दृष्टं प्रयोजनमस्ति।

जहाँ उद्देश्यविशेष के कारण क्रम का अवधारण हो वह अर्थक्रम है। जैसे–'अग्निहोत्रं जुहोति'—अग्निहोत्र करता है, 'यवागूं पचति'—लपसी पकाता है–अग्निहोत्र और यवागू-पाक इन दोनों में, क्योंकि यहाँ यवागू (लपसी) होम के लिये उपकारक होने से, उसका पाक उद्देश्यविशेष के कारण (अग्निहोत्र से) पहले सम्पन्न किया जाता है।

यह अर्थक्रम पाठक्रम से प्रबल है। पाठ के अनुसार अनुष्ठान करने पर निर्धारित प्रयोजन का बाध होने लगेगा और (पाक की) अदृष्टार्थता भी होगी, क्योंकि होम के पश्चात् सम्पादित किये जाने वाले पाक का कोई प्रत्यक्ष उद्देश्य नहीं रहेगा।

इदानीमर्थक्रमं लक्षयति—यत्रेत्यादिना। प्रयोजनवशेन प्रयोजनानुपपत्त्या, तद्धि व्युत्क्रमेऽनुपपद्यमानं क्रमे प्रमाणमिति भावः। तत्रोदाहरणमाह—यथाग्निहोत्रमिति। अग्निहोत्रयवागूपाकयोरित्यत्र प्रयोजनवशेन क्रमनिर्णय इत्यनुषङ्गः। अत्र हीति। अत्र प्रकृते, यवागूहोमयोर्मध्य इति वार्थः। तत्पाकः पूर्वमनुष्ठीयत इत्यन्वयः, होमादिति शेषः, यवागूः तच्छब्दार्थः। यवागूपाकस्य पाठक्रमेण पश्चात्करणे पाकसंस्कृताया यवाग्वा होमरूपप्रयोजनस्य 'यवाग्वाग्निहोत्रं जुहोती'ति वचनसिद्धस्यानिष्पत्तेः। पाकस्य च यवागूत्पादकत्वेऽपि तस्या अनुपयुक्तायाः प्रयोजनत्वानुपपत्तेस्तदन्यथानुपपत्त्या पूर्वं पाकः पश्चाद्धोमोऽनुष्ठीयत इति भावः। अर्थक्रमश्च पाठक्रमाद्बलीयान्भवतीत्याह—स चायमिति। यवागूपाकस्य यथापाठमनुष्ठानेऽदृष्टार्थत्वं स्यादिति विपक्षे बाधकमाह—यथापाठमिति।

---

१. उक्तं भाष्यकारादिभिरिति शेषः। प्रतिपादिका पृ० ८४.

† क्रमप्रयोजनबाधे पाकस्यादृष्टार्थत्वम् इति पाठान्तरम्।

क्रमप्रयोजनबाधस्तु दर्शितो यवागूपाकस्येत्यारभ्यास्माभिरिति भावः। दृष्टमेव किंचित्संभवत्प्राप्तिकं भवेदित्यत आह—न हीत्यादिना। न हि भक्षणमन्तरेण किंचिद् दृष्टप्रयोजनमुपलभ्यते, तच्च न प्रकृतयवाग्वा, अदर्शनात्प्रमाणाभावाच्चेति भावः।

कहीं-कहीं ऐसा भी पाठ मिलता है जहाँ होम आदि मुख्य क्रियाओं का उल्लेख उनकी सहायक क्रियाओं के उल्लेख से पहले और उनकी सहायक क्रियाओं—कुण्डखनन आदि का बाद में होता है। ऐसी परिस्थितियों में प्रयोजन की सिद्धि को ध्यान में रखकर पौर्वापर्य का निर्णय किया जाता है। इसके निर्धारण में सहायक प्रमाण को 'अर्थप्रमाण' कहते हैं। मूल में उद्धृत 'अग्निहोत्रं जुहोति' और 'यवागूं पचति' में इसे स्पष्ट किया गया है। पाठ में होम का उल्लेख पहले और द्रव्य यवागू के पाक का बाद में है। इसमें यवागूपाक पहले करना पड़ेगा, तभी होम सम्पन्न किया जा सकेगा। यदि होम के बाद यवागूपाक हुआ तो उसका निर्धारित लक्ष्य हवन सम्पन्न नहीं हो सकेगा—यही क्लृप्तप्रयोजन का बाध है। दूसरा दोष यह होगा कि होम के बाद यवागूपाक का कोई प्रत्यक्ष उद्देश्य नहीं समझ में आता, जब कि पहले पकाने पर उसका प्रत्यक्ष प्रयोजन हवनकर्म सर्वलोकगोचर होता है। यह बात अलग है कि बाद के यवागूपाक का कोई अदृष्ट प्रयोजन मान लिया जाये, किन्तु जहाँ दृष्ट प्रयोजन हो वहाँ अदृष्ट प्रयोजन मानना उचित नहीं। इससे सिद्ध होता है कि 'पाठ' से निश्चित 'क्रम' का बाध 'अर्थप्रमाण' से हो जाया करता है, अतः 'अर्थ' 'पाठ' से प्रबल है। 'अर्थ' की प्रबलता की सार्थकता से सम्बद्ध कारिकाएँ द्रष्टव्य हैं—

क्रमे श्रुत्यैव विहिते पाठतः को न कल्पयेत्।
प्रयोजनविरोधे वा कः पाठमनुरुध्यते॥
हुत्वा हि पचमानस्य भवेद् द्वयमनर्थकम्।
पाकश्चैव यवागूश्च तां पक्त्वा जुहुयात् ततः॥

पाठक्रमः

(४०) पदार्थबोधकवाक्यानां यः क्रमः स पाठक्रमः। तस्माच्च पदार्थानां क्रम आश्रीयते। येन हि क्रमेण वाक्यानि पठितानि तेनैव क्रमेणाधीतान्यर्थप्रत्ययं जनयन्ति। यथाप्रत्ययं च पदार्थानामनुष्ठानम्। स च पाठो द्विविधः—मन्त्रपाठो ब्राह्मणपाठश्चेति। तत्राग्नेयाग्नीषोमीययोस्तत्तद्याज्यानुवाक्यानां पाठाद्यः क्रम आश्रीयते स मंत्रपाठात्।

स चायं मन्त्रपाठो ब्राह्मणपाठाद् बलीयान्, अनुष्ठाने ब्राह्मणवाक्यापेक्षया मन्त्रपाठस्यान्तरङ्गत्वात्। ब्राह्मणवाक्यं हि प्रयोगाद् बहिरेवेदं कर्तव्यमिति अवबोध्य कृतार्थम्। मन्त्राः पुनः प्रयोगकाले व्याप्रियन्ते, अनुष्ठानक्रमस्य स्मरणक्रमाधीनत्वात्। तत्क्रमस्य च मन्त्रक्रमाधीनत्वाद् अन्तरङ्गोऽयं मन्त्रपाठ इति। प्रयाजानां 'समिधो यजति, तनूनपातं यजति' इत्येवंविधपाठक्रमाद्यः क्रमः स ब्राह्मणपाठक्रमात्। यद्यपि ब्राह्मणवाक्यान्यर्थं विधाय कृतार्थानि तथापि प्रयाजादीनां क्रमस्मारकान्तरस्याभावात्तान्येव क्रमस्मारकत्वेन स्वीक्रियन्ते।

कर्म के बोधक वाक्यों का जो क्रम है वही पाठक्रम प्रमाण है। उससे कर्मों का क्रम निश्चित होता है क्योंकि जिस क्रम से वाक्य पठित होते हैं उसी क्रम से वाचित होने पर अर्थ का ज्ञान कराते हैं। ज्ञान के क्रम से ही क्रियाओं का सम्पादन होता है। यह पाठ भी दो प्रकार का होता है—मन्त्रपाठ और ब्राह्मणपाठ। उनमें आग्नेय और अग्नीषोमीय यागों

उन-उन के याज्या और अनुवाक्या के पाठ से जो क्रम लिया जाता है वह मन्त्रपाठ से (समझना चाहिये।)

यह मन्त्रपाठ ब्राह्मणपाठ की अपेक्षा प्रबल होता है, क्योंकि अनुष्ठान में ब्राह्मणवाक्य की अपेक्षा मन्त्र-पाठ अन्तरङ्ग होता है। ब्राह्मणवाक्य अनुष्ठान से बाहर ही 'यह करना चाहिये' इतना बतला कर विरत हो जाता है, जब कि मन्त्र अनुष्ठान के समय व्यवहृत होते हैं, क्योंकि अनुष्ठान का क्रम स्मरण के क्रम पर आश्रित होता है और स्मरण का क्रम मन्त्र के क्रम के अधीन होता है, अतः यह मन्त्रपाठ अन्तरङ्ग होता है। 'समिधो यजति', 'तनूनपातं यजति' इस प्रकार के पाठ के क्रम से प्रयत्न आदि का जो क्रम होता है वह ब्राह्मणपाठक्रम से होता है। यद्यपि ब्राह्मणवाक्य अर्थों का विधान करके कृतकृत्य हो जाते हैं, तथापि प्रयाज आदि में कोई दूसरा क्रमस्मारक न होने से वे ब्राह्मणवाक्य ही क्रमस्मारक के रूप में स्वीकार किये जाते हैं।

पाठक्रमं लक्षयति—पदार्थेति। तस्माच्चेति। पाठक्रमाच्चेत्यर्थः। पाठक्रमात्पदार्थक्रममुपपादयति—येनेत्यादिना। वाक्यानीति पदस्याप्युपलक्षणम्। पदार्थप्रत्ययस्य क्वात्रोपयोग इत्यत आह—यथाप्रत्ययं चेति। पाठक्रमं विभजते—स च पाठो द्विविध इति। मन्त्रपाठक्रममुदाहरति—तत्रेत्यादिना। तत्र मन्त्रपाठब्राह्मणपाठयोर्मध्य इत्यर्थः। किंच अग्नीषोमीययागस्तैत्तिरीयब्राह्मणपञ्चमप्रपाठके द्वितीयानुवाके समाम्नातः 'ताभ्यामेतमग्नीषोमीयमेकादशकपालं पूर्णमासे प्रायच्छ'दिति। आग्नेययागस्तु षष्ठप्रपाठके तृतीयानुवाके आम्नातः—'यदाग्नेयोऽष्टाकपालोऽमावास्यायां च पौर्णमास्यां चाच्युतो भवती'ति। तत्रानुष्ठानस्य ब्राह्मणोक्तविध्यधीनत्वादग्नीषोमीयस्य प्रथममनुष्ठानमित्याशङ्क्य मन्त्रकाण्डे पूर्वं पठिता आग्नेयमन्त्राः। तथाहि—हौत्रकाण्डे आज्यभागमन्त्रानुवाकादुत्तरस्मिन्ननुवाके प्रथमम् 'अग्निर्मूर्धे'त्यादिके आग्नेय्यौ याज्यानुवाक्ये आम्नाते। ततः 'प्रजापते नत्वदेतानी'त्यादि प्राजापत्ये। ततो'ऽग्नीषोमा सवेदसे'त्यादिके अग्नीषोमीये। आध्वर्यवे काण्डेऽप्यग्नये जुष्टं निर्वपाम्यग्नीषोमाभ्यामित्याग्नेयः पूर्वमाम्नातः। याजमानकाण्डेऽप्यग्नेरहं देवयज्ययान्नादो भूयासमित्याग्नेयस्य पश्चाद् "अग्नीषोमयोरहं देवयज्यया वृत्रहा भूयास" मित्याम्नायते। मन्त्रक्रमः प्रबलः मन्त्रैः स्मृत्वा पश्चादनुष्ठेयत्वाद् ब्राह्मणपाठस्त्वप्राप्तपदार्थे विधिनापि चरितार्थः। अतोऽनुष्ठानस्मरणायैवोत्पन्नान्मन्त्रान्बाधितुं नालमिति मन्त्रक्रमेणाग्नेयस्यैव प्रथममनुष्ठानमिति समाधानमभिप्रेत्य वा मन्त्रपाठस्य ब्राह्मणपाठाद्बलीयस्त्वमाह—स चायमित्यादिना। किंच पाठयोस्तु मन्त्रब्राह्मणगतयोर्मन्त्रपाठो बलीयान्, न तु ब्राह्मणपाठः तस्योत्पत्तिविनियोगविधिगतत्वेन प्रथमोपस्थितत्वेऽपि पाठस्य स्मारकक्रमं विधायैव क्रमनियामकत्वोक्तेर्मन्त्रसत्त्वे च तस्यैव स्मारकतया विधानोपयुक्तस्यासमर्थस्य च विधेः स्मारकत्वाभावान्मन्त्रपाठक्रम एव बलीयान्। तेन च याज्यानुवाक्यादिमन्त्रपाठक्रमादाग्नेयस्य प्रथमानुष्ठानं पश्चाच्चोपांशुयाजोत्तरमग्नीषोमीयस्य, न तु ब्राह्मणपाठक्रमादग्नीषोमीयस्य प्रथमं, पश्चादुपांशुयाजोत्तरमाग्नेयस्येत्यभिप्रेत्य मन्त्रपाठस्य ब्राह्मणपाठाद्बलीयस्त्वमाह—स चायमित्यादिना। याज्यानुवाक्यानामिति। यजेति प्रैषानन्तरमृग् या ब्रह्मणा समुच्चार्यते सा याज्येत्युच्यते। अनुब्रूहीति प्रैषानन्तरमृग् या तेनैव समुच्चार्यते सानुवाक्येत्युच्यत इत्यर्थः।

तस्य तद्बलीयस्त्वे हेतुमाह—अनुष्ठान इत्यादिना। मन्त्रपाठस्य ब्राह्मणपाठादनुष्ठाने-

ऽन्तरङ्गत्वमुपपादयति—ब्राह्मणवाक्यमित्यादिना । स्मरणक्रमाधीनत्वादिति । अनुष्ठेय-पदार्थस्मरणक्रमाधीनत्वादित्यर्थः । तत्क्रमस्येति । अनुष्ठेयपदार्थस्मरणक्रमस्येत्यर्थः । मन्त्र-क्रमाधीनत्वादिति । अनुष्ठेयपदार्थस्मारकमन्त्रक्रमाधीनत्वादित्यर्थः । प्रयाजानामनुष्ठानक्रमः 'समिधो जयति, तनूनपातं यजति, इडो यजति, बर्हिर्यजति, स्वाहाकारं यजती'ति ब्राह्मण-पाठक्रमात्स्वीक्रियते इत्याह—प्रयाजानामित्यादिना । ननु 'समिधोऽग्न आज्यस्य व्यन्त्वि'-त्यादिमन्त्राणां प्रयाजक्रमस्मारकाणां सत्त्वेन कथं तेषां ब्राह्मणवाक्यक्रमात्क्रमः स्वीक्रियते, तद्वाक्यानां विधानमात्रे चरितार्थत्वादित्याशयेनाशङ्कते—यद्यपीति । मन्त्रपाठस्यान्यादृश-त्वेन वा, मन्त्राणां देवतामात्रस्मारकत्वेन कर्मस्मारकत्वाभावाद्वा, प्रयाजक्रमो ब्राह्मणपाठ-क्रमादेवेत्याशयेन परिहरति—तथापीति । तथा च येन क्रमेण ब्राह्मणवाक्यान्यधीतानि तेनैव क्रमेणार्थस्मरणं जनयन्तीति युक्तं तेषां तेनैव क्रमेणानुष्ठानमिति भावः । वस्तुतस्तु प्रयाज-क्रमो न ब्राह्मणपाठक्रमात्स्वीक्रियते 'समिधोऽग्न आज्यस्य व्यन्त्वि'त्यादिभिः क्रमप्रकरण-प्राप्तैर्मन्त्रैर्देवता गुणत्वेन समर्प्यन्त इति नवमन्त्ररत्नविरोधप्रसङ्गात् । अन्यथा मन्त्राणाम-न्यादृशक्रमत्वे तदनुपपत्त्यापत्तेः, किं तु मन्त्रपाठक्रमात्क्रम एव, ब्राह्मणपाठक्रमात्क्रमस्तु यत्रार्थस्मारका मन्त्रा न सन्त्येव तेषामेव, यथा तूष्णीं विहितानां कर्मणां क्रमो ब्राह्मण-पाठक्रमाद्भवति तत्र तेषामेव प्रयोगसमवेतार्थस्मारकत्वात् । प्रयाजोदाहरणं तु कृत्वा चिन्तया, तत्र ब्राह्मणवाक्यानां प्रयोगसमवेतार्थस्मारकत्वाभावात् । तथा चार्थवादपादे वार्तिकवचनम् 'प्रयाजादिवाक्यान्यर्थं समर्प्य चरितार्थानि स्वरूपसंस्पर्शे सत्यपि प्रयोज्यतां न प्रतिपद्यन्त' इति, तस्मान्मन्त्रक्रमादेव प्रयाजक्रम इति सिद्धमिति ध्येयम् ।

यहाँ का अधिकांश विषय स्पष्ट है। मन्त्रपाठ का अर्थ है क्रमशः पढ़े गये संहिता मन्त्र और ब्राह्मणपाठ का अर्थ है क्रमशः ब्राह्मणग्रन्थों में उल्लिखित वाक्य। मन्त्रपाठ ब्राह्मणपाठ की अपेक्षा बलवान् कहा जाता है। इसी से मन्त्र और ब्राह्मण दोनों स्थानों पर उल्लिखित यागों में व्यतिक्रम होने पर मन्त्रपाठ के अनुसार ही क्रम निर्धारित किया जाता है। यह पहले प्रसङ्गों में स्पष्ट किया जा चुका है कि याज्या और आनुवाक्या ऋग्वेद के मन्त्रविशेष हैं। जिस क्रम से यागों का मन्त्र में उल्लेख होता है उसी क्रम में याज्या और अनुवाक्या भी होते हैं। ऋग्वेद में होतृकाण्ड में आज्यभाग मन्त्रानुवाक के परवर्ती अनुवाक में पहले 'अग्निर्मूर्धा' इत्यादि मन्त्र से आग्नेय याज्यानु-वाक्या कहे गये हैं, उसके बाद 'प्रजापते न त्वदेतानि' इत्यादि में प्राजापत्य याज्यानुवाक्या हैं। उसके भी बाद में 'अग्नीषोमास वेदसे' इत्यादि याज्यानुवाक्या हैं। इसी प्रकार आध्वर्यव तथा याजमानकाण्डों में भी पहले आग्नेय और बाद में अग्नीषोमीय याज्यानुवाक्याओं का उल्लेख है। संहिता में यही क्रम होने के कारण तैत्तिरीय ब्राह्मण के पञ्चमप्रपाठक के द्वितीय अनुवाक में अग्नी-षोमीययाग का उल्लेख "ताभ्यां अग्नीषोमीयम् एकादशकपालं पौर्णमासे प्रायच्छत्" आदि शब्दों में किया गया है और आग्नेययाग का उसी ब्राह्मण के षष्ठप्रपाठक के तृतीय अनुवाक में "यथाग्नेयाष्टाक-पालो अमावास्यायां पौर्णमास्याञ्चाच्युतो भवति" आदि शब्दों में, फिर भी मन्त्रपाठ के क्रम के कारण आग्नेय को पहले और अग्नीषोमीय को बाद में अनुष्ठित किया जाता है।

मन्त्रपाठ इसलिये अन्तरङ्ग है क्योंकि कर्म का अनुष्ठान करते समय भी उसका उच्चारण होता है और ब्राह्मणपाठ की बहिरङ्गता इसलिये है क्योंकि उनका कार्य अनुष्ठान से पहले ही समाप्त हो जाता है। ऐसा संभव नहीं है कि मन्त्रों के विना भी काम चले क्योंकि यह नियम है कि मन्त्रों से ही देवता का स्मरण करना चाहिये—"मन्त्रैरेव स्मर्तव्यम्"। स्मरण और अनुष्ठान में एक विशिष्ट सम्बन्ध है जो इस प्रकार है—

लभ्यतेऽर्थस्मृतिर्दृष्टा मन्त्रोच्चारणतस्त्विह ।
अर्थस्मृतिः प्रयोगार्था प्रयोगाच्च फलोदयः ॥

प्रयाजों में विहित अनुष्ठानों का क्रम ब्राह्मणपाठ पर ही आश्रित होता है क्योंकि उनका विधान ब्राह्मणों में ही पाया जाता है ।

स्थानलक्षणम्

(४१) स्थानं नामोपस्थितिः । यस्य हि देशे योऽनुष्ठीयते तत्पूर्वतने पदार्थे कृते स एव प्रथममुपस्थितो भवतीति युक्तं तस्य प्रथममनुष्ठानम् । अत एव साद्यस्के अग्नीषोमीय–सवनीया–नुबन्ध्यानां सवनीयदेशे सहानुष्ठाने कर्तव्ये आदौ सवनीयपशोरनुष्ठानमितरयोः पश्चात् । तस्मिन्देशे आश्विनग्रहणानन्तरं सवनीयस्यैव प्रथममुपस्थितिः ।

तथा हि ज्योतिष्टोमे त्रयः पशुयागाः–अग्नीषोमोयः सवनीय आनुबन्ध्यश्चेति । ते च भिन्नदेशाः–अग्नीषोमीय औपवसथ्येऽह्नि, सवनीयः सुत्याकाले, आनुबन्ध्यस्त्वन्ते । साद्यस्क्रो नाम (सोम) यागविशेषः । स चाव्यक्तत्वाज्ज्योतिष्टोमविकारः । अतस्ते त्रयोऽपि पशुयागाः साद्यस्के चोदकप्राप्ताः । तेषां च तत्र (हि) साहित्यं श्रुतं 'सह पशूनालभेत' इति । तच्च साहित्यं सवनीयदेशे, तस्य प्रधानप्रत्यासत्तेः, स्थानातिक्रमसाम्याच्च ।

सवनीयदेशे ह्यनुष्ठानेऽग्नीषोमीयानुबन्ध्ययोः स्वस्वस्थानातिक्रमो भवति[1] । अग्नीषोमीयदेशेऽनुबन्ध्यदेशे वा अनुष्ठाने त्रयाणामपि स्वस्वस्थानातिक्रमः । तथा च—

प्रकृतौ–"आश्विनग्रहं कृत्वा त्रिवृता यूपं परिवीय आग्नेयं सवनीयपशुमुपाकरोती"त्याश्विनग्रहणानन्तरं सवनीयो विहित इति साद्यस्केऽप्याश्विनग्रहणे कृते सवनीय एवोपस्थितो भवति । अतो युक्तं तस्य स्थानात्प्रथममनुष्ठानमितरयोस्तु पश्चादित्युक्तम् ।

स्थान का अर्थ है उपस्थित होना ।[2] जिसके स्थान पर जिसका सम्पादन किया जाता है उससे पूर्ववर्ती कर्म को सम्पन्न करने पर वही पहले उपस्थित होता है इसलिये उसी का पहले सम्पादन उचित है । इसी से साद्यस्क्र याग में अग्नीषोमीय, सवनीय और आनुबन्ध्य का सवनीय के अवसर पर एक साथ अनुष्ठान करणीय होने पर सर्वप्रथम सवनीयपशु का अनुष्ठान होगा, अन्य दोनों का बाद में । (क्योंकि) उस स्थान पर आश्विनग्रहण के पश्चात् सवनीय की ही प्रथम प्राप्ति होती है ।

जैसे कि 'ज्योतिष्टोम' में तीन पशुयाग किये जाते हैं—१–अग्नीषोमीय २–सवनीय और

---

१. अग्नीषोमीयदेशे त्वनुष्ठाने सवनीयस्य स्वस्थानातिक्रममात्रम्, अनुबन्ध्यस्य तु स्वस्थानातिक्रमः सवनीयस्थानातिक्रमश्च स्यात् । एवमनुबन्ध्यदेशेऽग्नीषोमीयस्य द्रष्टव्यः स्थानातिक्रमः । तथा च सवनीयदेशे सर्वेषामनुष्ठाने कर्त्तव्ये सवनीयस्य प्रथममनुष्ठानम् । आश्विनग्रहणानन्तरं हि सवनीयदेशः । पाठा० ।

२. उपस्थितिः कर्त्तव्यताज्ञानम्–प्रतिपादिका पृ० ८९.

३–आनुबन्ध्य। और ये तीनों पृथक्-पृथक् अवसरों पर किये जाते हैं—अग्नीषोमीय औपवसथ्य दिन, सवनीय सुत्याकाल और अनुबन्ध्य तो अन्तिम दिन (अवभृथ दिन)। साद्यस्क्र एक विशेष याग है, जो (देवता, द्रव्य आदि के) अव्यक्त–अनिर्दिष्ट–होने के कारण ज्योतिष्टोम का विकार है। इसलिये वे तीनों ही पशुयाग साद्यस्क्र याग में अतिदेश से प्राप्त होते हैं। 'पशुओं का एक साथ आलम्भन करे'—'सह पशूनालभेत'—इस मन्त्र से उन पशुओं का एक साथ सम्पादन–साहित्य–निर्दिष्ट है। वह साहित्य सवनीय देश में ही (अनुष्ठान से) संभव होता है, क्योंकि (ऐसा करने पर ही) वह साहित्य प्रधान कर्म के अतीव समीप हो पाता है और स्थान के अतिक्रमण में भी समानता होती है। सवनीयदेश में अनुष्ठान करने पर अग्नीषोमीय और अनुबन्ध्य दोनों का अपने-अपने ही स्थानों का अतिक्रमण–उल्लंघन–होता है, किन्तु अग्नीषोमीय के स्थान पर अथवा अनुबन्ध्य देश पर अनुष्ठान करने से तीनों का भी अपने-अपने स्थान का अतिक्रमण होता है। जैसे कि—प्रकृति-याग में—'आश्विनग्रहं गृहीत्वा०'—आश्विन का ग्रहण करके तीन आवरणों से यूप को आवृत करके अग्निदेवताक सवनीयपशु को उपस्थित करे' इस (मन्त्र के) अनुसार आश्विनग्रहण के पश्चात् सवनीय का ही विधान है। अतः साद्यस्क्र में भी आश्विनग्रहण के पश्चात् सवनीय ही विहित है, इसलिये साद्यस्क्र में भी आश्विनग्रहण करने पर सवनीय ही उपस्थित होता है। इससे स्थानप्रमाण के आधार पर इसका (सवनीय का) ही पहले सम्पादन उचित है, अन्य दोनों का बाद में, ऐसा मीमांसासूत्र (५।१।१३) में स्पष्ट किया गया है।

इदानीं स्थानं लक्षयति—स्थानं नामोपस्थितिरिति। **प्रकृतौ नानादेशानां पदार्थानां विकृतौ चोदकवचनादेकस्मिन्देशेऽनुष्ठाने कर्तव्ये यस्य देशे तेऽनुष्ठीयन्ते तस्य प्रथममनुष्ठान-मितरयोस्तु पश्चादयं यः क्रमः स स्थानक्रमः। तेन चोपस्थितिविशेषेण योऽनुष्ठानक्रमः स एव स्थानक्रम इत्युच्यत इति भावः। उपस्थितिं व्यनक्ति**—यस्येत्यादिना। यस्येति। **ज्योतिष्टोमादिप्रकृतेः साद्यस्क्रादिविकृतौ चोदकप्राप्तस्य सवनीयादेरित्यर्थः।** य इति। **आग्नीषोमीयानुबन्ध्यादिरित्यर्थः।** तत्पूर्वतन इति। **तस्मात्सवनीयादेः पूर्वतन आश्विन-ग्रहणादौ पदार्थे कृते सतीत्यर्थः।** स एवेति। **सवनीयादिरेवेत्यर्थः।** प्रथममिति। **अग्नीषो-मीयानुबन्ध्यापेक्षया प्रथममित्यर्थः।** तस्येति। **सवनीयादेरेवेत्यर्थः।** अत एवेति। **प्रथमो-पस्थितप्रथमानुष्ठानस्य युक्तत्वादेवेत्यर्थः।** इतरयोरिति। **अग्नीषोमीयानुबन्ध्ययोरित्यर्थः।** तस्मिन्देश इति। **त्रयाणामपि पशूनां विकृतौ प्राप्तसवनीयदेश इत्यर्थः।** आश्विनग्रहणानन्तर-मित्यत्र **सवनीयस्यैव विकृतौ प्रधानप्रत्यासत्तिबलाच्चोदकप्राप्तत्वेनोपस्थितियोग्यत्वादिति शेषः।** प्रथममिति। **अग्नीषोमीयानुबन्ध्यापेक्षया प्रथममित्यर्थः।**

विकृतावाश्विनग्रहणानन्तरमेव सवनीयस्थानप्रदर्शनाय प्रथमं प्रकृतौ तत्स्थानं प्रदर्श-यति—तथा हीत्यादिना। **औपवसथ्येऽह्नीत्युक्तार्थ एव।** अन्त इति। **अवभृथादूर्ध्वकाल इत्यर्थः।** अव्यक्तत्वादिति। **स्वार्थचोदितदेवतारहितत्वादित्यर्थः। तदुक्तं न्यायप्रकाशे 'अव्यक्तत्वं च स्वार्थचोदितदेवताराहित्य'मिति।** अत इति। **ज्योतिष्टोमविकारत्वादित्यर्थः।** तत्रेति। **साद्यस्क्र इत्यर्थः।** तच्चेति। **श्रुतं चेत्यर्थः।** तस्येति। **सवनीयस्येत्यर्थः।** प्रधा-नेति। **यथा प्रकृतिभूते ज्योतिष्टोमे सुत्याकालिकः सवनीयः प्रधानप्रत्यासन्नस्तथैव तद्वि-कृतिविशेषे साद्यस्क्रेऽपि तात्कालिकः स प्रधानप्रत्यासन्न एवेति भावः। सवनीयदेशे साहित्ये त्रयाणां स्वस्वस्थानातिक्रमसाम्यं हेत्वन्तरमाह**—स्थानेति।

तदेव स्वस्वस्थानातिक्रमसाम्यं प्रदर्शयति—सवनीयदेश इत्यारभ्य तथा चेति प्राक्तनेन ग्रन्थेन। स्वस्वस्थानातिक्रमो भवतीति। यथा प्रकृतौ तथैव विकृतावपि चोदकप्राप्तस्याग्नीषोमीयस्यौपवसथ्याहोरूपस्य स्वस्थानमात्रस्यातिक्रमो भवत्यानुबन्ध्यस्य च स्वान्तस्थानमात्रस्यातिक्रमो भवतीत्यर्थः। सवनीयस्य तु सुत्याकालरूपस्वस्थानस्य नातिक्रमो भवतीत्यत्र लाघवमिति भावः। इति त्रयाणां स्वस्वस्थानातिक्रम इति। अग्नीषोमीयस्य देश औपवसथ्येऽह्नि सर्वेषामनुष्ठानेऽग्नीषोमीयस्य सवनीयप्रधानसोमप्रत्यासत्तिबलात्साहित्यविधिप्राप्तसुत्याकालरूपसवनीयस्थानरूपस्वस्थानातिक्रमो भवति। आनुबन्ध्यस्य तु तादृशसवनीयस्थानरूपस्वस्थानातिक्रमः स्वीयान्तस्थानातिक्रमो भवतीति त्रयाणां स्वस्वस्थानातिक्रमः। आनुबन्ध्यस्य देशे तु तेषामनुष्ठानेऽग्नीषोमीयस्यौपवसथ्याहोरूपस्य स्वस्थानस्यातिक्रमस्तादृशसवनीयस्थानरूपस्वस्थानस्यातिक्रमश्च भवति, आनुबन्ध्यस्य तु निरुक्तसवनीयस्थानरूपस्वस्थानस्यातिक्रमः, सवनीयस्य तु स्वस्थानमात्रस्यातिक्रमश्च भवतीति त्रयाणां स्वस्वस्थानस्यातिक्रम इत्यर्थ। तथा चेति। उपयुक्त्या सवनीयदेशे त्रयाणामनुष्ठाने कर्तव्ये चेत्यर्थः।

वैकृतसवनीयस्थाननिर्णयोपायतया प्राकृतं सवनीयस्थानं श्रुत्या प्रदर्शयति—प्रकृतावित्यादिना। त्रिवृता त्रिगुणितरज्ज्वा परिवीय परिवेष्टनं कृत्वा आश्विनः सोमग्रहः तद्ग्रहणानन्तरं ज्योतिष्टोमे सवनीयो विहित इति भावः। इति। यतः प्रकृतावाश्विनग्रहणानन्तरं स विहितोऽतो हेतोरित्यर्थः। आश्विनग्रहणेति। अत्राप्याश्विनग्रहणानन्तरमेव तस्य चोदकप्राप्तत्वेन तदनन्तरमेव तदुपस्थितिरिति भावः। तस्येति। सवनीयस्येत्यर्थः। स्थानादिति उपस्थितेरित्यर्थः। इतरयोरिति। अग्नीषोमीयानुबन्ध्ययोरित्यर्थः। ननु तयोः पश्चादनुष्ठानेऽपि कस्य प्रथममनुष्ठाने कस्य पश्चादित्यनिर्णये प्रयोगविक्षेपापत्तिरित्यत आह—उक्तमिति। पञ्चमाध्यायस्य प्रथमे पाद इति शेषः। तत्र हि स्थानात्सवनीयस्य प्राथम्ये निश्चिते स्थानभ्रष्टयोस्तयोरग्नीषोमीयस्य प्रथममनुष्ठानमानुबन्ध्यस्य पश्चादित्युक्तमित्यर्थः। उक्तं हि न्यायमालाविस्तरे—साद्यस्क्रनामकः कश्चित्सोमयागः तत्र श्रूयते सहपशूनालभेत इति। प्रकृतावग्नीषोमीयपशुरौपवसथ्ये दिने आलभ्यते, सवनीयपशुः सुत्यादिने प्रातःसवन आश्विनग्रहादूर्ध्वमालभ्यते, आनुबन्ध्यः पशुरवभृथादूर्ध्वमालभ्यते इह तु त्रयोऽपि पशवः सहालब्धव्याः, सोऽयं सहालम्भः सुत्यादिन आश्विनग्रहादूर्ध्वं सवनीयस्थाने भवतीत्येतदवश्यमभ्युपेतव्यं, तथा सति प्रधानसोमप्रत्यासत्तिलाभादिति। सवनीयो हि स्वस्थान एव वर्तते, आश्विनग्रहसमीपस्य सवनीयस्थानत्वात्। आश्विने गृहीते सति सवनीय एव बुद्धिस्थो भवति, प्रकृतौ तदानन्तर्यस्य क्लृप्तत्वात्। ततः सवनीयस्य प्राथम्ये स्थानान्निश्चिते सति स्थानभ्रष्टयोरग्नीषोमीयानुबन्ध्ययोः प्रकृताविव पूर्वोत्तरभावो द्रष्टव्य इति। यद्वा। उक्तमिति। आदौ सवनीयपशोरनुष्ठानमितरयोः पश्चादित्यत्र पूर्वत्रोक्तमित्यर्थः।

मूल में प्रथम दो वाक्य अस्पष्ट-से हैं। सर्वप्रथम तो 'स्थान' के लक्षण के स्थान पर उसका पर्यायवाचक शब्द रखा गया है—'उपस्थितिः'। यह स्वयं में बहुत स्पष्ट नहीं है। उपस्थिति का अर्थ है 'विद्यमान होना'। वर्तमान सन्दर्भ में इसका अर्थ हुआ कर्त्तव्यकर्म के रूप में प्राप्त अथवा ज्ञात होना।' 'यस्य हि देशे०' आदि वाक्य अनिश्चयवाचक 'यः' 'यस्य' आदि के प्रयोग के कारण अस्पष्ट है और किसी कथन का पोषक लगता है जब कि वास्तविक कथन का यहाँ उल्लेख ही

नहीं है। भास्कर ने 'मीमांसान्यायप्रकाश' से इन शब्दों का संक्षेप में ग्रहण किया है, किन्तु संक्षेपीकरण में जितना अंश छोड़ दिया है उसकी छूट से ही समझने में कठिनाई हो रही है। आपदेव के शब्द 'मीमांसान्यायप्रकाश' में इस प्रकार हैं—'प्रकृतौ नानादेशस्थानां पदार्थानां विकृतौ वचनाद् एकस्मिन् देशेऽनुष्ठाने कर्त्तव्ये यस्य देशेऽनुष्ठीयन्ते तस्य प्रथममनुष्ठानम् इतरयोश्च पश्चात्-अयं यः क्रमः स स्थानक्रमः। स्थानं नामोपस्थितिः। यस्य हि देशे···प्रथममनुष्ठानम्।[1]

मीमांसान्यायप्रकाश की उक्त पंक्तियों से स्पष्ट होता है कि 'स्थानप्रमाण' से क्रम का निर्धारण विकृतियागों में होता है, प्रकृतियागों में उसकी आवश्यकता नहीं पड़ती। विकृतियागों में भी सदा इसकी आवश्यकता नहीं पड़ती। उसकी अपेक्षा तभी होती है जब प्रकृतियाग में कई दिनों में अनुष्ठान की अपेक्षा वाले कर्मों को विकृति में एक ही दिन में सम्पन्न करना पड़ता है। ऐसी दशा में यह निर्धारण अनिवार्य हो जाता है कि अनेक दिनों में सम्पाद्य कर्मों को एक ही दिन में सम्पन्न करते समय किसको पहले किया जाये और किसको बाद में। 'स्थान-प्रमाण' से ही यह निश्चित होता है कि जिसके स्थान पर (उसके सदृश) जो कर्म अनुष्ठित होता है उसी को उस स्थान पर प्रथमतः सम्पन्न किया जाता है। उदाहरण के लिये साद्यस्क्र-याग को लिया गया है। साद्यस्क्र एक विकृति सोमयाग है जिसकी प्रकृति ज्योतिष्टोमयाग है। ज्योतिष्टोम में अग्नीषोमीयपशु का आलम्भन प्रथम औपवसथ्यदिन, सवनीय का द्वितीय सुत्याकाल नामक दिन में और अनुबन्ध्य का तृतीय अथवा अन्तिम अवभृथ के दिन। साद्यस्क्र नामक सोमयाग ज्योतिष्टोम का विकृतियाग है, यह स्पष्ट किया गया है। ज्योतिष्टोम की विकृति इसे इसलिये माना जाता है क्योंकि यह सोम-याग है और सोमयाग ज्योतिष्टोम से सम्बद्ध है। दूसरी बात यह है कि साद्यस्क्र अव्यक्तयाग है—अर्थात् इसके स्वरूप का पृथक् से प्रकटन करने वाले तत्त्व द्रव्य, देवता आदि का कथन नहीं है। अतः जहाँ 'प्रकृतिवद् विकृतिः कर्त्तव्या' इस अतिदेशवाक्य से प्रकृति की अन्य क्रियायें प्राप्त थीं, वहीं द्रव्यदेवता आदि के लिये भी यह उसी पर आश्रित हो गया। 'साद्यस्क्र' एक दिन में सम्पन्न होने वाला याग है जिसमें प्रकृति के अग्निषोमीय, सवनीय तथा अनुबन्ध्य पशुओं का आलम्भन भी होना है। अब समस्या यह है कि तीनों दिनों में से किस दिन तीनों पशुओं का आलम्भन किया जाये। इसके लिये 'सुत्याकाल' अथवा 'सवनीयदेश' ही निश्चित किया जाता है। औपवसथ्य अथवा अवभृथ दिनों में इसका सम्पादन नहीं हो सकता। सवनीयदेश में कर्म सम्पादन के दो कारण हैं—(१) प्रधानप्रत्यासत्ति और (२) स्थानातिक्रमसाम्य। मुख्यक्रिया से निकट होना प्रधानप्रत्यासत्ति है। सोमयाग साद्यस्क्र[2] में सोम का निचोड़ना मुख्य क्रिया है। यह स्पष्ट ही हो चुका है कि ज्योतिष्टोम में सोम को द्वितीय दिन सुत्याकाल में निचोड़ा जाता है और सवनीय-पशु का आलम्भन होता है। इसलिये सवनीयदिन प्रधानकर्म सोमसवन से अधिक निकट है। साद्यस्क्र में भी सुत्याकाल में ही सोमसवन और पशुत्रयालम्भन होगा, अतः प्रधान सोमयाग के साथ ही किये जाने से दोनों से निकटता होगी। कृष्णनाथ भट्टाचार्य के अनुसार 'प्रधान-प्रत्यासत्ति' का अर्थ प्रधानयाग से सन्निधि और प्रधानद्रव्यसोम से सान्निध्य दोनों हो सकता है।[3]

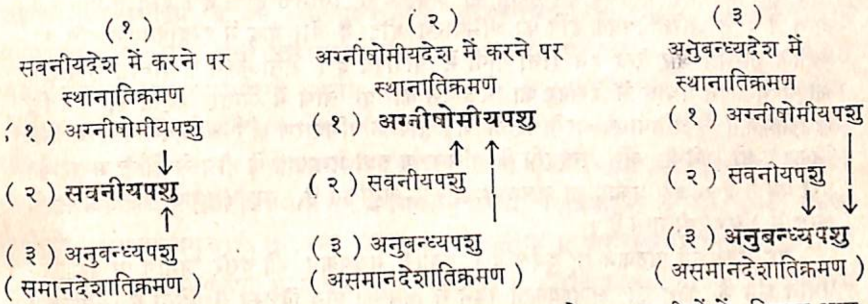
---

१. मीमांसान्यायप्रकाश पृ० २२९.

२. साद्यस्क्रयाग सद्यः+क्री से निष्पन्न है जिसका अर्थ है "साद्यस्क्रो नाम सद्यः सोमक्रय-विशिष्टः सोमयागविशेषः।' इसके अतिरिक्त इसमें उसी एक दिन सारी क्रियायें बड़ी जल्दी-जल्दी में होती हैं। 'सद्यो दीक्षयन्ति' 'सद्यः सोमं क्रीणन्ति' इत्यादि श्रुत्युक्तप्रकारेण सर्वमङ्गजातं यत्र सद्य एवानुष्ठीयते स एकदिनानुष्ठेयो यागविशेषः साद्यस्क्रशब्दवाच्यः।' Karmarkar : The Arthasamgraha p. 188. द्रष्टव्य जै० न्या० मा० वि० पृ० २६८।

३. प्रधानप्रत्यासत्तेः प्रधानस्य यागस्य सान्निध्यात्। प्रधानद्रव्यसोमसान्निध्याच्च। प्रतिपादिका पृ० ९०.

सवनीयदेश में पशुत्रयालम्भन करने से दूसरा लाभ होगा 'स्थानातिक्रमसाम्य' का। अर्थात् सवनीयदेश मध्य का दिन है, इसलिये उस दिन अनुष्ठान करने पर अग्नीषोमीय, सवनीय और अनुबन्ध्य के मध्य में विहित सवनीयपशु का आलम्भन अपने ही स्थान पर हो जायेगा, उसे अपनी जगह छोड़कर अन्यत्र खिसकने की जरूरत नहीं पड़ेगी। अग्नीषोमीय को अपनी जगह छोड़कर केवल थोड़ा सा आगे बढ़ना पड़ेगा और अनुबन्ध्य को भी अपना स्थान छोड़कर उतना ही पहले खिसकना पड़ेगा। इस प्रकार प्रथम तथा तृतीय को ही केवल अपना-अपना स्थान छोड़ना पड़ेगा और दोनों को मध्यवर्ती द्वितीय के पास पहुँचने में बराबर ही दूरी तय करनी पड़ेगी। यदि सवनीय-देश में इनका आलम्भन न करके अग्नीषोमीयदेश में किया गया तो अग्नीषोमीय तो अपने स्थान से नहीं खिसकेगा किन्तु मध्यवर्ती सवनीय को अपने स्थान से ऊपर अतिक्रमण करना पड़ेगा और अनुबन्ध्य को अपने स्थान का तो करना ही पड़ेगा, अग्नीषोमीय तक पहुँचने के लिये मध्यवर्ती सवनीय का भी अतिक्रमण करना पड़ेगा। इस प्रकार अनुबन्ध्य को सवनीय की अपेक्षा दुगनी दूरी तय करनी पड़ेगी। जब समान दूरी तय करने से काम सिद्ध हो जाता हैं, तब असमानता आना अनुचित है। यही दशा अवभृथस्थान पर पश्वालम्भन करने पर होगी, अर्थात् अनुबन्ध्य को कोई अतिक्रमण नहीं करना पड़ेगा, सवनीय को अपना स्थान लांघना पड़ेगा और अग्नीषोमीय को अपना स्थान तो छोड़ना ही पड़ेगा, सवनीय का भी उल्लंघन करना पड़ेगा। इन तीनों स्थानों के आलम्भनों को रेखाचित्र से इस प्रकार स्पष्ट किया जा सकता है—



यह निश्चित हो जाने पर कि किस देश में पशुत्रयालम्भन होगा, अब तीनों में किसका आल-म्भन पहले हो और किनका बाद-बाद में यह प्रश्न रह जाता है। इसके लिये ही 'तथा च सवनीय-देशे०' आदि कहा गया है जिसका अभिप्राय यह है कि प्रकृतियाग में 'आश्विनग्रहं०' आदि मन्त्र के द्वारा आश्विनग्रहण के पश्चात् सवनीयपशु के उपाकरण की बात कही गयी है, अतः साद्यस्क में भी आश्विनग्रहण के बाद सवनीयपशु की ही प्राप्ति होती है। यही क्रमप्राप्ति उपस्थिति है जिसके निर्धारण के लिये 'स्थानप्रमाण' की आवश्यकता है। अतः सवनीयपशु का आलम्भन प्रथमतः होने के बाद क्रम से बचे अग्नीषोमीय और अनुबन्ध्य का आलम्भन इसी क्रम में होगा। इस विषय का स्पष्टीकरण मीमांसासूत्र में (५।१।१३) जैमिनि ने तथा शबर ने अपने भाष्य आदि में किया है।

मुख्यक्रमः

(४२) प्रधानक्रमेण योऽङ्गानां क्रमः स मुख्यक्रमः। येन हि क्रमेण प्रधानानि क्रियन्ते तेनैव क्रमेण तेषामङ्गान्यनुष्ठीयन्ते चेत् तदा सर्वेषामङ्गानां स्वैः स्वैः प्रधानैस्तुल्यं व्यवधानं भवति। व्युत्क्रमेणानुष्ठाने केषांचिदङ्गानां स्वैः प्रधानैरत्यन्तमव्यवधानं केषांचिदत्यन्तं व्यवधानं स्यात्, तच्चायुक्तं, प्रयोगविध्यवगत-साहित्यबाधापत्तेः। अतः प्रधानक्रमोऽप्यङ्गक्रमे हेतुः। अत एव प्रयाजशेषेणा-

दावाग्नेयहविषोऽभिघारणं पश्चादैन्द्रस्य दध्नः, आग्नेयैन्द्रयागयोः पौर्वापर्यात्। एवं च द्वयोरभिघारणयोः स्वस्वप्रधानेन तुल्यमेकान्तरितं व्यवधानं, व्युत्क्रमेणाधारे त्वाग्नेयहविरभिघारणाग्नेययागयोरत्यन्तमव्यवधानम्, ऐन्द्रदध्यभिघारणैन्द्रयागयोर्द्व्यन्तरितं व्यवधानं तच्चायुक्तमित्युक्तमेव।

स च मुख्यक्रमः पाठक्रमाद् दुर्बलः। मुख्यक्रमो हि प्रमाणान्तरसापेक्षप्रधानक्रमप्रतिपत्तिसापेक्षतया विलम्बितप्रतिपत्तिकः। पाठक्रमस्तु निरपेक्षस्वाध्यायपाठक्रममात्रसापेक्षतया न तथेति बलवान्। स चायं मुख्यक्रमः प्रवृत्तिक्रमाद् बलवान्। प्रवृत्तिक्रमे हि बहूनामङ्गानां प्रधानविप्रकर्षात्, मुख्यक्रमे तु संनिकर्षात्।

प्रधानयाग के क्रम से जो अङ्गों का क्रम होता है वह मुख्य क्रम है। जिस क्रम से प्रधान कर्म किये जाते हैं उसी क्रम से यदि उनके अङ्गों का अनुष्ठान किया जाये तो सभी अङ्गों की अपने-अपने प्रधानों से समान दूरी होगी। विपरीत क्रम से अनुष्ठान करने पर कुछ अङ्गों का अपने प्रधानों से बहुत अधिक सामीप्य हो जायेगा और कुछ का बहुत अधिक व्यवधान। यह उचित नहीं है क्योंकि प्रयोगविधि से जिस सामीप्य का ज्ञान होना चाहिये उसी का बाध होने लगेगा। इसलिये प्रधानक्रम भी अङ्गक्रम में निमित्त होता है। इसी से प्रयाज के अन्त में पहले अग्निविषयक हवि का अभिघारण होता हैं और बाद में इन्द्रविषयक दधि का, क्योंकि आग्नेय और ऐन्द्र इन दोनों यागों में पौर्वापर्य है। ऐसा करने से दोनों अभिघारणों का अपने-अपने प्रधान से बराबर का एक-एक का ही बीच में अन्तर पड़ता है, जब कि विपरीत क्रम से अभिघारण करने पर आग्नेय हवि के अभिघारण और आग्नेययाग में अत्यन्त निकटता हो जायेगी, और ऐन्द्रदधि के अभिघारण तथा ऐन्द्रयाग के बीच से दो के अन्तर की दूरी पड़ती है। इस प्रकार का असमान अन्तर अनुचित है, यह (स्थानक्रम के प्रसङ्ग में अन्त में) कहा ही गया है।

यह मुख्यक्रम पाठक्रम से दुर्बल है। क्योंकि मुख्यक्रम को दूसरे प्रमाण पर आश्रित प्रधान क्रम के ज्ञान की आवश्यकता पड़ने से क्रम का ज्ञान विलम्ब से होता है। पाठक्रम तो प्रमाणान्तर की अपेक्षा न रखने वाले स्वाध्याय पाठक्रम पर आश्रित रहने के कारण वैसा (अर्थात् विलम्ब से ज्ञापक) नहीं होता है, अतः (मुख्यक्रम से) प्रबल होता है। यह मुख्यक्रम प्रवृत्तिक्रम से प्रबल है क्योंकि प्रवृत्तिक्रम में बहुत से अङ्ग प्रधान से दूर पड़ते हैं, जब कि मुख्यक्रम में निकट।

अथ मुख्यक्रमं लक्षयति—प्रधानक्रमेणेति। तेनैव क्रमेणेत्यत्र यदेति शेषस्तदेत्यनुरोधात्। यत्र ह्यनेकेषां साङ्गानां प्रधानानां सहकर्तव्यता तत्र प्रयोगविधिनाङ्गप्रधानयोः साहित्यावगतावपि प्रधानान्तरसाहित्यानुरोधेन यावदनुज्ञातव्यवधानस्वीकारेऽपि तदधिकव्यवधाने प्रमाणाभावात् प्रधानप्रत्यासत्त्यनुग्रहाय मुख्यक्रमेणैवाङ्गक्रमनियमः। अत एव प्रवृत्तौ अङ्गनिरूपितप्रत्यासत्त्यनुग्रहो बीजं, मुख्यक्रमे तु प्रधाननिरूपितप्रत्यासत्त्यनुग्रहो बीजमिति तयोर्भेद इति भावः। प्रधानक्रमव्युत्क्रमेणाङ्गानुष्ठाने बाधकमाह—व्युत्क्रमेणेत्यादिना। तत्रापीष्टापत्तिमाशङ्क्य प्रयोगविध्यवगततत्साहित्यबाधापत्तिरूपमनिष्टं बाधकमाह—तच्चायुक्तमिति। केषांचिदङ्गानां तैरत्यन्तमव्यवधानं केषांचिदत्यन्तव्यवधानं चेति शेषः। अभिघारणमिति। क्षरद्घृतेनाभिषेक इत्यर्थः। एवं चेति। मुख्यक्रमेण हविरभिघारणरूपाङ्गक्रमे चेत्यर्थः। एकान्तरितं व्यवधानमिति। आग्नेयहविरभिघारणाग्नेय-

यागयोरैन्द्रहविरभिघारणेन व्यवधानादैन्द्रहविरभिघारणैन्द्रयागयोश्चाग्नेययागेन व्यवधानादित्येकान्तरितं व्यवधानमित्यर्थः। तथा चादावाग्नेयहविरभिघारणं, तत ऐन्द्रस्य हविषोऽभिघारणं, तत आग्नेययागः, ततश्चैन्द्रयाग इत्येव क्रमो मुख्यक्रमात्सिद्धो भवतीति भावः। यदि त्वादावैन्द्रहविषोऽभिघारणं तत आग्नेयहविषस्तत्क्रियते ततश्च याज्यानुवाक्याक्रमवशादाग्नेययागस्यानुष्ठानं तत ऐन्द्रयागस्यानुष्ठानमिति क्रमः स्वीक्रियते तदा कस्यचिदत्यन्तमव्यवधानं कस्यचिदत्यन्तव्यवधानं च स्यात्, तच्चायुक्तं, प्रयोगविध्यवगततत्साहित्यबाधापत्तेरित्यभिप्रेत्याह—व्युत्क्रमेणेत्यादिना। उक्तमेवेति। 'तच्चायुक्तं प्रयोगे' त्यादौ दूषणमुक्तमेवेत्यर्थः।

इदानीं पाठक्रमान्मुख्यक्रमस्य दौर्बल्यमाह—स चेति। तत्र हेतुमाह—मुख्यक्रमो हीति। यतो मुख्यक्रमः प्रमाणान्तरसापेक्षा या प्रधानक्रमस्य प्रतिपत्तिस्तत्सापेक्षत्वेन विलम्बितप्रतिपत्तिकोऽतः पाठक्रमाद्दुर्बल एवेत्यर्थः। किंच निरपेक्षो यः स्वाध्यायपाठक्रमस्तन्मात्रसापेक्षत्वेन यतो न दुर्बलः पाठक्रमोऽतो बलवानिति पाठक्रमस्य ततो वैषम्यमाह—पाठक्रमस्त्विति। अत्रेदं बोध्यम्—दर्शपूर्णमासयोरुपांशुयाजोऽग्नीषोमीयश्चेत्येतदुभयं पौर्णमास्यामाम्नातम्। अत्रोपांशुयाजस्याज्यं द्रव्यम्, आज्यस्य धर्मा उत्पवनचतुर्गृहीतत्वादयः, अग्नीषोमीयस्य पुराडाशो द्रव्यं, तस्य धर्मा निर्वापावघातादयः, तत्र चायं पूर्वपक्षः—मुख्यौ यागावुपांशुयाजाग्नीषोमीयौ पूर्वोत्तरभाविनौ भवतः, तथा च सति अङ्गक्रमस्य प्रधानक्रमेणैवाश्रयणीयत्वात्प्रथमाज्यधर्माणामेवानुष्ठानं न निर्वापादीनामिति। तत्र सिद्धान्तः—औषधधर्मा निर्वापादयः पूर्वमाम्नाताः। आज्यधर्मास्तु पश्चात्। तत्र मुख्यक्रमप्रयुक्तमाज्यधर्माणां प्राथम्यं बाधित्वा पाठक्रमानुरोधेनौषधधर्मा एव प्रथमतोऽनुष्ठेयाः, पाठक्रमो हि वैदिकैः शब्दैः सहसा प्रतीयते, मुख्यक्रमानुसारी तु क्रम उपपत्त्या कल्पनीयः। तस्मादग्नीषोमीयपुरोडाशार्था औषधधर्माः प्रथममनुष्ठेया आज्यधर्मास्तु पश्चादिति। प्रवृत्तिक्रमापेक्षया तु मुख्यक्रमस्य प्राबल्यमेवेत्याह—प्रवृत्तीति। तत्र हेतुमाह—प्रवृत्तिक्रमे हीति। अत्रेदं बोध्यम्—दर्शपूर्णमासयोरादावाग्नेययागस्यानुष्ठानं, ततः सांनाय्ययागस्य, सांनाय्यधर्माश्च केचिद्वत्सापाकरणदोहनादयः पूर्वमेवानुष्ठीयन्ते, तत्र यदि प्रवृत्तिक्रममाश्रित्य सांनाय्यधर्मा अवदानाभिघारणहविरासादनादयोऽपि सर्वे पूर्वमेवानुष्ठीयेरन् तत आग्नेयधर्मा अवदानादयस्तदनुष्ठानं च, ततः सांनाय्ययागानुष्ठानं तदा सांनाय्यधर्माणां सर्वेषां स्वप्रधानेन सह द्वाभ्यामाग्नेयधर्मतदनुष्ठानाभ्यां विप्रकर्षः स्यात्। यदा तु सांनाय्यधर्माणां केषांचिद्वत्सापाकरणादीनां पूर्वमनुष्ठानेऽप्यन्ये सर्वेऽवदानादयस्तद्धर्मा मुख्यक्रममाश्रित्याग्नेयधर्मानुष्ठानानन्तरमनुष्ठीयन्ते तदा सर्वेषामाग्नेयधर्मसांनाय्यधर्माणामेकैकेन विजातीयेन व्यवधानं भवति। आग्नेयधर्माणां स्वप्रधानेन सह सांनाय्यधर्मैर्व्यवधानात् सांनाय्यधर्माणां च स्वप्रधानेन सहाग्नेयानुष्ठानेन व्यवधानादिति न विप्रकर्षः। तस्मान्मुख्यक्रमः प्रवृत्तिक्रमाद्बलवानिति।

ग्रन्थ के मूल अंश में प्रयुक्त 'प्रधानक्रम' का अर्थ है 'मुख्य यागों में होने वाला क्रम' तथा 'अङ्ग क्रम' का अर्थ है 'अङ्गक्रियाओं का पौर्वापर्य'। अभिघारण का अर्थ है 'पिघले हुए घृत से अभिषेक'। जहाँ बहुत से साङ्ग प्रधान कर्मों का एक साथ अनुष्ठान अपेक्षित है वहाँ प्रयोगविधि से अङ्ग और प्रधान का साहित्य-एकसाथ होना-ज्ञात होने पर भी दूसरे प्रधान के साहित्य के कारण अपेक्षित व्यवधान को स्वीकार करने पर भी उससे अधिक व्यवधान में प्रमाण का अभाव होने से

प्रधानों में नैकट्य लाने के लिये मुख्यक्रम से ही अङ्गक्रम निश्चित होता हैं। जब एक स्थान पर प्रधान कर्मों का निर्देश हो जाता है और दूसरे जगह पर अङ्गकर्मों का, उस समय अनुष्ठान में शीघ्रता लाने के लिये अङ्गों को भी उसी क्रम से रखा जाता है जिसमें मुख्ययाग थे। जैसे तैत्तिरीय ब्राह्मण में पहले आग्नेय याग के याज्यानुवाक्यामन्त्रों का पाठ है और बाद में ऐन्द्र के। अतः पाठक्रम से यह निश्चित हो जाता है कि पहले आग्नेय का अनुष्ठान होगा फिर ऐन्द्र का। यह दोनों ही दर्श के प्रधानयाग हैं। उसी प्रकरण में प्रयाजों के अनुष्ठान से अवशिष्ट हवि के अभिधारण का विधान है। आग्नेय हवि, ऐन्द्र दधि और ऐन्द्रपय—ये तीन दर्शयाग की हवियाँ हैं। इनमें सर्वप्रथम आग्नेय हवि का अभिघारण होगा, अन्यों का नहीं, क्योंकि प्रधानयागों में आग्नेययाग का पाठ ऐन्द्रयाग से पहले हुआ है। इसके बाद ऐन्द्रयाग के अङ्ग दधि का अभिधारण होगा। इस प्रकार इन अङ्गयागों तथा प्रधानयागों का क्रम इस प्रकार होगा—

१–आग्नेयहविरभिघारण
२–ऐन्द्रदध्यभिघारण
३–आग्नेययाग
४–ऐन्द्रयाग

ऐसा क्रम रहने पर परस्पर सम्बद्ध आग्नेयहविरभिघारण तथा ऐन्द्रयाग के मध्य में केवल एक क्रिया का व्यवधान है—वह है ऐन्द्रदध्यभिघारण। इसी प्रकार ऐन्द्रदध्यभिघारण तथा ऐन्द्रयाग के मध्य में भी केवल एक ही क्रिया—आग्नेययाग का व्यवधान है। यह व्यवधान समान होने से उचित है।

यदि अंगों का क्रम ऐसा न रखकर उलट दिया गया अर्थात् ऐन्द्रदध्याभिघारण को पहले और आग्नेयहविरभिघारण को बाद में रखा गया तो क्रम इस प्रकार होगा—

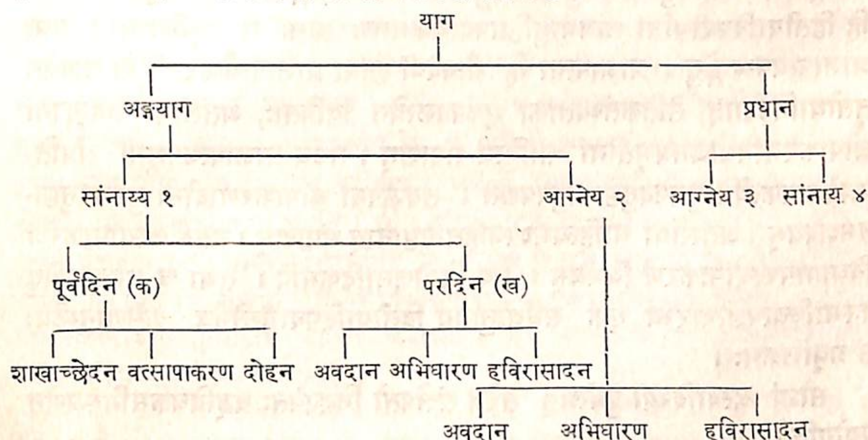
१–ऐन्द्रदध्यभिघारण
२–आग्नेयहविरभिघारण
३–आग्नेययाग
४–ऐन्द्रयाग

स्पष्ट है कि आग्नेयहविरभिघारण और आग्नेययाग अत्यन्त निकट हो गये हैं, इन दोनों के मध्य में कोई अन्तर नहीं है, किन्तु ऐन्द्रदध्यभिघारण और ऐन्द्रयाग में दो-दो का व्यवधान है, यह व्यवधान असमान है, अतः अनुचित है।

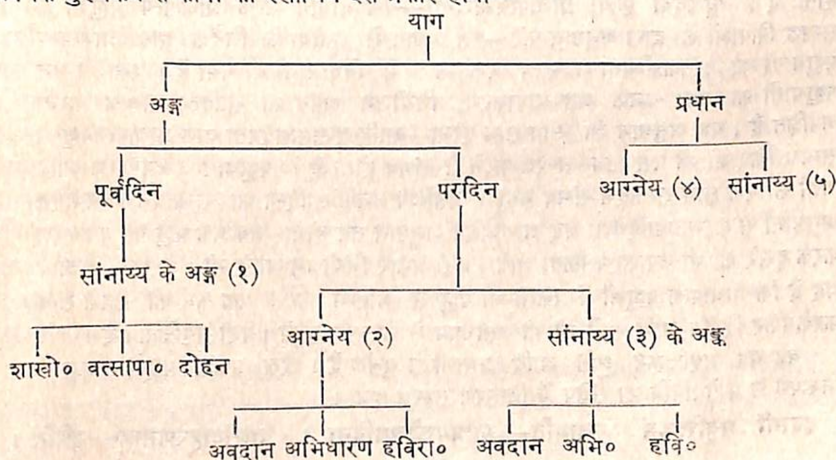
मुख्यक्रम प्रमाण पाठक्रम से दुर्बल है क्योंकि पाठक्रम से विधान के वाक्य क्रमशः पठित होते हैं, उनका आधार कहीं ढूँढना नहीं पड़ता है, जब कि मुख्यक्रम पाठक्रम पर आश्रित है। मुख्य यागों का क्रम क्या है इसका निर्धारण ग्रन्थ में पठितक्रम को देखकर ही किया जा सकता है, स्वतन्त्र रूप से नहीं। अतः मुख्यक्रम के अनुसार अनुष्ठान में वह शीघ्रता नहीं हो सकती है जो पाठक्रम से तत्काल हो जाती है। उदाहरण के लिये पूर्व-चर्चित आग्नेययाग और ऐन्द्रयाग अंगों का क्रम देखा जा सकता है।

मुख्यक्रम पाठक्रम से तो दुर्बल हैं किन्तु प्रमाणों में अन्तिम प्रवृत्तिक्रम से प्रबल है। मुख्यक्रम का स्वरूप स्पष्ट किया जा चुका है। प्रवृत्तिक्रम में एक प्रधानकर्म के प्राप्त सभी अङ्गकर्मों का अनुष्ठान एक साथ होता है। इससे कठिनाई यह पड़ती है कि उस प्रधानकर्म के पूर्व या पश्चात् भी कुछ अन्य प्रधान क्रियाएँ होती हैं और उनसे भी सम्बद्ध कुछ अङ्गकर्म होते हैं। ऐसी दशा में यदि कदाचित् एक याग में अनेक अङ्गक्रियाएँ हो गयीं और सबका अनुष्ठान एक साथ करना पड़ा, तब कोई अङ्ग तो अपने प्रधान के अत्यन्त निकट आ जायेगा और कोई बहुत दूर पड़ जायेगा। उपाय रहने पर यह भी दूरी की असमानता अनुचित है। उदाहरणार्थ, दर्शपूर्णमास याग की दो प्रधान क्रियाएँ—आग्नेययाग तथा सांनाययाग—अपने अङ्गों के साथ ली जा सकती है।

आग्नेययाग का अनुष्ठान सांनाय से पहले होता है, किन्तु सांनाय से सम्बद्ध कुछ अङ्ग क्रियाएँ एक दिन पहले से ही प्रारम्भ हो जाती हैं। कुछ दूसरे दिन अपेक्षित हैं। यदि इसके सभी अङ्गों को प्रवृत्तिक्रम के अनुसार रख दिया गया तो नियमोल्लंघन तो होगा ही, कार्य भी नहीं हो सकेगा, क्योंकि किसी भी दिन दही से काम लेने के लिये दूध को एक दिन पहले जमाना ही पड़ेगा। सांनाययाग दही और दूध से सम्बन्ध रखने वाला याग है। इनके अतिरिक्त दूसरी कठिनाई यह होगी कि दो प्रधान यागों तथा उनके अंगों में अनुचित अतिशय सामीप्य और दूरस्थता होगी। सांनाययाग के एक दिन पूर्व होने वाले अङ्ग हैं—शाखाच्छेदन, वत्सापाकरण, दोहन आदि, दूसरे दिन के हैं अवदान, अभिघारण, हविरासादन आदि। दूसरे ही दिन के आग्नेययाग के अङ्गकर्म हैं अवदान, अभिघारण, हविरासादन आदि। इसके बाद क्रमशः मुख्ययाग आग्नेय और सांनाय्य सम्पन्न होंगे। इनका रेखाचित्र इस प्रकार हो सकता है—



यहाँ यदि सांनाय्य के (क) और (ख) दोनों अङ्गों को एक साथ अनुष्ठित किया जाता है तो प्रधानयाग संख्या (४) से इनमें बहुत दूरी होगी और अङ्गक्रिया संख्या (२) तथा प्रधान-क्रिया (३) में अत्यन्त सामीप्य होगा। यह स्थिति प्रवृत्तिक्रम से अनुष्ठान करने पर होगी, जब कि मुख्यक्रम से कार्यों का रेखाचित्र इस प्रकार होगा—



यहाँ सांनाय्य के पूर्वदिन के कर्मों का अनुष्ठान तो अर्थक्रम से पहले करना अनिवार्य है, किन्तु दूसरे दिन सम्पाद्य कर्मों में औचित्य के अनुसार संयोजन अपेक्षित है। अतः दूसरे दिन आग्नेयाङ्ग-भूत अवदान आदि को—(संख्या २) को—पहले और सांनाय्याङ्ग अवदान आदि (संख्या ३) को करने पर अङ्गकर्म (२) तथा प्रधानकर्म आग्नेय (४) के बीच में केवल एक अङ्गकर्म (संख्या ३) का व्यवधान होगा और यही स्थिति अङ्गकर्म (संख्या ३) तथा प्रधानकर्म (संख्या ५) के मध्य में रहेगी। इस प्रकार अपने २ अङ्गों तथा प्रधानों में केवल एक-एक का व्यवधान होने से समान दूरी होगी। इससे कर्म में अविलम्ब होगा। अविलम्बतासम्पादन के कारण मुख्यक्रम प्रवृत्तिक्रम से प्रबल सिद्ध हो जाता है।

प्रवृत्तिक्रमः

(४३) सहप्रयुज्यमानेषु प्रधानेषु संनिपातिनामङ्गानामावृत्त्यानुष्ठाने कर्तव्ये हि द्वितीयादिपदार्थानां प्रथमानुष्ठितपदार्थक्रमाद्यः क्रमः स प्रवृत्तिक्रमः। यथा प्राजापत्यपश्वङ्गेषु। प्राजापत्या हि 'वैश्वदेवीं कृत्वा प्राजापत्यैश्चरन्ती'ति वाक्येन तृतीयानिर्देशात् सेतिकर्तव्यताका एककालत्वेन विहिताः, अतस्तेषां तदङ्गानां चोपाकरणनियोजनप्रभृतीनां साहित्यं संपाद्यम्। तच्च प्राजापत्यपशूनां संप्रतिपन्नदेवताकत्वेन युगपदनुष्ठानादुपपद्यते। तदङ्गानां चोपाकरणादीनां युगपदनुष्ठानमशक्यम्। अतस्तेषां साहित्यमव्यवहितानुष्ठानात् संपाद्यम्। ततश्चैकस्योपाकरणं विधायापरस्योपाकरणं विधेयम्। एवं नियोजनादिकमपि। तथा च प्राजापत्येषु कस्माच्चित्पशोरारभ्य एकं सर्वत्रानुष्ठाय द्वितीयादिपदार्थस्तेनैव क्रमेणानुष्ठेयः स प्रवृत्तिक्रमः।

सोऽयं श्रुत्यादिभ्यो दुर्बलः। तदेवं संक्षेपतो निरूपितः षड्विधक्रमनिरूपणेन प्रयोगविधिः।

साथ-साथ प्रधान क्रियाओं का अनुष्ठान करने पर 'सन्निपत्योपकारक अङ्गों' के अनुष्ठान की आवृत्ति से अपेक्षा होने पर प्रथमतः सम्पादित क्रियाओं के क्रम से द्वितीय आदि क्रियाओं का जो क्रम होता है उसे प्रवृत्तिक्रम कहते हैं, जैसे 'प्राजापत्य' नाम के पशुयागों के अङ्गों में होता है। 'वैश्वदेवीं कृत्वा प्राजापत्यैश्चरन्ति'—वैश्वदेवीयाग करके प्राजापत्य पशुओं से सम्बद्ध क्रियाओं के द्वारा अनुष्ठान करे—इस वाक्य से तृतीया के निर्देश द्वारा प्राजापत्य पशुयागों का इतिकर्त्तव्यता के साथ एक काल में विधान किया गया है। इसलिये उन पशुयागों का तथा उनके अङ्ग उपाकरण, नियोजन आदि का साहित्य सम्पन्न करना अपेक्षित है। यह अनुष्ठान का साथ-साथ होना—साहित्य-समानदेवता वाले प्राजापत्यपशु से सम्बद्ध क्रियाओं को एक साथ सम्पन्न करने से संभव होता है। पशुयाग के उपाकरण आदि अङ्गों का एक साथ सम्पादन संभव नहीं। इसलिये उनके साहित्य का सम्पादन अव्यवहित अनुष्ठानों से करना चाहिये। वह अव्यवहित अनुष्ठान तब होगा जब एक पशु का उपाकरण करके दूसरे का भी उपाकरण किया जाये। इसी प्रकार नियोजन आदि भी। इसका अभिप्राय यह है कि प्राजापत्य पशुओं में किसी भी पशु से आरम्भ करके एक कर्म को सबके साथ करके फिर द्वितीय आदि कर्मों को भी उसी क्रम से करना चाहिये। वही प्रवृत्तिक्रम है।

वह यह प्रवृत्तिक्रम श्रुति आदि प्रमाणों से दुर्बल है। इस प्रकार षड्विध क्रम के निरूपण से प्रयोगविधि का संक्षेप में निरूपण सम्पन्न हुआ।

इदानीं प्रवृत्तिक्रमं लक्षयति—सहप्रयुज्येत्यादिना। **तत्रोदाहरणमाह**—यथेति।

प्राजापत्या हि सेतिकर्तव्यताका एककालत्वेन विहिता इत्यन्वयः। अत इति। **तेषामेककालत्वेन विहितत्वादित्यर्थः।** तेषामिति। **प्राजापत्यानामित्यर्थः।** उपकरणेत्याद्युक्तार्थं एव बोध्यः। तच्चेति। **साहित्यं चेत्यर्थः।** संप्रतिपन्नदेवताकत्वेनेत्यत्र 'संप्रतिपन्नदेवताकालत्वेने'ति पाठः। तत्कालस्तु वैश्वदेव्यनुष्ठानान्तरकालो देवता च प्रजापतिरेव। तदङ्गानामिति। **प्राजापत्याङ्गानामित्यर्थः।** अशक्यमिति। **अनेकेषां पशूनामुपाकरणं नियोजनं चैकस्मिन्काल एकेन कर्त्रा कर्तुमशक्यमित्यर्थः।** अत इति। **उपाकरणादीनां युगपदनुष्ठानानुपपत्तेरित्यर्थः।** तेषामिति। **उपाकरणादीनामित्यर्थः।**

तच्चेति। **अव्यवधानेन साहित्यं चेत्यर्थः। एवमेकस्य पशोर्नियोजनं विधायापरस्य पशोर्नियोजनं विधेयमित्यतिदिशति**—एवमिति। **प्राजापत्येष्वेकस्य पदार्थस्य सर्वत्रानुष्ठेयत्वे यं पशुमारभ्यैकः पदार्थोऽनुष्ठितस्तमेव पशुमारभ्य द्वितीयादिः पादार्थोऽनुष्ठेय इत्याह**—तथा चेत्यादिना। सोऽयमिति। **प्रवृत्तिक्रम इत्यर्थः। आदिशब्देनार्थक्रमादयो गृह्यन्ते। अत्रेदं बोध्यम्—सप्तदश प्राजापत्या भवन्ति, सप्तदश प्राजापत्यान्पशूनालभेतेति तद्विधौ तथैव श्रवणात्। तथा च प्राजापत्येषु तेषु यं कंचित्पशुनारभ्योपाकरणं सप्तदशसु पशुषु कृत्वा तमेव पशुमारभ्य नियोजनं कर्तव्यम्। एवं च तत्तत्पशूपाकरणानां तत्तत्पशुनियोजनैस्तुल्यं षोडशक्षणैर्व्यवधानं भवति। तथा सति 'सप्तदश प्राजापत्यान्पशूनालभेते'त्युत्पत्तिवाक्ये वैश्वदेवीं कृत्वा प्राजापत्यैश्चरन्तीति प्रयोगवाक्ये च श्रुतं साङ्गानां सप्तदशपशुयागानां साहित्यमुपपद्यते। अन्यथा तेष्वेकैकस्मिन्नुपाकरणनियोजनादिसर्वसंस्काराणां समापने प्रत्यक्षवचनावगतपशुसाहित्यं बाधितं भवेदिति। एवं निरूपितं षड्विधक्रमनिरूपणेन प्रयोगविधिमुपसंहरति**—तदेवमिति।

प्रजापति देवता से सम्बद्ध याग प्राजापत्य है। यह वाजपेययागों में एक है। इस याग में १७ पशुओं का आलम्भन अपेक्षित है—'सप्तदश प्राजापत्यान् पशून् आलभेत'। प्रधान क्रिया यहाँ प्राजापत्ययाग है। पशुओं को लाना—(उपाकरण), यूप में बाँधना (नियोजन) आदि क्रियाएँ सन्निपत्योपकारक हैं। यहाँ प्राजापत्ययाग तथा सन्निपत्योपकारक उपाकरण आदि का एक साथ ही अनुष्ठान अपेक्षित है। यह सबका एक साथ अनुष्ठान 'वैश्वदेवीं कृत्वा प्राजापत्यैश्चरन्ति' में प्रयुक्त तृतीया बहुवचनान्त पद 'प्राजापत्यैः' से ज्ञात होता है। इसमें तृतीया विभक्ति से जहाँ-जहाँ 'इतिकर्त्तव्यता'—साधनता का ज्ञान होता है वहीं बहुवचनता से सभी का एक साथ ही एक काल में सम्पादन भो प्राप्त होता है क्योंकि 'प्राजापत्य' शब्द से सबका एकदेवकत्व भी सिद्ध होता है। एकदेवताविषयक सभी पशुओं के उपाकरण आदि अङ्गकर्म एक साथ प्राप्त तो हो रहे हैं किन्तु सबका सम्पादन एक साथ करना व्यवहारतः संभव नहीं है। अतः अव्यवहित क्रमशः अनुष्ठान में ही इनको एक साथ सम्पन्न मानना पड़ेगा। यहाँ 'साहित्य' का अर्थ है 'एक काल में सम्पन्न होना'।[1] एक साथ सबका अनुष्ठान संभव न होने से और किसी पशुविशेष से उसकी उपाकरण आदि अङ्गक्रियाओं के प्रारम्भ का उल्लेख न होने से किस पशु से क्रिया प्रारम्भ की जाये इसका निर्धारण प्रवृत्तिक्रम से होगा। इस विधि के अनुसार सत्रह पशुओं में से किसी एक से उपाकरण कर्म प्रारम्भ किया जाता है और शेष सोलह पशुओं का भी उपाकरण एक-एक करके सम्पन्न होता है। फिर नियोजन कर्म का प्रारम्भ उसी पशु से किया जाता है जिसका सर्वप्रथम

१. साहित्यमेककालकर्त्तव्यत्वम्। ......प्राजापत्यपदावगतप्रजापतिरूपैकदेवताकत्वेनेत्यत्रैः। ...अतस्तन्त्रानुष्ठानेन साहित्यसम्पादनस्याशक्यत्वात्। अव्यवहितानुष्ठानेन कर्मान्तरव्यवधानाभाववदनुष्ठानेन सम्पाद्यं घटयितव्यम्। प्रतिपादिका पृ० ९८-९।

उपाकरण किया गया था। इसी प्रकार पहले के ही क्रम में शेष सोलह में प्रत्येक का नियोजन किया जाता है। मूलग्रन्थ में 'द्वितीयादिपदार्थ' का अभिप्राय नियोजन-सदृश क्रम में दूसरे स्थान की क्रियाओं से है। इस प्रकार एक-एक अङ्गक्रिया एक-एक पशु के साथ पृथक्-पृथक् की जाती है। इसमें हर पशु से हर क्रिया का समान अन्तर होता है।

'प्रवृत्तिक्रम' छः क्रमों में अन्तिम है, अतः सभी पूर्ववर्तियों से दुर्बल है। प्रयोगविधि में क्रमनिरूपण के प्रसङ्ग में ध्यान देने की बात यह भी है कि यहाँ प्रत्येक पूर्व-पूर्व प्रमाण की प्रबलता प्रत्येक उत्तरोत्तरवर्ती से नहीं सिद्ध की गयी है। केवल कुछ का ही निरूपण है, उसमें भी पाठक्रम में तो उसी के दो भेदों—मन्त्रपाठ और ब्राह्मणपाठ—का परस्पर प्राबल्य और दौर्बल्य प्रदर्शित है। इस सबका कारण भास्कर की अनवधानता नहीं है, अपितु ग्रन्थसंक्षेप की ओर ध्यान ही प्रतीत होता है। दूसरी बात यह है कि प्रत्येक का परस्पर प्राबल्य और दौर्बल्य न निरूपित करने का यह भी अभिप्राय नहीं है कि जिनका प्राबल्य-दौर्बल्य वर्णित है उन्हीं में वह है, अन्यों में नहीं। वस्तुतः सिद्धान्त यह है कि प्रत्येक पूर्ववर्ती प्रमाण अपने समस्त परवर्तियों से प्रबल है।

अधिकारविधिः

(४४) कर्मजन्यफलस्वाम्यबोधको विधिरधिकारविधिः। कर्मजन्यफलस्वाम्यं कर्मजन्यफलभोक्तृत्वम्। स च 'यजेत स्वर्गकामः' इत्यादिरूपः। स्वर्गमुद्दिश्ययागं विदधताऽनेन स्वर्गकामस्य यागजन्यफलभोक्तृत्वं प्रतिपाद्यते। 'यस्याहिताग्ने-रग्निर्गृहान्दहेत्सोऽग्नये क्षामवतेऽष्टाकपालं निर्वपेदि'त्यादिनाऽग्निदाहादौ निमित्ते कर्म विदधता निमित्तवतः कर्मजन्यपापक्षयरूपफलस्वाम्यं प्रतिपाद्यते। एवं 'अहरहः सन्ध्यामुपासीते' त्यादिना शुचिविहितकालजीविनः संध्योपासनजन्य-प्रत्यवायपरिहाररूपफलस्वाम्यं बोध्यते।

(यागादि) कर्म से उत्पन्न होने वाले (स्वर्गादि) फल के स्वामित्व का ज्ञान कराने वाली विधि अधिकारविधि है। कर्म से उत्पाद्य फल के स्वामित्व का अर्थ है कर्म से उत्पाद्य फल का भोक्ता होना। और उस अधिकारविधि का रूप है—स्वर्गकामो यजेत–आदि। स्वर्ग को लक्ष्य करके याग का विधान करने वाले इस वाक्य के द्वारा स्वर्ग की कामना वाले पुरुष के यागजन्य फल का भोक्तृत्व का प्रतिपादन होता है। 'जिस अग्न्याधान करने वाले पुरुष घर अग्नि जला दे, वह पुरुष क्षीण हो गयी अग्नि को आठ कपालों में पकाया गया (पुरोडाश) समर्पित करे।' आदि मन्त्रों के द्वारा अग्निदाह आदि निमित्त उपस्थित होनेपर कर्म का विधान करते हुए निमित्तवान् पुरुष के (अष्टाकपालनिर्वपनरूप) कर्मजन्य-पापक्षयरूप फल का स्वामित्व प्रतिपादित किया जाता है। इसी प्रकार 'प्रतिदिन सन्ध्यो-पासना करे' इत्यादि वाक्यों के द्वारा पवित्र एवं शास्त्रानुमोदितरीति से जीवनयापन करने वाले पुरुष के सन्ध्योपासन से जन्य पापनिवारणरूप फल के स्वामित्व का ज्ञान कराया जा रहा है।

इदानीं क्रमप्राप्तमधिकारविधिं निरूपयति—कर्मजन्येति। **कर्मजन्यफलस्वाम्यपदं व्याचष्टे**—कर्मजन्यफलस्वाम्यमिति। स चेति। **अधिकारविधिश्चेत्यर्थः।** अनेनेति। **'यजेत स्वर्गकाम' इत्यादिवाक्येनेत्यर्थः। तत्रोदाहरणान्तरमाह**—यस्येति। क्षामवत इति। **क्षामवत्त्वगुणविशिष्टायेत्यर्थः।** निमित्तवत इति। **अग्निना गृहदाहादिरूपनिमित्तवतः पुरुषस्येत्यर्थः। इत्यादिना कर्मविदधता विधिनेत्यन्वयः।** कर्मजन्येति। **अग्निदेवताक-**

कर्मजन्येत्यर्थः । तत्रैवोदाहरणान्तरमाह—एवमिति । शुचिविहितकालजीविन इति । शौचविशिष्टत्वे सति विहितकालजीविन इत्यर्थः ।

अधिकारविधि के द्वारा बतलाया जाता है कि कर्म से उत्पन्न फल के भोग का अधिकारी कौन है। सभी लोग कर्म से उत्पन्न फल का भोग नहीं कर सकते। कर्म सामान्यतः तीन प्रकार के हैं—काम्य, नैमित्तिक तथा नित्य। इसी क्रम से यहाँ उदाहरण दिये गये हैं। काम्य कर्म वह है जो किसी कामनाविशेष की सिद्धि के लिये किया जाता है। जैसे—'स्वर्गकामो यजेत'। जिसको स्वर्ग की इच्छा हो वह याग करे। इस वाक्य से स्पष्ट है कि जिसे स्वर्ग की कामना होगी उसी के द्वारा याग सम्पन्न किये जाने पर स्वर्गरूप फल मिलेगा। स्वर्ग की कामना न रखते हुए यज्ञ करने वाले पुरुष को नहीं मिलेगा, उसके फल पर उसका स्वामित्व नहीं होगा।

दूसरा उदाहरण नैमित्तिक कर्म के फलस्वाम्य का है। किसी प्रयोजनविशेष के उपस्थित होने पर उसके लिये किये जाने वाले कर्म 'नैमित्तिक' हैं। उदाहरण में दिया गया है कि जिस अग्निहोत्री की अग्नि से घर जल जाये उसे चाहिये कि अग्नि के क्षीण होने पर वह अग्नि के लिये आठ कपालों में बनाया गया पुरोडाश समर्पित करे। इससे उसकी अग्नि से घरों के जलने से होने वाले पाप का क्षय हो जायेगा। इसका अभिप्राय यह है कि अग्नि के लिये 'अष्टाकपालनिर्वपन' करने से केवल उसी अग्निहोत्री का पापक्षय होगा जिसकी अग्नि से घर जले हैं। अन्य किसी अग्निहोत्री के द्वारा यदि यह निर्वपन किया गया तो उसका पापविशेष का क्षयरूप फल उसे नहीं मिलेगा। यहाँ अग्निदाह निमित्त है, अग्निहोत्रो निमित्तवान् है और पुरोडाशनिर्वपन कर्म से उत्पन्न पापक्षय फल है। इसका अधिकारी निमित्तवान् पुरुष ही है।

तृतीय उदाहरण नित्यकर्म का है। नित्यकर्म वे हैं जिनके करने पर पुण्य-प्राप्ति तो नहीं होती, किन्तु न करने पर पाप अवश्य लगता है। यह प्रत्यवाय-परिहार पापक्षय का साधन है। सन्ध्योपासना आदि कर्मों की गणना इसमें होती है। किन्तु इन कर्मों के सम्पादन का न तो अधिकार सबको है और न सभी का प्रत्यवायपरिहार ही होगा। केवल उसी व्यक्ति के द्वारा अनुष्ठित सन्ध्योपासन कर्म से प्रत्यवायपरिहार होगा जिसका जीवन पवित्र है और जो शास्त्र-निर्धारित नियमों के अनुसार जीवनयापन कर रहा है। 'विहित' का अर्थ 'शास्त्रविधानसम्मत' है। इसका स्पष्टार्थ यह हुआ कि जिस पुरुष के जातकर्म, उपनयन आदि संस्कार उचित समय पर नियमतः हुए हैं उसी के द्वारा सन्ध्योपासन कर्म करने पर प्रत्यवाय-परिहार होगा।

काम्यकर्म वाले 'स्वर्गकामो यजेत' वाक्य में स्वर्गरूप फल का अधिकारी 'स्वर्गप्राप्ति का इच्छुक-स्वर्गकाम-श्रुत है अर्थात् मन्त्रवाक्य में पठित है, प्राप्त है। अधिकारी बनाने वाली 'इच्छा'-कामना-शब्द का ग्रहण वाक्य में हुआ है। जहाँ फलस्वाम्य-बोधक पद श्रुत नहीं होता है वहाँ प्रयोजनवश कल्पित कर लिया जाता है। नैमित्तिक कर्म वाले—"यस्याहि०" वाक्य में 'पापक्षयकामः' पद श्रुत नहीं है, तथापि उसकी कल्पना कर ली जाती है कि घर जलने से पाप लगेगा अतः अग्निहोत्री में गृहदाहजन्य पापक्षय की कामना होगी। यह कल्पना अर्थसिद्धि के लिये है। कहीं-कहीं पर फल श्रुत होता हैं और कहीं अश्रुत होने पर भी अर्थसिद्ध 'किन्तु कुछ स्थलों पर इन दोनों के अभाव में भी फलस्वाम्य दूसरे प्रमाण से कल्पित करना पड़ता है। यह तृतीय स्थिति नित्यकर्मों में प्रायः होती है। उदाहरणार्थ, 'अहरहः संध्यामुपासीत' में यह निर्देश नहीं है कि कौन संध्योपासना करे, न कोई उद्देश्य ही उक्त है जिसके लिये अर्थसिद्धिहेतु कल्पना ही की जा सके। अतः अर्थवाद से सन्ध्योपासन के अभाव में प्रत्यवाय का ज्ञान होने से 'शुचिविहितकालजीवित्व' का आक्षेप हो जाता है।[1]

---

१. शुचितत्कालजीवी कर्म्म कुर्यादिति विधेरिति भावः। ···सन्ध्योपासनाद्यभावस्य प्रत्यवाय—साधनताया अर्थवादावगम्यत्वात् सन्ध्योपासनस्य सुतरां तत्परिहारसाधनत्वं सिध्यति। प्रति-पादिका–पृ० १०१.

'यस्याहिताग्नेः' आदि के बाद 'इत्यादिना' आदि वाक्य का अन्वय 'इत्यादिना कर्मविदधता अग्निदाहादिनिमित्तं' रूप में करना चाहिये। 'कर्मविदधता' 'इत्यादिना' के साथ है।

(४५) तच्च फलस्वाम्यं तस्यैव योऽधिकारविशिष्टः, अधिकारश्च स एव यद्विधिवाक्येषु पुरुषविशेषणत्वेन श्रूयते। यथा काम्ये कर्मणि फलकामना, नैमित्तिके कर्मणि निमित्तनिश्चयः, नित्ये संध्योपासनादौ शुचिविहितकालजीवित्वम्। अत एव 'राजाराजसूयेन स्वाराज्यकामो यजेते'त्यनेन विधिवाक्येन स्वाराज्यमुद्दिश्य विदधतापि न स्वाराज्यमात्रकामस्य तत्फलभोक्तृत्वं प्रतिपाद्यते, किंतु राज्ञः सतः स्वाराज्यकामस्यैव, राजत्वस्याप्यधिकारिविशेषणत्वेन श्रवणात्।

क्वचित्तु पुरुषविशेषणत्वेनाश्रुतमप्यधिकारिविशेषणम्। यथाध्ययनविधिसिद्धा विद्या, क्रतुविधीनामर्थज्ञानापेक्षणीयत्वेनाध्ययनविधिसिद्धार्थज्ञानवन्तं प्रत्येव प्रवृत्तेः। एवमग्निसाध्यकर्मसु आधानसिद्धाग्निमत्ता। अग्निसाध्यकर्मणामग्न्यपेक्षत्वेन तद्विधीनामाधानसिद्धाग्निमन्तं प्रत्येव प्रवृत्तेः।

एवं सामर्थ्यमपि। 'आख्यातानामर्थं ब्रुवतां शक्तिः सहकारिणी'ति न्यायात् समर्थं प्रत्येव विधिप्रवृत्तेः। तदेवं निरूपितो विधिः।

और वह (फलविधि-बोधित) फल का भोक्तृत्व उसी का होता है जो अधिकार से विशिष्ट होता है, और अधिकार वही है जो विधिवाक्यों में पुरुष के विशेषण के रूप में उक्त होता है। जैसे काम्यकर्म में फलकामना, नैमित्तिक कर्म में निमित्त का निश्चय, और नित्यकर्म संध्योपासन आदि में पवित्र एवं शास्त्रानुमोदित समय-यापन करना। इसीलिये 'स्वाराज्य की कामना वाला राजा राजसूय याग सम्पन्न करे' यह विधिवाक्य स्वाराज्य को लक्ष्य करके याग का विधान करता हुआ भी केवल स्वाराज्य के इच्छुक व्यक्ति के लिये उसके फल का भोक्तृत्व प्रतिपादन नहीं करता है, अपितु 'राजा होते हुए स्वाराज्य की कामना करने वाले के लिये ही, क्योंकि (यहाँ) राजा होना भी अधिकारी के विशेषण के रूप में उक्त है।

कहीं-कहीं पुरुष के विशेषण के रूप में उक्त न होने वाला भी अधिकारी का विशेषण होता है, जैसे ('स्वाध्यायोऽध्येतव्यः इस) अध्ययन की विधि से सिद्ध विद्या, क्योंकि यज्ञ सम्बन्धी विधियों की अर्थज्ञान की अपेक्षा होने से अध्ययनविधि से प्राप्त अर्थ का ज्ञान रखने वाले के प्रति ही प्रवृत्ति होती है। इसी प्रकार अग्नि से सिद्ध होने वाले कर्मों में आधान से सिद्ध अग्निमत्ता अपेक्षित होती है, क्योंकि अग्नि से सम्पाद्य कर्मों को अग्नि की अपेक्षा होने से उनके विधायक वाक्यों की प्रवृत्ति आधान से सिद्ध अग्नि वाले के लिये ही होती है।

इसी प्रकार सामर्थ्य भी (जो कि विधिवाक्यों में उक्त नहीं होता है, अधिकारी के विशेषण के रूप में अपेक्षित होता है।) 'अर्थ को कहने वाले आख्यातों की शक्ति–सामर्थ्य–सहायिका होती है।' इस नियम से समर्थ के प्रति ही विधि की प्रवृत्ति होती है। इस प्रकार (वेद के एक भाग) विधि का निरूपण हुआ।

तच्चेति। **फलविधिबोधितं चेत्यर्थः। को ह्यधिकारो यद्विशिष्टस्य पुंसः कर्मजन्यफलभोक्तृत्वरूपं फलस्वाम्यं विधिना बोध्यत इत्यत आह**––अधिकारश्चेति। अत एवेति। **विधिवाक्येषु पुरुषविशेषणत्वेन श्रूयमाणस्याधिकारत्वादेवेत्यर्थः। स्वाराज्यमुद्दिश्येत्यत्र राजसूयमिति शेषः।** राज्ञः सत इति। **क्षत्रियस्य सत इत्यर्थः। तत्र हेतुमाह**––

राजत्वस्येति । श्रवणादिति । 'राजसूयेने'त्यत्र श्रवणादित्यर्थः । अत्र हि राजशब्देन क्षत्रिय एवोच्यते, नतु राज्यसंबन्धमात्रेण तदन्योऽपि । तेन क्षत्रियस्यैव राजसूयेऽधिकारो नतु तदन्यस्य ब्राह्मणादेरित्यन्यत्र विस्तर इति भावः ।

इदमत्र चिन्त्यते--'दर्शपूर्णमासाभ्यां स्वर्गकामो यजेते'ति श्रूयते । तत्र क्रियानिष्पादकत्वं कर्तृत्वं फलभोक्तृतया स्वामित्वमधिकारः । तादृशोऽधिकारो यागकर्तुर्नास्ति । कुतः ? फलभोगाभावात् तथा हि--यजेतेत्यत्राख्यातेन भावनाभिधीयते । तस्यां च धात्वर्थो भाव्यः, एकपदोपात्तत्वात् । स्वर्गस्तु पदान्तरोपात्तत्वाद्वाक्येन भाव्यतयाऽन्वेतव्यः । तच्च वाक्यमेकपदरूपया श्रुत्या बाध्यते । स्वर्गस्य भाव्यत्वाभावे सति गुणत्वमभ्युपेयम् । स्वर्गशब्दो नात्र सुखवाची किंतु सुखसाधनं चन्दनादिद्रव्यं ब्रूते । लोके तथा व्यवहारात् । तच्च कामयितुं योग्यम् । तेन द्रव्येण विना यागानिष्पत्तेः । तस्मादस्मिन्वाक्ये फलानभिधाने तद्भोगाभावात्कर्तुर्यागे कर्तृत्वमेव नत्वधिकार इत्यधिकारलक्षणं नारब्धव्यमिति प्राप्ते ब्रूमः—यजेतेत्यत्र प्रत्ययस्य केवलमाख्यातरूपत्वमेवेति न च मन्तव्यं, किंतु लिङ्प्रत्ययत्वेन विधिरूपत्वमप्यस्ति तत्राख्यातत्वाकारेण भावनामाचष्टे, विधित्वाकारेण पुरुषं प्रवर्तयति, पुरुषश्च स्वाभिमतफलमन्तरेण न प्रवर्तते इति तदपेक्षितं स्वर्गमेव भाव्यतया विधिरुपादत्ते । स्वर्गशब्दश्चोत्कृष्टे सुखे रूढः । द्रव्ये तु लाक्षणिकः । तस्मात्सुखस्य भाव्यत्वं विधिश्रुत्या सिद्धम् । धात्वर्थस्य तु भाव्यत्वमेकपदेन प्रतीयमानमपि प्रत्ययेन नावगम्यते, किंतु प्रकृत्या । तथासति स्वर्गभाव्यत्वं भावनायां प्रत्यासन्नयेकेनैव विधिरूपेणाख्यातेनावगमात्कमियोगादपि स्वर्गस्यैव भाव्यत्वम् । तस्मात्फलभोगसंभवेन कर्तुरधिकारोऽस्तीत्यधिकारलक्षणमारब्धव्यमिति ।

विधिवाक्येष्वश्रुतमपि किंचिदधिकारिविशेषणत्वेनान्यथानुपपत्त्या तत्समाश्रयणेन व्यवहारोपपत्तिरित्याशयेनाह–क्वचित्त्विति । तत्रोदाहरणमाह–यथेति । विद्येत्यत्रविधिवाक्येष्वश्रुतमप्यधिकारिविशेषणत्वेन तद्विशेषणमिति शेषः । तत्र हेतुमाह–क्रत्वित्यादिना । तत्रैवोदाहरणान्तरमाह–एवमिति । अग्निमत्तेत्यत्रापि पूर्ववदेव शेषो बोध्यः । तत्रापि हेतुमाह–अग्निसाध्येति । तद्विधीनामिति । अग्निसाध्यकर्मविधीनामित्यर्थः । अनेन च निरुक्ताधिकारिविशेषणेन शूद्रस्य यागेऽनधिकारो ध्वनितः । तस्याध्ययनविधिसिद्धविद्याया अभावादाधानसिद्धाग्निमत्ताया अभावाच्च । किंच अध्ययने ह्युपनीतस्यैवाधिकारात् उपनयनेऽपि च 'अष्टवर्षं ब्राह्मणमुपनयीते'त्यादिना त्रैवर्णिकस्यैवाधिकारविधानात् । अग्न्याधानेऽपि 'वसन्ते ब्राह्मणोऽग्नीनादधीते'त्यादिना त्रैवर्णिकमात्रस्याधिकारविधानाच्च । यद्यपि 'वर्षासु रथकारोऽग्नीनादधीते'त्यनेन रथकारस्य सौधन्वनापरनामकस्याग्न्याधानं विहितं योगाद्रूढेर्बलीयस्त्वात् तथापि नास्योत्तरकर्मस्वधिकारः, तस्याध्ययनविधिसिद्धविद्याया अभावादित्यन्यत्र विस्तर इति भावः । ननु तत्र रथं करोतीति व्युत्पत्त्या त्रैवर्णिक एव रथकारो नतु शूद्रस्य तत्राप्यधिकार इति चेन्न । संकीर्णजातिविशेषे रथकारशब्दस्य रूढत्वात् । तथा हि—वैश्यायां क्षत्रियादुत्पन्नो माहिष्यः । शूद्रायां वैश्यादुत्पन्ना करणी । तस्यां करण्यां माहिष्यादुत्पन्नो रथकारः । तथा च याज्ञवल्क्यः–'माहिष्येण करण्यां तु रथकारः प्रजायते' इति । तस्मान्न तादृशव्युत्पत्त्या त्रैवर्णिको रथकारशब्देन ग्रहीतुं

शक्यत इति। किंच कुत्रचिद्यागेऽपि कस्यचिच्छूद्रस्याधिकारो भवति 'वास्तुमयं रौद्रं चरुं निर्वपे'दिति प्रकृत्य 'एतया निषादस्थपतिं याजये'दिति श्रवणात्। वास्तुशब्दः किंचित्प्रकृतिद्रव्यविशेषमाह। एतस्यामिष्टावधिकारी निषादस्थपतिशब्दवाच्यस्त्रैवर्णिक एव। कुतः ? निषादानां स्थपतिरिति षष्ठीसमासस्य त्रैवर्णिके संभवात् तस्य ह्यधीतवेदत्वे विद्यासंभवाच्चेति प्राप्ते ब्रूमः—निषादश्चासौ स्थपतिश्चेति कर्मधारयसमासस्य मुख्यत्वान्न षष्ठीसमासेन त्रैवर्णिको निषादस्थपतिशब्दार्थः। षष्ठीसमासे तु संकीर्णजातिविशेषवाचिना निषादशब्देन तत्संबन्ध उपलक्ष्येत। नत्वयं कर्मधारये दोषोऽस्ति। तस्मात् तात्कालिकाचार्योपदेशादिना विद्यां संपाद्य धनिको निषादो रौद्रं यागं कुर्यादिति राद्धान्तः।

अध्ययनविधिसिद्धविद्यादिवत्पुरुषसामर्थ्यमपि विधिवाक्येष्वश्रुतमप्यधिकारिविशेषणमित्याह—एवमिति। सामर्थ्यमिति। आज्यावेक्षणादिकं लौकिकपुंसामर्थ्यमित्यर्थः। वैदिकसामर्थ्यस्याध्ययनविधिसिद्धविद्यादेः पूर्वमेवोक्तत्वादित्यर्थः। वृद्धोक्तन्यायं विनिगमकं समुदाहरन् तत्र हेतुमाह—आख्यातानामिति। अनेन च विशेषणे नान्धादेरनधिकारो ध्वनितः। इदमत्र विचार्यते—अन्धः पङ्गुर्बधिरो मूको गवाश्वादयश्च तिर्यञ्च इत्यादीनां चेतनत्वेन निरतिशयसुखरूपे स्वर्गे कामना संभवति। अथोच्येत केषुचिदङ्गेषु तेषां शक्तिर्नास्ति। तथा हि—अन्धो नाज्यमवेक्षितुं क्षमः, पङ्गुर्विष्णुक्रमेष्वशक्तः, बधिरो नाध्वर्युप्रोक्तं शृणोति। तथा च 'क्लृप्तीर्वाचयती'ति विहितस्यानुष्ठानं न सिद्धयेत्। मूकोऽनुमन्त्रणादावसमर्थः। तिर्यञ्चो बहुष्वसमर्था इति–तन्न। यथाशक्त्यङ्गानामनुष्ठेयत्वात्। 'स्वर्गकामो यजेते'त्यनेन प्रधानवाक्येन सर्वाधिकारः प्रतीयते। स चाज्यावेक्षणाद्यङ्गवाक्यानुसारेण न संकोचयितुं युक्तः, किंतु प्रधानानुसारेणाङ्गानुष्ठानमेव संकोचयितुं युक्तं, तस्मादन्धादेरप्यधिकार इति प्राप्ते ब्रूमः—यदाज्यावेक्षणादयः पुरुषार्थतया विधीयेरन् तदा तल्लोपयितुर्न क्रतोर्वैकल्यम, इह तु क्रत्वङ्गतया ते विहिता इति तल्लोपे क्रतुरेव न निष्पद्येत, तस्मादसमर्थस्य नास्त्यधिकार इति सिद्धम्। किंच ज्योतिष्टोमे श्रूयते–'यद्युद्गाताऽपच्छिद्येतादक्षिणो यज्ञः संस्थाप्योऽथान्यश्चाहर्तव्यस्तत्र तद्दद्याद्यत्पूर्वस्मिन्दास्यन्स्यात् यदि प्रतिहर्ताऽपच्छिद्येत सर्वस्वं दद्यादि'ति। अस्यायमर्थः—प्रातःसवने बहिष्पवमानेन स्तोष्यमाणा ऋत्विजः शालाया बहिः प्रसर्पन्ति तदानीमेकस्य पृष्ठतोऽन्य इत्येवं पिपीलिकावत्पङ्क्त्याकारेण गन्तव्यम्। तत्र पुरतो गन्तुः कच्छं गृहीत्वैव पृष्ठतोऽन्यो गच्छेत्। एवं सति यदि प्रमादादुद्गाता गृहीतं कच्छं मुञ्चेत्तदा दक्षिणामदत्त्वा प्रक्रान्तो यज्ञः समापनीयः। तं समाप्य पुनरपि स यज्ञः प्रयोक्तव्यः। तस्मिन्प्रयोगे पूर्वं यद्दित्सितं द्रव्यं तद्दद्यात्। यदा प्रतिहर्ता मुञ्चेत् तदा तस्मिन्नेव प्रयोगे सर्वस्वं दद्यादिति। तत्र यद्युद्गातृप्रतिहर्तारौ युगपत्तन्मुञ्चेतां तदानीमुक्तं प्रायश्चित्तनिमित्तं विहन्येत। एककर्तृको ह्यपच्छेदो निमित्तत्वेन श्रुतः, अयं तूभयकर्तृकत्वान्नैकेन व्यपदेष्टुं शक्यते, तस्माच्छ्रूयमाणस्य निमित्तस्य विहतत्वान्नास्ति प्रायश्चित्तमिति प्राप्ते ब्रूमः–द्वौ ह्यत्रापच्छेदौ तयोरेकैकस्यैकैक एव कर्तेति निमित्तस्य नास्ति विघातः। कालमात्रैक्यादेकापच्छेदभ्रान्तिः तस्मान्निमित्तविघाताभावादस्ति प्रायश्चित्तम्। किंच अदक्षिणत्वं सर्वस्वदक्षिणत्वं चेति यत्प्रायश्चित्तद्वयं निमित्तभेदेन श्रुतं तन्निमित्तद्वयसंनिपाते समुच्चेतव्यम्, यद्यदक्षिणत्वसर्वस्वदानयोरन्योन्य-

विरोधस्तर्हि प्रयोगभेदेन व्यवस्थापनीयम्, अपच्छेदयुक्ते प्रथमप्रयोगे दक्षिणा न दातव्या, उत्तरप्रयोगे सर्वस्वं दातव्यं, सत्यपि प्रयोगभेदे कर्मण एकत्वात् समुच्चय इति प्राप्ते ब्रूमः— न ह्युत्तरप्रयोगेऽपच्छेदो विद्यते। न चासति निमित्ते प्रायश्चित्त युक्तम्। तस्मात्प्रथमप्रयोग एव निमित्तद्वयवशात्प्रायश्चित्तद्वयं प्राप्तं तच्चान्योन्यविरुद्धं विकल्प्यते। किंच उद्गातृ-प्रतिहर्तृकर्तृकयोरपच्छेदयोर्यौगपद्य समानबलत्वादस्तु प्रायश्चित्तयोर्विकल्पः। यदा तु क्रमेणा-पच्छेदौ स्यातां तदानीमसंजातविरोधित्वेन पूर्वस्य प्रबलत्वाच् श्रुतिलिङ्गादाविवोत्तरस्य प्रवृत्तिर्विरुध्यत इति चेत्। मैवम्। श्रुतिलिङ्गादावुत्तरस्य पूर्वसापेक्षत्वात्पूर्वेण विरोधे सत्युत्तरस्योत्पत्तिरेव नास्ति। इह तु ज्ञानद्वयमन्योन्यनिरपेक्षं वाक्यद्वयादुत्पद्यत इत्युत्पत्ति-प्रतिबन्धो नास्ति। उत्पद्यमानं चोत्तरज्ञानं स्वविरुद्धस्य पूर्वज्ञानस्य बाधेनैवोत्पद्यते। ननु निरपेक्षत्वस्य समानत्वात् पूर्वज्ञानमेवोत्तरस्य बाधकमस्त्विति चेन्न। पूर्वज्ञानोत्पत्ति-दशायामविद्यमानस्योत्तरज्ञानस्य बाध्यत्वायोगात्। उत्तरकाले तु स्वयं बाधितं पूर्वज्ञानं कथमुत्तरस्य बाधकं भवेत्, नान्यत्किंचिदुत्तरस्य बाधकं पश्यामः। तस्मादुत्तरकालीना-पच्छेदनिमित्तं प्रायश्चित्तमनुष्ठेयम्। किंच यद्युद्गाता पश्चादपच्छिद्यते तदा तस्यापच्छेदस्य प्रबलत्वात्तन्निमित्तं प्रायश्चित्तमनुष्ठेयं, तच्च प्रायश्चित्तमीदृशं—प्रथमं प्रयोगं दक्षिणा-रहितमनुष्ठाय द्वितीयप्रयोगे पूर्वं दित्सिता दक्षिणा दातव्येति। पूर्वं च गवां द्वादशाधिकं शतं दित्सितं तस्य ज्योतिष्टोमदक्षिणारूपेण विहितत्वात्तस्मादुत्तरप्रयोगे द्वादशशतं देय-मिति प्राप्ते ब्रूमः—प्रतिहर्तुः प्रथममपच्छेदे सति तन्निमित्तकं सर्वस्वदानरूपं प्रायश्चित्तं प्रथमप्रयोगे प्राप्तं, तेन च क्रतुस्वभावप्रयुक्तस्य बाधात्सर्वस्वं दित्सितं, न चोद्गात्रपच्छेदेन पश्चाद्भाविना सर्वदित्सा बाध्यत इति शङ्कनीयम्। बाधकस्य दक्षिणान्तरस्य तत्रानुक्तत्वात्। यद्दित्सितं तदुत्तरप्रयोगे देयमित्येतावदेव तत्रोच्यते। दित्सितं च सर्वस्वमित्युक्तम्। अत उत्तरकालीनोद्गात्रपच्छेदनिमित्तेऽपि पुनः प्रयोगे पूर्वकालीनप्रतिहर्त्रपच्छेदप्रयुक्तं सर्वस्व-मेव दातव्यमित्यादिकमर्थजातं निरूपणीयमभिप्रेत्य विधिनिरूपणमुपसंहरति—तदेवमिति। तस्मिन्नतीते ग्रन्थ उक्तप्रकारेणेत्यर्थः।

फलविधि के द्वारा बोधित फल का भोक्ता कोई भी व्यक्ति नहीं हो सकता। किसी गुणविशिष्ट व्यक्ति को ही भोक्तृत्व का अधिकार है। पुरुष का विशेषण क्या हो, इसके ज्ञान के लिये वह विधिवाक्य ही देखा जाना चाहिये। उसी में उसके वैशिष्ट्य के बोधक पद प्रा.: उल्लिखित होते हैं। वाक्यों में किसी पद का उपस्थित होना ही उसका श्रुत होना है। 'स्वर्गकामो यजेत' इस काम्य-कर्म के विधायक वाक्य में 'स्वर्गकाम' पद, जो कि स्वर्गरूप फल की कामना का द्योतक है—उक्त है। वह यागकर्त्ता का विशेषण है। इसका विवेचन पूर्ववर्ती अनुच्छेद की 'प्रकाशिका' में किया जा चुका है। इसी प्रकार "यस्याहिताग्नेः०" आदि निमित्तकर्म के बोधक वाक्य में गृहदा-हजन्य पाप के परिहार का निश्चय और 'अहरहः संध्यामुपासीत' इस नित्यकर्म के विधायक वाक्य में शुचिविहितकालजीवित्व पुरुष के विशेषण के रूप में अपेक्षित निरूपित किये गये हैं। यद्यपि नैमित्तिक कर्म के विधिवाक्य में विशेषण श्रुत नहीं है तथापि अर्थप्रमाण से सिद्ध होने के कारण श्रुत-सा ही है और नित्य कर्मों में प्रमाणान्तर से कल्पित है, जैसा कि पहले बतलाया जा चुका है।

जिस फलविधि में एक से अधिक विशेषण श्रुत होते हैं, वहाँ अधिकारी में उन सबका भाव विद्यमान होना चाहिये, केवल एक ही पर्याप्त नहीं होगा। यथा—'राजा राजसूयेन स्वाराज्यकामो यजेत' में 'राजत्व' और 'स्वाराज्यकामना' दोनों ही पुरुष के विशेषण हैं। स्वाराज्य की कामना

वाला कोई भी व्यक्ति राजसूययाग नहीं कर सकता, उसे राजा भी होना ही चाहिये, क्योंकि 'स्वाराज्यकामना' के साथ ही 'राजा' पद भो श्रुत है। यहाँ राजापद राजन्य अर्थात् क्षत्रिय का वाचक है। स्वाराज्य, महाराज्य, साम्राज्य आदि राजा की उपाधियाँ थीं जो यज्ञविशेष सम्पन्न करने पर प्राप्त होती थीं। महाभारत में स्पष्ट निरूपित है कि युधिष्ठिर ने सम्राट् की पदवी—साम्राज्य-प्राप्त करने के लिये राजसूय यज्ञ किया था।

किसी-किसी विधिवाक्य में फलस्वामी का विशेषण नहीं श्रुत होता है, वहाँ उसका आक्षेप कर लिया जाता है, और विशेषण का कार्य लिया जाता है। जैसे बहुत से यागों के कर्त्ता का निर्देश होता है किन्तु यह नहीं लिखा होता है कि वही व्यक्ति यज्ञ का अधिकारी है जिसने वेदाध्ययन करके मन्त्रों के अर्थ का ज्ञान भी कर लिया हो। यह वाक्य यज्ञविशेष के विधायक वाक्य के साथ संलग्न न होने से फलभोक्ता का श्रुत विशेषण नहीं हुआ, तथापि इस अध्ययनविधि का अध्याहार अनिवार्य है, क्योंकि यज्ञ की विधियों के अर्थ का ज्ञान अनिवार्य है और यह अर्थज्ञान अध्ययन के विना संभव नहीं। वस्तुतः याग का अधिकारी वही है जिसने विधिवत् अध्ययन करके मन्त्रार्थ को भलीभाँति जान लिया है। अतः 'स्वाध्यायोऽध्येतव्यः' यह अध्ययनविधि यद्यपि यागविशेष के विधायक वाक्य में अधिकारी के विशेषण के रूप में पठित नहीं है, अश्रुत है, तथापि कर्मसम्पादनार्थ अध्ययनविधि सिद्ध विद्या को यज्ञकर्त्ता का विशेषण स्वीकार करना ही पड़ेगा।

इसी प्रकार अग्निहोत्र से सम्बद्ध किसी भी विधान में अग्न्याधान-अग्नि की स्थापना करना—को अधिकारी का विशेषण मानना ही पड़ेगा, भले ही वह शब्दशः उक्त न हो क्योंकि कोई भी होमकर्म अग्नि के अभाव में सम्पन्न नहीं हो सकता और अग्नि तभी रह सकती है जब उसकी विधिवत् स्थापना की गयी हो। अतः अग्निहोत्र सम्बन्धी किसी भी कर्म के लिये वही व्यक्ति उचित समझा जायेगा जिसने अग्न्याधान कर लिया हो।

ऐसे ही अश्रुत होने पर भी कर्त्ता के विशेषण के रूप में उसकी देखने, सुनने, चलने आदि की शक्ति को भी मानना पड़ता है। कुमारिलभट्ट के अनुसार अर्थ की व्यञ्जना में पुरुष की शक्ति भी आख्यातों की सहायिका होती है। जैसे 'यजेत' एक तिङन्त पद है। इसमें यागार्थक यज् धातु तथा त प्रत्यय है। प्रत्यय में भी क्रिया का बोधक आख्यात अंश तथा विधान–चाहिये–का बोधक लिङंश भी है। याग की क्रिया-आख्यातार्थ-तब तक सम्पन्न नहीं हो सकती जब तक कर्त्ता में सामर्थ्य न हो। याग में अङ्ग रूप से अपेक्षित है 'आज्यावेक्षण क्रिया'—होम के पूर्व घृत को देखने का काम। यह तब तक नहीं हो सकती जब तक पुष्ट दोनों आँखों से युक्त कर्त्ता न हो। अन्धा व्यक्ति उसे सम्पन्न नहीं कर सकता। अतः देखने की शक्ति से युक्त होना एक सामर्थ्य है। यदि कोई भाग का फल चाहता है तो उसे इस शक्ति से युक्त होना ही चाहिये, भले ही उसका कथन विधिवाक्य में न हुआ है। इससे सिद्ध होता है कि बीच-बीच में आवश्यकता पड़ने के कारण, दर्शन, श्रवण, स्पर्शन आदि शक्तियों से रहित अन्ध, बधिर आदि यज्ञ के अधिकारी नहीं हैं।

इस प्रकार विधि-विवेचन समाप्त हुआ।

मन्त्रविभागः

अथ मन्त्रमीमांसा

(४६) प्रयोगसमवेतार्थस्मारका मन्त्राः। तेषां च तादृशार्थस्मारकत्वेनैवार्थवत्त्वम्। ननु तदुच्चारणमदृष्टार्थम्, संभवति दृष्टफलकत्वेऽदृष्टफलकल्पनाया अन्याय्यत्वात्, न च दृष्टस्यार्थस्मरणस्य प्रकारान्तरेणापि संभवान्मन्त्राम्नानं व्यर्थमिति वाच्यम्। मन्त्रैरेव स्मर्तव्यमिति नियमविध्याश्रयणात्।

कर्मानुष्ठान से सम्बद्ध अर्थ द्रव्य, देवता आदि का स्मरण कराने वाला वेद भाग मन्त्र है। उस प्रकार के अर्थ के स्मारक के रूप में ही उन मन्त्रों की सार्थकता है। उन मन्त्रों का उच्चारण अदृष्ट प्रयोजन के लिये नहीं है, क्योंकि दृष्टफल की संभावना रहते अदृष्ट फल की कल्पना अनुचित है। यह भी नहीं कहना चाहिये कि दृष्ट प्रयोजन का स्मरण दूसरे साधनों से हो सकता है इसलिये मन्त्र का उच्चारण निरर्थक है, क्योंकि 'मन्त्रों से ही (द्रव्य, देवता आदि का) स्मरण करना चाहिये' यहाँ नियमविधि का आश्रम लिया गया है।

यः सर्वकर्ता सकलात्मरूपश्चन्द्रार्कवह्नीक्षणकश्चिदात्मा।
साम्बो हि सोमार्धविभूषणाढ्यस्तं नौमि देवार्चितपादपीठम्॥ १॥

इदानीं मन्त्ररूपं वेदभागं निरूपयति—प्रयोगेति। तेषामिति। मन्त्राणामित्यर्थः। तादृशार्थेति। प्रयोगसमवेतार्थेत्यर्थः। अर्थवत्त्वमिति। प्रयोजनवत्त्वमित्यर्थः। ननु मन्त्रोच्चारणस्यादृष्टार्थकत्वेनाप्युपपत्तेः कुतस्तेषां प्रयोगसमवेतार्थस्मारकत्वेनैव प्रयोजनवत्त्वमित्यत आह—नत्विति। तदुच्चारणमिति। मन्त्रोच्चारणमित्यर्थः। तत्र हेतुमाह—दृष्टफलकत्व इति। ननु दृष्टस्य देवताद्यर्थस्मरणस्य ब्राह्मणवाक्यादिनापि संभवान्मन्त्रोच्चारणस्यादृष्टार्थकत्वानङ्गीकारे तदाम्नानस्य वैयर्थ्यापत्तिरित्याशङ्क्य मन्त्रैरेव सोऽर्थः स्मर्तव्य इति नियमविध्यङ्गीकारान्न मन्त्राम्नानस्य वैयर्थ्यमिति परिहरति—न चेत्यादिना।

वेद के अनेक विभागों में मन्त्रविभाग एक है। कर्मानुष्ठान करते समय अर्थ का स्मरण मन्त्र ही कराते हैं। अर्थस्मारकता मन्त्रों का दृष्ट प्रयोजन है। अतः यह नहीं कहा जा सकता कि मन्त्रोंचारण का कोई अदृष्ट अर्थ भी है, क्योंकि जब तक किसी कर्म का दृष्ट फल प्राप्त होता है, तबतक उसके अदृष्ट फल की संभावना नहीं की जा सकती। यह भी नहीं कहा जा सकता है कि याग के अर्थों का स्मरण मन्त्र के अतिरिक्त अन्य साधनों से भी किया जा सकता है। क्योंकि यह निश्चित विधान है कि द्रव्यदेवता आदि का स्मरण मन्त्रों से ही होना चाहिये, अन्य किसी साधन से नहीं। अतः मन्त्रों की सार्थकता है।

मन्त्र का यह लक्षण प्रायिक है अर्थात् वेद के बहुविध वाक्यों में सामान्यतः यही लक्षण जैसे-तैसे घटित हो पाता है, अन्य नहीं। कुछ मन्त्र अनुष्ठानस्मारक होते हैं, कुछ स्तुतिरूप होते हैं, कुछ प्रश्नरूप एवं कुछ उत्तररूप। इन अनेक प्रकार के मन्त्रों के सटीक भिन्न २ लक्षण हो सकते हैं, किन्तु सम्मिलित सबका एक सामान्य लक्षण यही बनता है क्योंकि प्रकारभिन्नता होने पर भी सबसे किसी-न-किसी प्रकार के अनुष्ठानोपयोगी अर्थ का ही ज्ञान होता है।[1] आचार्यों में प्रायः यही लक्षण प्रसिद्ध है, इसलिये भी इसे प्रायिक कहते हैं।

जहाँ मन्त्रों के उच्चारण के विना भी कल्पनामात्र से पद घटित कर लिया जाता है, वहाँ मन्त्रत्व नहीं स्वीकार किया जा सकता, भले ही उनसे अनुष्ठान के उपयोगी अर्थ का स्मरण क्यों न हो।[2] मूल में प्रयुक्त 'मन्त्राम्नानं'—मन्त्रोच्चारण का यही अभिप्राय है।

---

१. प्रायिकमिदं लक्षणम्। अतएव न्यायमालायां केचिन्मन्त्रा अनुष्ठानस्मारकाः, केचित् स्तुतिरूपाः, केचित् प्रश्नरूपाः केचिदुत्तररूपाः इत्येवमादीन् मन्त्रान् प्रदर्श्य ईदृशेष्वत्यन्तविजातीयेषु समाख्यानमन्तरेण नान्यः कश्चिदनुमतो धर्मोऽस्ति यस्य लक्षणत्वमुच्येत इत्यभिधाय तस्मादभियुक्तानां मन्त्रोऽयमिति समाख्यानं लक्षणमित्युक्तम्। प्रतिपादिका पृ० १०६

२. तदुक्तं पार्थसारथिमिश्रैः—
अभियुक्तप्रसिद्धया हि मन्त्रत्वमवकल्प्यते। स्वाध्यायकाले तेषाञ्च समाम्नातेषु मन्त्रधीः॥
मन्त्रानध्यापयामोऽद्य तथा मन्त्रानधीमहे। समाम्नानबहिर्भूत ऊहादौ नास्ति मन्त्रधीः॥
वही पृ० १०७ पर उद्धृत

'इति नियमविध्याश्रयणात्' का अर्थ यह है कि 'मन्त्रैरेव स्मर्तव्यम्' में 'एव' के प्रयोग से निश्चित कर दिया गया है कि अर्थस्मरण के अनेक साधनों के होने पर भी केवल मन्त्ररूप साधन का ग्रहण अभीष्ट है, अन्यों का नहीं। नियमविधि का यही कार्य है कि जहाँ कोई 'कर्म' अनेक साधनों से साध्य हो, वहाँ अन्यों का निरास करके केवल एक अप्राप्त का विधान हो।

नियमविधिः

(४७) नानासाधनसाध्यक्रियायामेकसाधनप्राप्तावप्राप्तस्यापरसाधनस्य प्रापको विधिर्नियमविधिः। यथाहुः 'विधिरत्यन्तमप्राप्तौ नियमः पाक्षिके सति। तत्र चान्यत्र च प्राप्तौ परिसंख्येति गीयत' इति। अस्यार्थः—प्रमाणान्तरेणाप्राप्तस्य प्रापको विधिरपूर्वविधिः, यथा 'यजेत स्वर्गकाम' इत्यादिः। स्वर्गार्थकयागस्य प्रमाणान्तरेणाप्राप्तस्यानेन विधानात्।

पक्षेऽप्राप्तस्य प्रापको विधिर्नियमविधिः, यथा 'व्रीहीनवहन्ती'त्यादिः। कथमस्य पक्षेऽप्राप्तप्रापकत्वमिति चेदित्थम्। अनेन ह्यवघातस्य वैतुष्यार्थत्वं न प्रतिपाद्यतेऽन्वयव्यतिरेकसिद्धत्वात्, किंतु नियमः। स चाप्राप्तांशपूरणम्। वैतुष्यस्य हि नानोपायसाध्यत्वाद्यदाऽवघातं परित्यज्य उपायान्तरं ग्रहीतुमारभते, तदाऽवघातस्याप्राप्तत्वेन तद्विधाननामकमप्राप्तांशपूरणमेवानेन विधिना क्रियते। अतश्च नियमविधावप्राप्तांशपूरणात्मको नियम एव वाक्यार्थः। पक्षेऽप्राप्तावघातस्य विधानमिति यावत्।

अनेक उपायों से सम्पाद्य क्रिया में एक साधन प्राप्त होने पर दूसरे अप्राप्त साधन को प्राप्त कराने वाला विधायक वाक्य नियमविधि है। जैसा कहा गया है—अत्यन्त अप्राप्त (अर्थात् दूसरे प्रमाण से जिसका ज्ञान नहीं होता है उस) का विधान करने वाली विधि को (अपूर्व) विधि कहते हैं, पक्ष में अप्राप्त के प्रापक को नियमविधि तथा वहाँ और अन्यत्र भी (अर्थात् एक समय में युगपत् प्राप्ति रहने पर अन्यों की व्यावृत्ति हेतु) परिसंख्या का विधान है। इसका अर्थ है कि दूसरे प्रमाण से अप्राप्त अर्थ की प्रापक विधि अपूर्वविधि है। जैसे—'यजेत स्वर्गकाम' इत्यादि। दूसरे प्रमाण से अप्राप्त स्वर्गरूप प्रयोजन को सिद्ध करने वाले याग का विधान इस विधि से होता है।

पक्ष में अप्राप्त को प्राप्त कराने वाली विधि नियमविधि है। जैसे 'व्रीहीन् अवहन्ति' इत्यादि। 'पक्ष में अप्राप्त का प्रापकता इसकी कैसे है?' यदि यह (प्रश्न) हो तो इस प्रकार का (उत्तर) है। इस विधि के द्वारा अवघात की वैतुष्यार्थकता—भूसी को अलग करना रूप उद्देश्य—नहीं प्रतिपादित की जा रही है, क्योंकि (वैतुष्यकर्म) अन्वय (–इस साधन के ग्रहण करने पर भी–) और व्यतिरेक से (–इस साधन के न ग्रहण करने पर भी) सिद्ध हो ही जाता है, अपितु यहाँ नियम (प्रतिपादित है।) नियम कहते हैं अप्राप्त अंश की पूर्ति को। तुषविमोचन अनेक साधनों से संभव होने से जब अवघात को छोड़कर कोई दूसरे उपाय को ग्रहण करने लगता है, तब अवघात के अप्राप्त होने से उसके विधान नामक अप्राप्त अंश की पूर्ति ही इस विधि के द्वारा की जाती है। इसलिये नियमविधि में अप्राप्त अंश का पूर्तिरूप नियम ही वाक्य का अर्थ होता है, क्योंकि इससे पक्ष में अप्राप्त अवघात का विधान किया जाता है।

ननु किंलक्षणको नियमविधिर्यदाश्रयणादन्यस्यार्थस्मारकस्य व्यवच्छेदो लभ्यत इत्याशङ्क्य नियमविधिलक्षणमाह—नानासाधनेति। 'तत्र संमतिमाह—यथाहुरिति। तां व्याचष्टे—अस्यार्थ इत्यादिना। तत्रापि विधिरत्यन्तमसंप्राप्ताविति प्रथमपादमपूर्वविधिपरं व्याचष्टे—प्रमाणान्तरेणेति। प्रमाणान्तरेण तदर्थत्वेनाप्राप्तस्य तदर्थत्वेन प्रापको यो विधिः सोऽपूर्वविधिरित्यर्थः। तत्रोदाहरणमाह—यथेति। तस्यापूर्वविधित्वे हेतुमाह—स्वर्गेति। स्वर्गार्थकत्वेन प्रमाणान्तरेणाप्राप्तस्य यागस्य तदर्थत्वेन 'यजेत स्वर्गकाम' इत्यनेन विधानाद्भवत्ययमपूर्वविधिरित्यर्थः।

नियमः पाक्षिके सतीति द्वितीयपादं प्रकृते संमतिरूपं व्याचष्टे—पक्षेऽप्राप्तस्येति। तत्रोदाहरणमाह—यथेति। ननु व्रीहीनवहन्तीत्यस्यावघातविधेः कथं पक्षेऽप्राप्तस्यावघातस्य प्रापकत्वं स्वीक्रियते, वैतुष्यार्थत्वेन प्रमाणान्तरेणाप्राप्तस्य तस्य तदर्थत्वेनानेन विधानोपपत्तेरित्याशङ्क्यानेन हि विधिनावघातस्य वितुषतार्थत्वं न प्रतिपाद्यते, तस्य तदर्थत्वेनान्वयव्यतिरेकसिद्धत्वात्, अवघातादिसत्त्वे व्रीहीणां वैतुष्यं जायते, तदसत्त्वे तदभाव इति सर्वजनीनमिति परिहरति—कथमित्यादिना। इत्थमिति। अनेन वक्ष्यमाणप्रकारेणेत्यर्थः। ननु यद्यवघातादीनां सर्वेषामेव वैतुष्यार्थत्वमन्वयव्यतिरेकाभ्यां सिद्धं तदा 'व्रीहीनवहन्ती' त्यवघातविधेरन्वयव्यतिरेकसिद्धावघातप्रापकत्वेन वैयर्थ्यमेवापद्येत अनुवादकत्वादित्याशङ्कते–किंत्विति। नास्य विधेरनुवादकत्वेन वैयर्थ्यं संभवति, नियमविधायकत्वेनानुपपत्तेरिति परिहरति—नियम इति। व्रीहीणां वैतुष्यमवघातेनैव संपादनीयमिति नियमः प्रतिपाद्यत इत्यर्थः। ननु तादृशनियमप्रतिपादनेऽत्र कीदृशो वाक्यार्थो भवतीत्यत आह—स चेति। स एवाप्राप्तांशपूरणरूपो नियमोऽत्र वाक्यार्थ इत्यर्थः। ननु कथमत्राप्राप्तांशो लभ्यते यस्य पूरणेनास्य विधेः सार्थक्यमित्यतोऽत्राप्राप्तांशपूरणरूपमेव वाक्यार्थमुपपादयति—वैतुष्येत्यादिना। उपपादितमप्राप्तांशपूरणरूपं वाक्यार्थमुपसंहरति—अतश्चेति। अस्य विधेरप्राप्तांशपूरणरूपनियमप्रतिपादकत्वाच्चेत्यर्थः। पर्यवसितार्थमाह—पक्ष इति यावदिति। पर्यवसन्नमित्यर्थः।

इस प्रकरण में अपूर्व एवं नियमविधियों का निरूपण मूल में उद्धृत 'विधिरत्यन्तमप्राप्तौ' तथा 'नियमः पाक्षिके सति' की व्याख्या के रूप में है। यहाँ 'पक्ष' का अर्थ है 'सम्पाद्यमान क्रिया।' पक्ष अर्थात् क्रिया से सम्बद्ध जब कोई विधान नहीं रहता है, तब उसके विषय में विधायक मन्त्र को अपूर्वविधि कहते हैं। विधायक एकमात्र वाक्य को छोड़कर कोई दूसरा वाक्य अथवा प्रमाण का न मिलना 'प्रमाणान्तरेण अप्राप्ति' है। उसके पूर्व किसी भी विधिवाक्य का न मिलना ही 'अपूर्वता' है, न कि फलविशेष का नाम। 'यजेत स्वर्गकामः' आदि इसी प्रकार की अपूर्वविधि है। इस वाक्य के अतिरिक्ति अन्य कोई भी वाक्य नहीं है जिससे स्वर्ग की प्राप्ति का साधन याग को बतलाया गया हो। अतः इसके द्वारा प्रमाणान्तर से अप्राप्त स्वर्ग के कारणभूत याग का विधान किये जाने से, यहाँ अपूर्वविधि है।

नियमविधि के द्वारा भी अप्राप्त की ही प्राप्ति करायी जाती है, किन्तु इसमें अपूर्वविधि से भिन्नता है। अपूर्वविधि जिस कर्म का ज्ञान कराती है, उसका ज्ञान उससे भिन्न किसी दूसरे साधन से नहीं हो पाता, किन्तु नियमविधि के उदाहरणों में देखा जाता है कि लोग जब एक क्रिया के अनेक साधनों में से एक को स्वभावतः स्वीकार कर लेते हैं, और दूसरे को नहीं, तब नियमविधि अगृहीतसाधन का विधान करतो है। अपूर्वविधि के अभाव में जहाँ उसके विषय का सम्पादन नहीं

हो सकता, वहीं नियमविधि के प्रतिपाद्य का सम्पादन अन्य प्रमाणों से भी हो सकता है। यदि नियमविधि के द्वारा ही उसकी क्रिया सम्पन्न हो सकती तो उसकी प्रवृत्ति न होने पर सम्पन्न न हो सकती। इस प्रकार नियमविधि के प्रवृत्त होने पर भी क्रिया सम्पन्न हो जाती है और न प्रवृत्त होने पर भी, अतः ध्यान देने पर ज्ञात होता है कि इससे क्रिया का प्रतिपादन न होकर वस्तुतः अप्राप्त अंश का पूरण होता है। 'अन्वयव्यतिरेकसिद्धत्वात्' आदि अंश का यही अर्थ है।

पुरोडाश के लिये अपेक्षित चावल हेतु पहले धान से भूसी अलग करना अपेक्षित होता है। इसी क्रिया को वैतुष्य, तुषविमोचन आदि कहते हैं। यह वैतुष्य अनेक रीतियों से हो सकता है, जैसे नख से, सिल पर पत्थर से रगड़ने से आदि। जब कोई व्यक्ति अवघात—मूसल से ओखली में कूटना–को छोड़कर कोई भिन्न उपाय ग्रहण करने लगता है, उस समय दूसरा उपाय होता है प्राप्त और अवघात होता है अप्राप्त। शास्त्रवाक्य इस अप्राप्त उपाय का भी ज्ञान कराने के लिये 'व्रीहीन् अवहन्ति'-धान को कूटता है—का विधान करता है। इससे प्राप्त उपाय के अतिरिक्त अप्राप्त उपाय का विधान होता है। अनेक उपायों में एक उपाय अंशमात्र होता है, अतः एक के प्राप्त होने पर दूसरे का ग्रहण वस्तुतः आंशिक आपूर्ति है। 'अप्राप्तांशपूरण' का यह अभिप्राय है। इस प्रकार नियमविधि वाक्य का अर्थ जहाँ अप्राप्तांशपूरणरूप होता है, वहीं तुषविमोचन क्रियारूप पक्ष में अप्राप्त अवघातन का विधान भी होता है। दोनों का तात्पर्य एक ही है।

परिसंख्याविधिः

(४८) उभयोश्च युगपत्प्राप्तावितरव्यावृत्तिपरो विधिः परिसंख्याविधिः। यथा–'पञ्च पञ्चनखा भक्ष्या' इति। इदं हि वाक्यं न पञ्चनखभक्षणपरं, तस्य रागतः प्राप्तत्वात्। नापि नियमपरं, पञ्चपञ्चनखभक्षणस्य युगपत्प्राप्तेः पक्षेऽप्राप्त्यभावात्। अत इदमपञ्चनखभक्षणनिवृत्तिपरमिति भवति परिसंख्याविधिः।

दोनों विधानों के एक साथ प्राप्त होने पर एक की निवारकविधि को परिसंख्याविधि कहते हैं। जैसे–'पञ्च०'–पाँच नाखूनों वाले पाँच ही प्राणी भक्ष्य हैं।' यह वाक्य पञ्चनख के भक्षण का विधायक नहीं है, क्योंकि भक्षण की प्राप्ति (मनुष्य को) स्वभाव से ही होती है। और न तो (यह वाक्य) नियमपरक—अप्राप्त अंश का पूरक—ही है, क्योंकि पाँच पाँचनखों वाले प्राणियों की एक साथ प्राप्ति होने से पक्ष में एक की अप्राप्ति नहीं है। इसलिये यह वाक्य पाँच नख न रखने वाले प्राणियों के भक्षण की निवृत्ति करता है, अतः परिसंख्याविधि है।

तत्र चेत्याद्युत्तरार्धं परिसंख्याविधिपरं व्याचष्टे—उभयोश्चेति। तत्रोदाहरणमाह—यथेति। अस्यात्यन्तमप्राप्तविधित्वरूपमपूर्वविधित्वमाशङ्क्य निराचष्टे—इदं हीति। तत्र हेतुमाह—तस्येति। पञ्चनखभक्षणस्येत्यर्थः। अस्य वाक्यस्य नियमविधित्वमपि निराचष्टे–नापीति। तत्रापि हेतुमाह—पञ्चनखेति। अत इति। विधिद्वयासंभवादित्यर्थः। इदमिति। 'पञ्च पञ्चनखा भक्ष्या' इति वाक्यमित्यर्थः। अपञ्चनखभक्षणवृत्तिस्तु न केनापि प्राप्ता ततश्च तद्विधायकत्वेन नास्य वाक्यस्यानुवादकत्वमपि। तथा च सैवात्र वाक्यार्थ इति भावः।

इसमें पहले उद्धृत कारिका के उत्तरार्ध 'तत्र चान्यत्र च' आदि की व्याख्या है। परिसंख्या शब्द विचारणीय है। इसका 'परि' शब्द वर्जन अर्थ में है, और संख्या का अर्थ है बुद्धि या ज्ञान। इस प्रकार परिसंख्या वर्जनबुद्धि का नाम है। इस वर्जनबुद्धि का विधायक वाक्य परिसंख्या-

विधि है।[1] जहाँ पर कोई क्रिया रागतः तथा शास्त्रतः दोनों ओर से एक ही साथ प्राप्त होती है, अर्थात् लोकप्रवृत्ति तथा शास्त्र दोनों से एक साथ किसी क्रिया का सम्पादन विहित होता है, वहाँ उस क्रिया से भिन्न क्रिया का निवर्तन कराने वाला वाक्य परिसंख्या है। उदाहरणार्थ, 'पञ्च पञ्चनखा भक्ष्याः' वाक्य लिया जा सकता है। मांसभक्षी लोग पञ्चनख तथा अपञ्चनख दोनों प्रकार के जीवों का भक्षण करते हैं। इसके लिये कोई शास्त्रविधान नहीं करता, अतः इसको रागतः प्राप्त कहा जाता है। दूसरी ओर 'पञ्च पञ्चनखाः भक्ष्याः' शास्त्र से प्राप्त है।[2] इस प्रकार एक ही पञ्चनख भक्षण-क्रिया रागतः तथा शास्त्रतः दोनों ओर से प्राप्त है। एक ही समय में उसका सम्पादन दोनों ओर से विहित है। इस स्थिति में 'पञ्चनखभक्षण' की प्रवृत्ति से भिन्न 'अपञ्चनख भक्षण से निवृत्ति' का प्रतिपादन परिसंख्या का कार्य है। 'पञ्च पञ्चनखा भक्ष्याः' का अर्थ है 'जिन प्राणियों के पाँच नख नहीं हैं उनका भक्षण नहीं करना चाहिये'—यही 'अपञ्चनखभक्षणनिवृत्तिपरता' है, यही 'उभयोश्च युगपत्प्राप्तौ इतरव्यावृत्ति परत्व' है, न कि 'पाँच पञ्चनखों के भक्षण का विधान।' 'इतरव्यावृत्तिपर' का अर्थ है 'उपदिष्ट से भिन्न का वर्जक'।

'पञ्च पञ्चनखा भक्ष्याः' अपूर्वविधि नहीं है, क्योंकि उसमें प्रतिपाद्य का ज्ञान प्रमाणान्तर से नहीं होता है, किन्तु यहाँ पञ्चनखभक्षण रागतः प्राप्त है। यहाँ नियमविधि भी नहीं है क्योंकि उसमें अप्राप्तांश का पूरण होता है और रागतः प्राप्त का ही बाध होता है, जब कि वर्तमान वाक्य में रागतः तथा शास्त्रतः--उभयतः--प्राप्त क्रिया से भिन्न का निवर्तन होता है। अर्थात् यहाँ शास्त्रतः पञ्चनखभक्षण और रागतः अपञ्चनखभक्षण भी प्राप्त है, किन्तु विधान है 'अपञ्चनख के अभक्षण का'। नियमविधि तथा परिसंख्या में यह भी भेद है कि नियमविधि में रागतः अप्राप्त का ही विधान होता है, अर्थात् उसमें प्राप्त एक ही उपाय होता है, दूसरा अप्राप्त होता है और उसी का विधान होता है, जब कि परिसंख्या में दोनों से ही प्राप्ति होती है।

परिसंख्यायाः श्रौतीत्वलाक्षणिकीत्वभेदौ।

(४९) सा च द्विविधा–श्रौती लाक्षणिकी चेति। तत्र 'अत्र ह्येवावपन्ती' ति श्रौती परिसंख्या। एवकारेण पवमानातिरिक्तस्तोत्रव्यावृत्तेरभिधानात्। 'पञ्च पञ्चनखा भक्ष्या' इति तु लाक्षणिकी। इतरनिवृत्तिवाचकपदाभावात्। अत एवैषा त्रिदोषग्रस्ता।

परिसंख्याया दोषत्रयम्

दोषत्रयं च श्रुतहानि-रश्रुतकल्पना प्राप्तबाधश्चेति। तदुक्तम्–'श्रुतार्थस्य परित्यागादश्रुतार्थस्य कल्पनात्†। प्राप्तस्य बाधादित्येवं परिसंख्या त्रिदूषणा' इति।

---

१. परिशब्दोऽत्र वर्जनार्थः। 'परेर्वर्जने' (८। १। ५) इति पाणिनिस्मृतेः। संख्या बुद्धिः। परिसंख्या वर्जनबुद्धिः। परिसंख्याजनकः विधिः परिसंख्याविधिः। Karmarkar: The Arthasamgraha से.

२. रामायण तथा देवलस्मृति में भक्ष्य पञ्चनखों के नाम ये हैं—

पञ्च पञ्चनखा भक्ष्या ब्रह्मक्षत्रेण राघव।
शशकः शल्लकी गोधा खड्गी कूर्मोऽथ पञ्चमः॥ रामायण।
पञ्च पञ्चनखा भक्ष्या धर्मतः परिकीर्तिताः।
गोधा कूर्मः शशः खङ्गः शल्यकश्चेति ते स्मृताः॥ देवलस्मृति।

द्रष्टव्य मनुस्मृति॥ ५। १८॥

† श्रुतार्थप्रकल्पनम्। इति पाठा०

श्रुतस्य पञ्चनखभक्षणस्य हानात्, अश्रुताऽपञ्चनखभक्षणनिवृत्तेः कल्पनात्, प्राप्तस्य चापञ्चपञ्चनखभक्षणस्य बाधनादिति। अस्मिंश्च दोषत्रये दोषद्वयं शब्दनिष्ठम्। प्राप्तबाधस्त्वर्थनिष्ठ इति दिक्।

येषां तु प्रयोगसमवेतार्थस्मारकत्वं न संभवति तदुच्चारणस्यानन्यगत्याऽदृष्टार्थकत्वं कल्प्यत इति नानर्थक्यमिति।

वह (परिसंख्या) दो प्रकार की है—श्रौती और लाक्षणिकी। इन दोनों में 'अत्र ह्येवावपन्ति'—यहाँ पर (पवमानस्तोत्र में) ही आवाप करते हैं' इस में श्रौती परिसंख्या है। 'एव' के द्वारा पवमान से अतिरिक्त स्तोत्र की निवृत्ति का अभिधा से कथन है। 'पञ्च पञ्चनखा भक्ष्याः, यह तो लाक्षणिकी है, क्योंकि इसमें अनपेक्षित क्रिया की व्यावृत्ति का वाचक पद नहीं है। इसी से यह (लाक्षणिकी) तीन दोषों से युक्त होती है। तीनों दोष हैं—श्रुत हानि, अश्रुतकल्पना और प्राप्तबाध। यह कहा गया है--'श्रुत अर्थ का परित्याग करने से, अश्रुत अर्थ की कल्पना करने से और राग या प्रमाणान्तर से प्राप्त अर्थ का बाध होने से परिसंख्या तीन दोषों से युक्त होती है।' श्रुत पञ्चनखभक्षण के परित्याग से, अश्रुत अपञ्चनखभक्षण की निवृत्ति की कल्पना से, और प्राप्त अपञ्चनखभक्षण (अर्थात् अनुमोदित पाँच पञ्चनखों के अतिरिक्त अन्य पञ्चनखों के भक्षण के बाधन से (उक्त कारिका का अभिप्राय यह है।) इन तीन दोषों में से दो दोष शब्दनिष्ठ हैं। प्राप्तबाध तो अर्थनिष्ठ है। यह प्रतिपादन का अभिप्राय है।

जिनके अनुष्ठान से सम्बद्ध अर्थ की स्मारकता नहीं सिद्ध होती है, उनके उच्चारण की, और कोई गति न होने से, अदृष्टार्थकता कल्पित की जाती है, इसलिये उनकी व्यर्थता नहीं है।

सा च परिसंख्या द्विविधेत्याह—सा चेति। **आद्यामुदाहरति**—तत्रेति। **द्वयोः परिसंख्ययोर्मध्य इत्यर्थः।** अत्रेति। **प्रकृत इत्यर्थः।** अवयन्तीति। **अवजानन्तीत्यर्थः, गायन्तीति यावत्। श्रौत्याः परिसंख्यायास्तत्त्वे हेतुमाह**—एवकारेणेति। **द्वितीयामुदाहरति**—पञ्चेति। **पञ्च पञ्चनखास्तु 'पञ्च पञ्चनखा भक्ष्या ब्रह्मक्षत्रेण राघव। शशकः शल्लकी गोधा खड्गी कूर्मोऽथ पञ्चमः' इत्यादिवचनोदाहृता बोध्याः। अस्या अपि तत्त्वे हेतुमाह**—इतरनिवृत्तीति। अत एवेति। **इतरनिवृत्तिवाचकपदाभावादित्यर्थः।** एषेति। **लाक्षणिकीत्यर्थः।**

दोषत्रयं प्रदर्शयति—दोषत्रयं चेति। **तत्र श्रुतहानौ हेतुमाह**—श्रुतस्येति। **अश्रुतकल्पनायां हेतुमाह**--अश्रुतेति। **प्राप्तस्य बाधेऽपि हेतुमाह**--प्राप्तस्येति। **रागतः प्राप्तस्येत्यर्थः। अस्य दोषत्रयस्य व्यवस्थया वृत्तित्वमाह**--अस्मिंश्चेति। **दोषत्रयमध्य इत्यर्थः।**

ननु कथं सर्वेषां मन्त्राणां प्रयोगसमवेतार्थस्मारकत्वेनैवार्थवत्त्वमुपपद्यते हुंफडादिमन्त्राणां प्रयोगसमवेतार्थस्मारकत्वासंभवादित्याशङ्क्याह--येषामित्यादिना। तदुच्चारणस्येति इति। **हूंफडादिमन्त्रोच्चारणस्येत्यर्थः। अनन्यगत्यादृष्टार्थत्वमिति पदच्छेदः।** इति नानर्थक्यमिति। **अतो हेतोर्हुंफडादिमन्त्राणां नानर्थक्यमित्यर्थः।**

यहाँ परिसंख्या के दो भेदों का निरूपण किया गया है। जिसमें व्यावर्तक पद विद्यमान होता है, पाठतः उपस्थित होता है, उसको श्रौती कहते हैं। यथा—"अत्र ह्येव आवपन्ति" में 'एव' पद श्रुत है, वाक्य में पठित है। यह अवधारणार्थक है। इससे स्पष्ट होता है कि पवमानस्तोत्र में

ही आवाप होता है। 'ही' का अर्थ है 'अन्यत्र नहीं'। इतरव्यावर्तन का वाचक पद विद्यमान रहने से यह श्रौती परिसंख्या का उदाहरण हुआ।

'अवयन्ति' या आवपन्ति? मीमांसा के कई ग्रन्थों में 'अवयन्ति'[1] पाठ है और अनेकों में 'आवपन्ति'। 'एव' के साथ सन्धि करने पर वकारोत्तरवर्ती 'अकार' तथा 'अवयन्ति' के आदि का अकार दोनों मिलकर दीर्घ हो जाते हैं और रूप 'एव् अ+अ वयन्ति=एव आ वयन्ति=एवावयन्ति बन जाता है। इसी प्रकार 'एव' के वकारोत्तरवर्ती अकार से 'आवपन्ति' के आदिवर्ण 'आकार' से भी सन्धि होकर दीर्घ रूप ही बनता है—एव् अ+आ वपन्ति=एव् आवपन्ति = एवावपन्ति। अतः पाठ-निर्णय में सन्धिविच्छेद से कोई सहायता नहीं मिलती। अर्थ की असङ्गति पर विचार करने से पाठ-निर्धारण में सहायता मिलती है। 'अर्थसंग्रह' की थीबो महोदय की, जीवानन्दविद्यासागर की, चौखम्बा सीरीज़ की, यहाँतक कि विभिन्न स्थानों की मीमांसान्यायप्रकाश' की भी प्रकाशित प्रतियों में, 'अवयन्ति' ही मुद्रित है। 'अर्थसंग्रह' की प्रसिद्ध टीका 'मीमांसार्थसंग्रह-कौमुदी' के रचयिता श्रीरामेश्वर शिवयोगी ने किसी वैकल्पिक पाठ का उल्लेख किये बिना ही 'अवयन्तीति। अवजानन्तीत्यर्थः गायन्तीति यावत्'—अर्थ कर दिया है।[2] थीबो ने भी 'गायन अर्थ ही लिया है।[3] मीमांसा-न्यायप्रकाश की 'भाट्टालङ्कारटीका' के कर्त्ता श्री अनन्तदेव ने मूल में पाठ 'अवयन्ति' रहते भी 'आवपन्ति' का ही प्रयोग किया है।[4] पं० चिन्नस्वामी ने इस पाठ को स्वीकार करने वाली और अर्थसङ्गति हेतु कपोलकल्पना करने वालों को सम्प्रदाय से आगत ज्ञान से अनभिज्ञ कहा है।[5] श्री कृष्णनाथ भट्टाचार्य ने अपनी 'प्रतिपादिका' टीका में 'आवपन्ति' पाठ ही दिया है, और 'अवयन्ति' का कहीं उल्लेख तक नहीं किया। स्वीकृत पाठ के अनुसार ही व्याख्या भी की है।[6] ऐसा प्रतीत होता है कि हस्तलिखित अथवा मुद्रित प्रति में कहीं अनवधानता से 'प' के स्थान पर 'य' हो गया होगा और परवर्ती रामेश्वरशिवयोगि सदृश विद्वानों ने भी उसी को शुद्ध समझकर टीका कर दी होगी। एक बार परम्परा चल जाने पर परवर्तियो द्वारा बहुत ध्यान न दिया जाना अस्वाभाविक नहीं।

'आवपन्ति' आदि की व्याख्या—श्रीकृष्णनाथ भट्टाचार्य के आधार पर इस मन्त्र की व्याख्या दी जारही है। कोई यागविशेष प्रकृति है। उसमें पवमान आदि नामक अनेक स्तोमों के रूप में साममन्त्रों का गायन अपेक्षित है। उस प्रकृतियाग के विकृतियागों में कहीं तो प्रकृतिगत स्तोमों की संख्या प्रकृतियाग में विहित मन्त्रों की संख्या से अधिक अपेक्षित है और कहीं कम। जैसे—'एकविंशेनातिरात्रेण प्रजाकामं याजयेत्' 'त्रिणवेनौजस्कामम्' 'एकविंशेन प्रतिष्ठाकामम्' 'द्वात्रिंशाः पवमाना अभिषेचनीयस्य, इत्यादि में। 'पवमान' आदि स्तोमनामक सामविशेष है। शबरभाष्य के दशम अध्याय के पञ्चम पाद में इस आशय का कथन है—

दश सामसहस्राणि शतानि च चतुर्दश।
साङ्गानि सरहस्यानि यानि गायन्ति सामगाः॥

---

१. 'अवयन्ति पाठ लेने पर अर्थ होगा—'यहाँ पर ही गाते हैं।'

२. अर्थसंग्रह—यहीं पृ० १५०

3. "For there only they sing; for here the (directly enunciated) word "only" intimates the exclusion of all stotras except the pavamana. Dr. G. Thibaut : Arthasamgraha. p. 33, Varanasi

४. द्रष्टव्य मी० न्या० प्र० भाट्टालंकारटीका—पृ० ३२५, ३२६ आदि।

५. यदपि कैश्चित् एतद्ग्रन्थव्याख्याने पवमानसंज्ञक-नानास्तोमलक्षणानि सामानि स्तोमाख्य-मन्त्राणाम्, इत्यादिकमुक्तं तत्सर्वं सम्प्रदायागतशास्त्रीयपदार्थाज्ञानमूलकमित्युपेक्षितव्यम्—सारविवेचिनी पृ० ११६.

६. अर्थसंग्रह—प्रतिपादिकाटीका पृ० ११२, ११४.

अशीतिशतमाग्नेयं पवमानं चतुःशतम् ।
ऐन्द्रं स्यात सप्तविंशानि यानि गायन्ति सामगाः ॥[1]

जिन विकृतियागों में प्रकृतियागों में विहित स्तोममन्त्रों से अधिक संख्या अपेक्षित होती है उनको 'विवृद्धस्तोम' तथा न्यूनसंख्या वालों को 'अविवृद्धस्तोम' कहा जाता है। 'प्रकृतिवद् विकृतिः कर्त्तव्या' इस अतिदेश वाक्य के कारण प्रकृतियागों में अपेक्षित मन्त्रों के गायन के साथ ही विकृतियागों में अपेक्षित शेष अधिक ऋचाओं का ग्रहण करके निर्दिष्ट संख्या की पूर्ति कर ली जाती है। इससे प्रकृतिबाध भी नहीं होता है और अधिक संख्या भी व्यर्थ नहीं होती। 'अविवृद्धस्तोम' यागों में प्राकृतस्तोमों में से कुछ का बाध हो जाता है, क्योंकि प्रकृतियाग के सभी मन्त्रों का ग्रहण करने पर विकृतियाग में विहित संख्या का उच्चारण व्यर्थ हो जायेगा। अतः जितने सामों को निकालने से संख्या की पूर्ति हो जाती है उतने ही को निकाला जाता है।[2]

विवृद्धस्तोमक विकृतियाग में प्रकृतियाग से सम्बद्ध ऋचा को लेते हुए विकृति में निर्दिष्ट संख्या की पूर्ति के लिये अन्य ऋचाओं का उपादान 'आवाप' है। इसी प्रकार 'अविवृद्धस्तोम' में प्राप्त प्रकृति से सम्बद्ध ऋचाओं में विकृति में विहित संख्या के कारण उतनी ही ऋचाओं को लेकर अन्यों का परित्याग करना 'उद्वाप' है। अब प्रश्न यह है कि विकृतियाग की संख्या की पूर्ति के लिये अन्य ऋचाओं का निवेशनरूप 'आवाप' क्या जिस किसी भी स्तोम नामक स्तोत्र में किया जा सकता है अथवा केवल 'पवमाननामक स्तोत्र' में ही। इसी प्रकार उद्वाप भी विकृति की संख्या के अनुसर क्या किसी भी स्तोम से हो सकता है अथवा 'पवमान' से ही? इसका उत्तर है कि 'केवल पवमान' में ही। 'पवमान एव स्यातां तस्मिन्नावापोद्वापदर्शनात्' इस मीमांसा सूत्र के अनुसार सिद्धान्तित विषय का ही उल्लेख अर्थसंग्रह में किया गया है।

यहाँ स्मरणीय है कि 'आवाप' का अर्थ अन्य ऋचाओं का सन्निवेश अवश्य किया गया है, किन्तु वस्तुतः न तो पवमानस्तोत्र से भिन्न स्तोत्रों से कोई ऋचा ली जाती है और न प्रकृतियाग में निर्दिष्ट मन्त्रों से भिन्न ही कुछ ऋचाएँ ली जाती हैं, अपितु प्रकृतियाग हेतु निर्दिष्ट गायत्री, बृहती और अनुष्टुप् छन्दों में से ही संख्या पूर्ति के लिये आवश्यकतानुसार दो अथवा तीन बार अभ्यास कर लिया जाता है—द्विरुक्ति या त्रिरुक्ति कर ली जाती है। यह अभ्यास पवमान के अतिरिक्त दूसरे स्तोत्र में नहीं होता है। इसी प्रकार उद्वाप में भी पवमानस्तोत्र से ही गायत्री, बृहती अथवा अनुष्टुप् छन्दों वाली किन्हीं भी ऋचाओं का परित्याग किया जा सकता है, किसी दूसरे स्तोत्र से नहीं।[3] 'एवकारेण पवमानातिरिक्तस्तोत्रव्यावृत्तेरभिधानात्' का अर्थ हुआ—'पवमानस्तोत्रे स्तोत्रान्तरे च आवापोद्वापसम्बन्धप्राप्तौ अत्र ह्येवेति अत एवेति एव शब्दाभ्यां स्तोत्रान्तरे आवापोद्वापसम्बन्धो व्यावर्त्यते।'[4] चिन्नस्वामी के अनुसार पवमानातिरिक्त के दो अर्थ हो सकते हैं।—१-पवमानस्तोत्र के गायत्री, बृहती और अनुष्टुप्, इन तीन छन्दों के अतिरिक्त २-पवमानस्तोत्र से अतिरिक्त। अतः इनके अनुसार उक्त पंक्ति का अर्थ हुआ—'गायत्री, बृहती और अनुष्टुप् इन तीनों के अतिरिक्त पवमानस्तोत्र सम्बन्धी छन्दों में 'आवाप' नहीं करना चाहिये अथवा पवमान से अतिरिक्त स्तोत्रों

---

१. प्रतिपादिका टीका पृ० ११२.

२. स्तोमविवृद्धौ त्वधिकम् स्याद् अविवृद्धौ द्रव्यविकारः स्यादितरस्या श्रुतित्वादिति। मी० सू० १०।४।

३. यत्रावापेन वैकृतसंख्या पूरणीया स्यात् तत्र पवमान एवप्राकृतमन्त्राणां गायत्र्यादिच्छन्दस्कानां द्विस्त्रिरभ्यासेन वैकृतसंख्यापूरणं कार्यम्। न तु स्तोत्रान्तरे तथाविधाभ्यासः कार्यो नापि मन्त्रान्तरसन्निवेशरूप आवापः। एवं यत्रोद्वापेन वैकृतसंख्यास्क्षणीया स्यात् तत्रापि पवमानस्तोत्रादेव गायत्र्यादिच्छन्दस्कानां कासांचिदृचां परित्यागः कर्त्तव्यो न तु स्तोत्रान्तरादिति भावः। प्रतिपादिका पृ० ११४.

४. वही

में आवाप नहीं करना चाहिये।[1] अर्थसंग्रहकार का मन्तव्य बाद की व्याख्या के अधिक निकट लगता है।

लाक्षणिकी परिसंख्या और उसके तीन दोष—जहाँ वाचकपद का शब्दतः कथन नहीं है, वहाँ निवृत्ति का बोधन लक्षणाशक्ति से कराया जाता है, अतः इसका नाम लाक्षणिकी है। इस प्रकार प्रस्तुत प्रकरण में 'पञ्च पञ्चनख' पद का अर्थ लक्षणा से—'शशकादि पाँच प्राणियों से भिन्न' और भक्षधातु का 'भक्षणाभाव' होगा। इससे स्पष्ट होता है कि शशक आदि पाँच से भिन्न पञ्चनख प्राणी अभक्ष्य हैं और इस शशकादिपञ्चकेतर पञ्चनखभक्षणनिवृत्ति का ज्ञान लक्षणा से ही होता है। लक्षणा का आश्रय इसलिये लेना पड़ा क्योंकि 'इतरनिवृत्ति' का वाचक कोई पद यहाँ श्रुत नहीं है।

वाचकपद के अभाव में अर्थसंङ्गति कल्पना से करनी पड़ती है, अतः दोषों की संभावना हो ही जाती है। दोनों की युगपत्प्राप्ति होने पर एक की व्यावृत्ति परिसंख्या कही जाती है। इसमें जो शब्दतः उल्लिखित है वह गृहीत होता नहीं। अतः श्रुत[2]—शब्दतः पठित—का परित्याग कर देना दोष ही कहा जायेगा। दूसरी ओर जो अश्रुत[3] होता है, शब्दतः जिसका विधान नहीं होता है, उसका लक्षणा से ग्रहण किया जाता है। वाक्य के वाच्यार्थ को छोड़कर लक्ष्यार्थ को ग्रहण करना भी दोष है। जैसे—'पञ्च पञ्चनखाः भक्ष्याः' का श्रुत अर्थ—वाच्यार्थ—है—'पाँच पञ्चनख वाले पशुओं का भक्षण करना चाहिये।' इस अर्थ का परित्याग कर दिया जाता है और स्वीकार किया जाता है—पाँच पञ्चनख वाले पशुओं के अतिरिक्त पशुओं के भक्षण की निवृत्ति'—यह अर्थ। वस्तुतः यह अर्थ उक्त वाक्य का वाच्य न होकर कल्पित अर्थ है। अतः दोष हुआ। परिसंख्या का तीसरा दोष है—प्राप्तबाध। श्रुतहान और प्राप्तबाध एक-जैसे प्रतीत होते हैं, किन्तु दोनों में बहुत अन्तर है। श्रुतहान दोष में उस अर्थ का परित्याग होता है जिसका वाचकपद वाक्य में विद्यमान रहता है, किन्तु प्राप्तबाध वहाँ होता है जिसका वाचकपद नहीं रहता और उसकी सिद्धि राग—'व्यक्ति की इच्छा—अथवा किसी दूसरे प्रमाण से होती है। यहाँ प्राप्त का अर्थ है प्रमाणविशेष के द्वारा कर्त्तव्य के रूप में प्रतीत को व्यवहार में न लाना।[4] कहा जा चुका है कि दो पदार्थों की एक साथ प्राप्ति होने पर एक की निवृत्ति की जाती है। जैसे—'लोग शशकादि पाँच पञ्चनखों के अतिरिक्त अन्य पञ्चनखों तथा अपञ्चनखों के भी भक्षण में प्रवृत्त होते रहे। यही लोकतः अथवा रागतः प्राप्त रहा है। इसको बतलाने के लिये शास्त्र नहीं देखना पड़ता रहा। किन्तु उनके भक्षण को अनुचित समझकर 'पञ्च पञ्चनखाः भक्ष्याः' यह विधि बनायी गयी। इस नियम के बन जाने से जो पाँचों के अतिरिक्त सभी पञ्चनखियों तथा अपञ्चनखियों के भक्षण का बाध कर दिया गया। इसी लोकप्रचलित भक्षण की मान्यता का बाध प्राप्तबाध है। रागतः प्राप्त अपञ्चनखों का भक्षण वाक्यश्रुत नहीं है। अतः प्राप्तबाध श्रुतहान से भिन्न दोष है। मूल में निर्दिष्ट 'प्राप्तस्य च अपञ्चपञ्चनखभक्षणस्य बाधनात्' में 'अपञ्चनखभक्षणस्य' का अर्थ सभी पञ्चनख वाले जीवों से भिन्न पशुओं का ही भक्षण नहीं है, अपितु 'अपञ्चनखों' से उन समस्त पञ्चनखों का भी ग्रहण करना चाहिये जो शास्त्रनिर्दिष्ट शशक, गोधा आदि से भिन्न हैं।

शब्द तथा अर्थ में निष्ठता—परिसंख्या के तीनों दोषों में प्रथम दो—श्रुतहानि और अश्रुत-

---

१. (गायत्री-बृहत्यनुष्टुप्) एतत्त्रयातिरिक्तेषु पवमानस्तोत्रसम्बन्धिषु छन्दस्सु पवमानातिरिक्तेषु स्तोत्रेषु वा न समावापः कार्यः। सारविवेचिनी पृ० ११५.

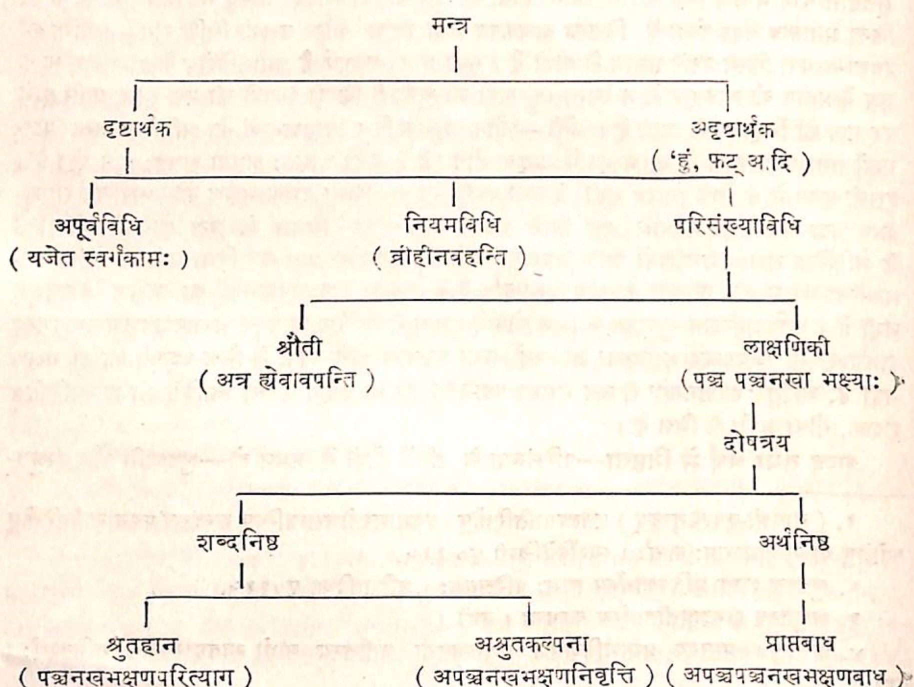
२. श्रुतस्य शब्द प्रतिपन्नार्थस्य हानः परित्यागः। प्रतिपादिका पृ०११५.

३. अश्रुतस्य शब्दाप्रतीतार्थस्य कल्पना। वही।

४. प्राप्तेति। प्राप्तस्य प्रमाणविशेषेण कर्त्तव्यतया प्रतीतस्य बाधो व्यवहारव्यावर्तनमित्यर्थः। वही।

कल्पना शब्दनिष्ठ तथा तीसरा-प्राप्तबाध—अर्थनिष्ठ कहा गया है। श्रुतहान की शब्दनिष्ठता स्पष्ट है क्योंकि उसमें शब्द के अभिधाशक्ति से वाच्य अर्थ का ही परित्याग किया जाता है। अश्रुतकल्पना में स्वीकार्य 'अपञ्चपञ्चनखभक्षणनिवृत्ति' अर्थ का भी आधार शब्द ही है। 'पञ्चपञ्चनखाः भक्ष्याः' इस सार्थक पदसमूह के अभाव में अपञ्चपञ्चनखभक्षणनिवृत्ति अर्थ नहीं लिया जा सकता था। इसका ग्रहण लक्षणा से होता है और लक्षणा शब्द की शक्तियों में एक है। अतः पठित शब्दों से प्रकट होने वाले समस्त साक्षात् अथवा व्यवहित अर्थ शब्दाश्रित ही माने जायेंगे। प्राप्तबाध में यह बात नहीं है। उसकी प्राप्ति 'पञ्च पञ्चनखाः' आदि वाक्य से नहीं हो रही है। वह तो इसके विना भी लोक-व्यवहार, राग अथवा लोकप्रवृत्ति से ही सिद्ध है। उस अर्थ का प्रत्यायन शब्द से नहीं होता, अतः वह शब्दनिष्ठ नहीं। शब्द और अर्थ ही से जगत् है, अतः जो शब्दनिष्ठ नहीं है, वह अर्थ-निष्ठ हुआ ही। यहाँ 'शब्द' का अभिप्राय उसी वाक्य से है जिसका प्रसंग विशेष में पाठ हुआ है।

मन्त्रों की अदृष्टार्थकता—कुछ मन्त्र या मन्त्रांशों से स्पष्ट पता नहीं चलता कि उनसे प्रयोग-सम्बद्ध किस अर्थ का स्मरण होता है। हुँ फट्, आदि इसी प्रकार के मन्त्र हैं। कोई भी वेदमन्त्र अनर्थक स्वीकार नहीं किया जाता है, अतः जिसका प्रयोजन समझ में नहीं आता उसकी भी कोई न कोई उपयोगिता कल्पित कर ली जाती है। यह प्रयोजन दृष्टिगोचर न होने से, अदृष्ट माना जाता है। यह उनकी अदृष्टार्थकता है। अदृष्टार्थकता का अर्थ यह भी है कि उनसे द्रव्य, देवता आदि का स्मरणरूप दृष्टप्रयोजन सिद्ध नहीं हो रहा है, उनसे प्रतिपाद्य अर्थ साक्षात् नहीं है, किन्तु उनके उच्चारण से कोई न कोई अपूर्व उत्पन्न अवश्य होता है। यह अपूर्व कहीं २ अदृष्ट का पर्याय होता है। अतः इस प्रकार के मन्त्रों को व्यर्थ न मानकर अपूर्वरूप अदृष्ट का हेतु मान लिया जाता है।



नामधेयविभागः

अथ नामधेयमीमांसा

(५०) **नामधेयानां च विधेयार्थपरिच्छेदकतयाऽर्थवत्त्वम् । तथा हि–'उद्भिदा यजेत पशुकाम' इत्यत्रोद्भिच्छब्दो यागनामधेयं, तेन च विधेयार्थपरिच्छेदः क्रियते । तथा हि–अनेन वाक्येनाप्राप्तत्वात्फलोद्देशेन यागो विधीयते । यागसामान्यस्याविधेयत्वात् यागविशेष एव विधीयते । तत्र कोऽसौ यागविशेष इत्यपेक्षायामुद्भिच्छब्दादुद्भिद्रूपो याग इति ज्ञायते । 'उद्भिदा यागेन पशुं भावयेदि'-त्यत्र सामानाधिकरण्येन नामधेयान्वयात् ।**

सम्पाद्य कर्म का (अन्यों से) व्यावर्तक होने से नामधेय सार्थक है । जैसे कि 'उद्भिदा यजेत पशुकामः' इसमें उद्भिद् शब्द याग का नाम है, जिसके द्वारा विधेय कर्म का अन्यों से व्यावर्तन कराया जाता है । अर्थात् (दूसरे प्रमाणों से) प्राप्त न होने के कारण इस वाक्य के द्वारा (पशुरूप) फल को लक्ष्य करके याग का विधान किया जाता है । यागसामान्य का विधान संभव न होने से यागविशेष का ही विधान किया जाता है । 'वह याग-विशेष क्या है' ? इसकी अपेक्षा होने से उद्भिद् शब्द से उद्भिद्रूप याग ज्ञात होता है । 'उद्भिद् याग से पशु की भावना करे' इसमें सामानाधिकरण्य से नामधेय का अन्वय होता है ।

मन्त्रभागस्य यथायथं प्रयोजनवत्त्वमुपपाद्येदानीं क्रमप्राप्तं नामधेयानां सार्थक्यमुपपादयति—नामधेयानामिति । विधेयार्थपरिच्छेदकतयेति । **विजातीयव्यावर्तकत्वेन विधेयार्थनिश्चायकतयेत्यर्थः । विधेयार्थस्यैव समर्थकतयेति यावत् ।** एतदेव प्रदर्शयति—तथा हीत्यादिना । तेन चेति । **उद्भिच्छब्देन चेत्यर्थः । उद्भिच्छब्दस्य विधेयार्थपरिच्छेदकतया नामधेयत्वप्रदर्शनाय भूमिकामारचयति**–तथा हीत्यादिना । अनेनेति । **'उद्भिदा यजेत पशुकाम' इत्यनेनेत्यर्थः ।** फलोद्देशेनेति । **पशुरूपफलोद्देशेनेत्यर्थः ।** यागेति । **साधनवैलक्षण्यमन्तरेण फलवैलक्षण्यानुपपत्तेर्नात्र यागसामन्यं विधीयते । ततश्च यागविशेष एव विधीयत इत्यर्थः ।** तत्रेति । **यागविशेषस्य विधेयत्व इत्यर्थः ।** क इति । **कोऽसौ यागविशेष इति यागविशेषापेक्षायामित्यर्थः ।** उद्भिच्छब्दादुद्भिद्रूपो याग इति ज्ञायत इति । **उद्भिच्छब्दात्पुनरुद्भिन्नामको यो यागः स एवात्र यागविशेष इति विज्ञायत इत्यर्थः । एवं च सिद्धमुद्भिच्छब्दस्य धात्वर्थसामानाधिकरण्येनान्वयं फलितमाह**—उद्भिदेति । **ननूद्भिच्छब्दस्य नीलमुत्पलमित्यत्र नीलपदस्योत्पलपदसामानाधिकरण्यवद्यजिसामानाधिकरण्यं भवेत्किनामधेयत्वेनेति चेन्न, वैषम्यात् । तथा हि—तत्र हि नीलपदस्यार्थो नीलगुण उत्पलपदार्थादुत्पलरूपद्रव्यादतिरिक्तो भवति, लक्षणया तु नीलपदस्य तादृशद्रव्यपरत्वेनोत्पलपदसामानाधिकरण्यमुपपद्यते । उद्भिच्छब्दस्य तु यज्यवगतयागविशेषान्नातिरिक्तोऽर्थोऽस्ति, तस्यैव तत्र विशेषत्वसमर्पकत्वात् । ततश्चार्थान्तरवाचकत्वाभावेन नोद्भिच्छब्दस्य नीलशब्दस्योत्पलशब्दसामानाधिकरण्यवद्यजिसामानाधिकरण्यमुपपद्यते, किं तर्हि 'वैश्वदेव्यामिक्षे'त्यत्रामिक्षापदस्य वैश्वदेवीशब्दसामानाधिकरण्यवत्, वैश्वदेवीशब्दस्य हि देवतातद्धितत्वात् तस्य च 'सास्य देवते'ति सर्वनामार्थे स्मरणात् सर्वनाम्नां चोपस्थितविशेषवाचित्वेन विशेषपरत्वम् । तत्र कोऽसौ वैश्वदेवीशब्दोपात्तो विशेष इत्यपेक्षायाम् आमिक्षापदसांनिध्या-**

दामिक्षारूपो विशेष इत्यवगम्यते। यथाहुः—'आमिक्षां देवतायुक्तां वदत्येवैष तद्धितः। आमिक्षापदसांनिध्यादस्यैव विषयार्पण'मिति। तस्माद्यथा वैश्वदेवीशब्दोपात्तविशेषसमर्पकत्वेनामिक्षापदस्य वैश्वदेवीशब्देन सामानाधिकरण्यमेवं सामान्यस्याविधेयत्वाद्यज्यवगतयागविशेषसमर्पकत्वेनैवोद्भिच्छब्दस्य यजिसामानाधिकरण्यमित्युक्तप्रकारेणैव नामधेयानामन्वयः साधुरिति। तथा चोक्तं 'तदधीनत्वाद्यागविशेषसिद्धे'रिति।

यहाँ वेद के तृतीय भाग 'नामधेय' का निरूपण है। नामधेय शब्द सामान्यतः नाम का वाचक है, किन्तु मीमांसादर्शन में इसका प्रयोग एक पारिभाषिक शब्द के रूप में होता है। यहाँ इसका अर्थ होता है 'याग का नाम' न कि कोई भी नाम। एक शब्द को किसी यागविशेष का नाम मान लेने से उसके अन्य अर्थों से उसका कोई प्रयोजन नहीं रह जाता और वह एक सीमित अर्थ का ज्ञापक हो जाता है। सजातीय तथा विजातीय—अपने सदृश और भिन्न—दोनों प्रकार के पदार्थों से अलग होकर एक निश्चित अर्थ का ज्ञान कराना ही 'परिच्छेदकता है। नामधेयों का यही कार्य हैं कि वे अनेकार्थक शब्दों को यागविशेष के अर्थ में सीमित कर देते हैं, इससे क्रिया में आसानी होती है।

उदाहरण के लिये 'उद्भिदा यजेत पशुकामः' में उद्भिद् शब्द को लिया जा सकता है। इसके कई अर्थ हो सकते हैं—जैसे खुरपा, कुदाली आदि तथा यागविशेष भी। प्रथम अर्थ व्युत्पत्तिलभ्य है—'उद्भिद्यते ऊर्ध्वं विदीर्यते भूमिरनेनेति'—जिससे भूमि खोदी जाती हैं उस साधनभूत खनित्र आदि को उद्भिद कहते हैं। किन्तु नामधेय मान लेने पर उससे यागविशेष का ज्ञान होता है।

नामधेय मानने की आवश्यकता क्यों पड़ती है, कैसे उससे क्रिया-सम्पादन में सुकरता होती है और अभीष्ट सिद्ध होता हैं, इसे समझना चाहिये। 'उद्भिदा यजेत पशुकामः' यह एक विधिवाक्य है। धातु 'यजेत' है जिसका अर्थ है "याग करना चाहिये" अर्थात् इससे 'याग' क्रिया का विधान होता है। यही विधेयार्थ है। यहाँ 'याग' शब्द किसी विशेष क्रिया या अर्थ का वाचक न होकर यागसामान्य का—किसी भी याग का—बोधक है। किन्तु किसी भी याग का अनुष्ठान नहीं किया जा सकता, क्योंकि फल-विशेष की प्राप्ति के लिये साधन-विशेष की ही अपेक्षा होती है। यहाँ विशिष्ट फल है 'पशुप्राप्ति,' अतः उसका कोई विशिष्ट साधन भी होना चाहिये। पशुप्राप्ति का साधन क्या है, इसका ज्ञान किसी भी दूसरे प्रमाण से नहीं होता, अतः इसी वाक्य के 'उद्भिद्' शब्द को यागविशेष का वाचक मान लेने से समस्या का समाधान हो जाता है। इस रूप में पूरे वाक्य का मीमांसानुसार अर्थ होगा—उद्भिदा यागेन पशुं भावयेत्—उद्भिद् नामक याग से पशु की भावना करनी चाहिये। 'उद्भिदा' और 'यागेन' दोनों पदों में तृतीया एकवचन का 'टा' प्रत्यय लगा है। एक ही वचन तथा विभक्ति का होने से दोनों का आधार एक हुआ, दोनों में सामानाधिकरण्य हुआ। सामानाधिकरण्य के कारण दोनों की एक साथ योजना में असङ्गति नहीं होगी। यदि सामानाधिकरण्य न होता तो उद्भिद् शब्द गुण का वाचक होता, और यदि 'खनित्रवता यागेन' आदि अर्थ करके सामानाधिकरण्य रखा ही जाता तो 'मतुप्प्रत्ययार्थक' होने से दोष आने लगेगा।[1] अन्य उपायों के रहते मत्वर्थलक्षणा करना दोष है। इसका निरूपण आगे के प्रकरण में होगा।

---

१. 'उद्भिन्नामकेन यागेन फलं कुर्यात्' इत्युक्ते सामानाधिकरण्यं लभ्यते। गुणत्वे तु 'खनित्रेण साध्यो यो यागः, तेन' इत्येवं वैयधिकरण्यं स्यात्। यदि 'खनित्रवता यागेन, इति सामानाधिकरण्यं योज्येत तदा मत्वर्थलक्षणा प्रसज्येत। तस्मादुद्भिदादिपदं नामधेयम्।' जैमिनि न्या० मा० वि० पृ० ४१.

नामधेयत्वे निमित्तचतुष्टयम्

(५१) नामधेयत्वं च निमित्तचतुष्टयात् । मत्वर्थलक्षणाभयाद्वाक्यभेदभयात्तत्प्रख्यशास्त्रात्तद्व्यपदेशाच्चेति ।

तत्र 'उद्भिदा यजेत पशुकाम' इत्यत्रोद्भिच्छब्दस्य यागनामनाधेयत्वं मत्वर्थलक्षणाभयात् । तथा हि न तावदनेन वाक्येन फलं प्रति यागविधानम्, तं प्रति च गुणविधानं युज्यते, वाक्यभेदापत्तेः । उद्भिच्छब्दस्य गुणसमर्पकत्वे च यागस्याप्यप्राप्तत्वात् गुणविशिष्टकर्मविधानं वाच्यम् । 'उद्भिद्वता यागेन पशुं भावयेदि'ति विशिष्टविधौ च मत्वर्थलक्षणेत्युक्तमेव ।

चार कारणों से नामधेयत्व होता है—(१) मत्वर्थलक्षणा के भय से, (२) वाक्यभेद के भय से, (३) तत्प्रख्यशास्त्र से, (४) और तद्व्यपदेश से। इनमें 'उद्भिदा यजेत पशुकामः' इस वाक्य में उद्भिद् शब्द का नामधेयत्व मत्वर्थलक्षणा के भय से है, क्योंकि इस वाक्य—उद्भिदा यजेत पशुकामः—से न तो एक ओर (पशुरूप) फल के लिये याग का विधान मानना संगत है और न (दूसरी ओर) याग के प्रति गुण का विधान ही, (क्योंकि एक ही वाक्य से फल और साधन दोनों का विधान मानने पर) वाक्यभेद नामका दोष आ पड़ेगा। उद्भिद्-शब्द को गुण का वाचक मानने पर (विधेय) याग के भी (प्रमाणान्तर से) प्राप्त न होने के कारण (कर्मनिष्पत्ति हेतु) गुण से विशिष्ट कर्म का विधान उसका अर्थ मानना पड़ेगा। अतः 'उद्भिद् वाले याग से पशु की भावना करे' ऐसी विशिष्टविधि—गुण और कर्म दोनों का एक साथ विधान करने वाली विधि—मानने पर मत्वर्थलक्षणा होगी ही, यह बात कही ही जा चुकी है।

तच्च **निमित्तचतुष्टयाद्भवतीत्याह**—नामधेयत्वं चेति । **निमित्तचतुष्टयं निर्दिशति**—मत्वर्थेत्यादिना ।

तत्राद्यनिमित्तविषयमुदाहरति—तत्रोद्भिदा यजेतेति । तत्रेति **चतुर्षु मध्य इत्यर्थः । अत्र मत्वर्थलक्षणापत्तिप्रदर्शनाय तावद्वाक्यभेदमापादयति**—न तावदिति । **अस्मिन्पक्षे तद्भिद्यते भूमिरनेनेति व्युत्पत्त्या खनित्रवाच्यसावुद्भिच्छब्दो भवेत्, तथा च 'उद्भिदा यजेत पशुकाम' इत्यनेन वाक्येन यागेन पशुं भावयेद्यागं च खनित्रेण भावयेदिति फलं प्रति यागविधानं यागं प्रति च गुणविधानं क्रियेत, तच्च न युज्यत इत्यर्थः । तत्र हेतुमाह**—वाक्येति । **आवृत्तिरूपवाक्यभेदापत्तेरित्यर्थः । नन्वनेन वाक्येन खनित्ररूपो गुण एव विधीयते । 'दध्ना जुहोती'त्यनेन गुणविधिना समानत्वात् । न चात्र पशुफलकः कश्चिद्यागो विधीयत इति वाच्यम् । पशूनां गुणफलत्वात् । यथा गोदोहनेन पशुकामस्येत्यत्र पशवो गोदोहनगुणस्य फलं तथेह खनित्रगुणस्य फलमस्तु, यदि 'चमसेनापः प्रणयती'ति विहितं प्रकृतमपां प्रणयनमाश्रित्य गोदोहनं विधीयते तर्ह्यत्रापि ज्योतिष्टोमेन यजेतेति विहितं प्रकृतं ज्योतिष्टोममाश्रित्य खनित्रं विधीयतां तस्माद् गुणविधिरित्याशङ्क्य पशुकामो यजेतेत्यस्य पदद्वयस्यायमर्थः**—पशुरूपं फलं यागेन कुर्यादिति । **तत्र केन यागेनेत्यपेक्षायां उद्भिदेति तृतीयान्तं पदं यागनामत्वेनान्वेति । उद्भिद्यते पशुफलमनेन यागेनेति निरुक्त्या नामत्वमुद्भित्पदस्योपपद्यते । न चैवमपि गुणविधिनामधेयत्वयोः शब्दनिर्वचनसाम्यान्न निर्णय इति वाच्यम् । सामानाधिकरण्यस्य निर्णायकत्वात् । तथा हि उद्भिन्नामकेन यागेन**

पशुरूपं फलं कुर्यादित्युक्ते सामानाधिकरण्यं लभ्यते। गुणविधित्वे तु खनित्रेण साध्या यः यागस्तेन तादृशफलं कुर्यादित्येवं वैयधिकरण्यं स्यात्। तच्चायुक्तम्। किंच नानेन वाक्येन ज्योतिष्टोमे खनित्ररूपो गुणो विधातुं शक्यते, तस्य सोमेन यजेतेत्युत्पत्तिशिष्टसोमरूपगुणावरुद्धत्वात्। किंच यद्यस्योद्भिच्छब्दस्य खनित्ररूपगुणसमर्पकत्वं स्वीक्रियते तदा यत्र तेन गुणः समर्पणीयस्तादृशकर्मणोऽप्यप्राप्तत्वादनेन वाक्येन खनित्ररूपगुणविशिष्टकर्मविधानमेव वक्तव्यमन्यथा वाक्यभेदप्रसङ्गात्। ततश्चोद्भिच्छब्दार्थरूपखनित्रवता यागेनेति सामानाधिकरण्येनान्वयो भविष्यति। तथा च मत्वर्थलक्षणापत्तिरिति परिहरति—उद्भिच्छब्दस्येत्यादिना। उक्तमेवेति। 'सोमेन यजेते'ति विध्यर्थनिरूणप्रस्ताव इति शेषः।

'उद्भिदा यजेत पशुकामः' इस विधिवाक्य के अनेक प्रकार के अर्थ हो सकते हैं—कुछ सदोष और कुछ निर्दोष, जैसे—

१—यागेन पशुं भावयेत्, उद्भिदा च यागं भावयेत्। यह अर्थ लेने पर याग पशुप्राप्ति का साधन होगा, उद्भिद् नहीं। उद्भिद् गुणवाचक हो जायेगा। ऐसी दशा में पहला दोष तो यह होगा कि यागसामान्य को पशु का साधन मानना पड़ेगा, जो सिद्धान्ततः स्वीकार्य नहीं है, दूसरा दोष यह होने लगेगा कि एक ही वाक्य 'उद्भिदा यजेत पशुकामः' के दो विधेय हो जायेंगे, एक ही वाक्य से फलपशु के साधन याग का एक ओर और याग के साधन उद्भिद् का दूसरी ओर, दो-दो प्रतिपाद्य मानना पड़ेगा। एक वाक्य के अनेक विधेयार्थ होने पर वाक्यभेद हो जाता है। वाक्यभेद दोष है, अतः इस प्रकार का अर्थ मान्य नहीं हो सकता। "तथा हि न तावदनेन··· वाक्यभेदापत्तेः' का यही अर्थ है।

२—दूसरा अर्थ हो सकता है—'खनित्रेण (उद्भिदा) साध्यो यो यागः तेन पशुं भावयेत्"। इसमें खनित्र—उद्भिद्-गुणवाचकमात्र होगा जैसा कि 'दध्ना जुहोति' में 'दधि' है। किन्तु किसी वाक्य को गुणवाचक तभी माना जा सकता है, जब उसके फल का बोधक कोई दूसरा वाक्य हो। 'दध्ना जुहोति' गुणवाचक है क्योंकि उसका फलवाचक वाक्य 'अग्निहोत्रं जुहुयात् स्वर्गकामः' है। किन्तु 'उद्भिदा यजेत पशुकामः' में इसके अतिरिक्त फलवाचक कोई दूसरा प्रमाण या वाक्य नहीं है। ऐसी स्थिति में फलवाक्य के अभाव में भी गुणवाक्य मानना असंगत है।

३—गुणवाचक विधि के रहने पर और फलभावना वाचक विधि के प्रमाणान्तर से प्राप्त न होने पर एक ही वाक्य से गुण और फल दोनों का विधान मानने पर उक्त वाक्य का अर्थ होगा—'उद्भिद्वता यागेन पशुं भावयेत्' यह विशिष्टविधि होगी, जिससे खनित्ररूप गुण से विशिष्ट यागरूप साधन कर्म से पशु-फल की भावना सिद्ध होगी। स्पष्ट है कि यह अर्थ प्राप्त करने के लिये मतुप्प्रत्यय के अर्थ में लक्षणा—मत्वर्थलक्षणा—का आश्रय लेना पड़ रहा है। अन्य विकल्प रहते मत्वर्थलक्षणा का आश्रय लेना दोष है। यह तथ्य विधिनिरूपण के प्रसंग में इसी ग्रन्थ में 'सोमेन यजेत०······वाक्यार्थबोधः' शब्दों में स्पष्ट किया जा चुका है।

४—इसलिये इस वाक्य का 'उद्भिन्नामकेन यागेन पशुं भावयेत्' अथवा 'उद्भिदा यागेन पशुं भावयेत्' यही अर्थ संगत है। किसी को पशु की कामना है। वह उसकी प्राप्ति का उपाय जानना चाहता है। शास्त्रज्ञों से उसे ज्ञात होता है—"पशुकामो यजेत—" अर्थात् पशुरूप फल की प्राप्ति यागरूप साधन से करे। फिर 'केन यागेन भावयेत्' यह अपेक्षा होने पर उद्भिद् पद प्राप्त होता है जो याग का नाम है और तृतीयान्त होने से साधन का समानाधिकरण भी है।[1] उद्भिद्

१. पशुकामो यजेत 'इत्यस्य पदद्वयस्य अयमर्थः-पशुरूपं फलं यागेन कुर्यात्' इति। तत्र 'केन यागेन' इत्यपेक्षायाम् 'उद्भिदा' इति तृतीयान्तं पदं यागनामत्वेन अन्वेति। 'उद्भिद्यते पशुफलमनेन यागेन' इति निरुक्त्या नामत्वमुद्भित्पदस्योपपद्यते। जैमिनि न्या० मा० वि० पृ० ४१.

को यागवाचक मान लेने से मत्वर्थलक्षणा नामक दोष से मुक्ति मिल जाती है और कार्य भी सम्पन्न हो जाता है। नामधेय की यही उपयोगिता है।

यहाँ एक प्रश्न हो सकता है कि 'उद्भिदा यजेत' की ही भाँति 'व्रीहिभिर्यजेत' सदृश गुण-विधियों तथा 'सोमेन यजेत' सदृश विशिष्ट-विधियों में भी व्रीहि और सोम को नामधेय--यागनाम-ही क्यों न मान लिया जाये? इसके उत्तर में कहा जाता है कि व्रीहि आदि लोक में द्रव्यविशेष-धान-के वाचक के रूप में ही प्रचलित हो चुके हैं-अत्यन्त निरूढ़ हो गये हैं—अतः इनको गुणविधि में ही रखा जा सकता है, नामधेय के रूप में नहीं। सोमशब्द के विषय में 'प्रतिपादिका' टीका के रचयिता पं० कृष्णनाथ भट्टाचार्य के शब्द द्रष्टव्य हैं'—सोमशब्दस्यापि प्रसिद्धार्थत्वेन नामधेयत्वासम्भवादगत्या प्रसिद्धार्थद्वारेण लाक्षणिकार्थमादाय गुणविशिष्टविधित्वौचित्यात्। 'उद्भिदा यजेत' इत्यत्र तु लक्षणाश्रयणमन्तरेणापि गतिसम्भवे कथं लक्षणाश्रयणम्। तदुक्तं मिश्रैः—

विशिष्टविधिपक्षे तु भवेन्मत्वर्थलक्षणा।
सोमादौ गत्यभावात् सा, नत्वत्र, गतिसम्भवात्॥''[1]

(५२) 'चित्रया यजेत पशुकाम' इत्यत्र चित्राशब्दस्य कर्मनामधेयत्वं वाक्यभेदभयात्। तथा हि न तावदत्र गुणविशिष्टयागविधानं संभवति। 'दधि मधु पयो घृतं धाना उदकं तण्डुलास्तत्संसृष्टं प्राजापत्यमि' त्यनेन गुणस्य विहितत्वात्तद्विशिष्टयागविध्यनुपपत्तेः। यागस्य फलसंबन्धे गुणसंबन्धे च विधीयमाने वाक्यभेदः। तस्माच्चित्राशब्दः कर्मनामधेयम्। तथा च 'चित्रायागेन पशुं भावयेदि'ति सामानाधिकरण्येनान्वयान्न वाक्यभेदः।

प्रकृतेष्टेरनेकद्रव्यत्वेन चित्राशब्दवाच्यत्वोपपत्तिः।

'चित्रया यजेत पशुकामः' इस वाक्य में चित्रा शब्द याग का नाम वाक्यभेद के भय से है (अर्थात् वाक्यभेद नामक दोष कहीं न हो जाये इसलिये उसके निवारणार्थ चित्राशब्द को याग का नाम माना गया है।) जैसे कि यहाँ पर गुणविशिष्ट याग का विधान संभव नहीं है, क्योंकि 'दधि मधु'०-दही, शहद, दुग्ध, घृत, भुने यव या लाई, जल और चावल, इनसे युक्त प्रजापति देवताक याग का विधान करे, इस वाक्य से गुण का विधान हो जाने के कारण उस (गुण) से विशिष्ट याग का विधान संगत नहीं है। याग का फल तथा गुण दोनों से सम्बन्ध मानने पर वाक्यभेद नामक दोष होता है। इसलिये चित्राशब्द कर्म का नामधेय हैं। इस प्रकार 'चित्रा नामक याग से पशु की भावना करे'। इस अर्थ में सामानाधिकरण्य से अन्वय होने के कारण वाक्यभेद नहीं होगा। प्रकृतियाग में अनेक द्रव्य अपेक्षित होने से चित्राशब्द का नाम उपपन्न होता है।

इदानीं द्वितीयं वाक्यभेदप्रसङ्गरूपं नामधेयत्वस्य निमित्तमुदाहरणद्वारा प्रदर्शयति-- चित्रया यजेतेति। **वाक्यभेदमेवोपपादयति--**तथा हीत्यादिना। अत्रेति। **'चित्रया यजेत पशुकाम' इत्यस्मिन्वाक्य इत्यर्थः।** गुणविशिष्टेति। **चित्राशब्दार्थभूतचित्रवर्णकिंचिद्गुणविशिष्टेत्यर्थः। अत्र विशिष्टविधानासंभवे हेतुमाह**—दधीत्यादिना। तत्संसृष्टं प्राजापत्यमितीति। **तैर्दध्यादिभिर्द्रव्यैर्युक्तं प्रजापतिदेवताकं कर्मेत्यर्थः।** तद्विशिष्टेति। **निरुक्तगुणविशिष्टेत्यर्थः।** दधीत्यादिप्रकृतवाक्यस्यैतत्कर्मण **उत्पत्तिवाक्यत्वादस्य कर्मण उत्पत्तिशिष्टदध्यादिगुणावरुद्धत्वान्न तत्र गुणान्तरं विधातुं शक्यत इति भावः।** अत्र दध्यादिवाक्ये

१. प्रतिपादिका पृ० ११८.

दध्यादीनि षडेव द्रव्याणि श्रुतावाम्नातानि, उदकपदं तु प्रमादादायातम्, श्रुतितात्पर्यज्ञैर्माधवाचार्यैस्तथैवास्य वाक्यस्य व्याख्यातत्वात्। तथा च तद्वचनं 'दध्यादीनि विचित्राणि देयद्रव्याणि षडाम्नातानी'ति। नन्वत्र वाक्ये ह्युत्पत्तिवाक्यसिद्धस्वरूपस्य यागस्य पशुरूपफलसंबन्धो विचित्रद्रव्यरूपगुणसंबन्धश्च विधीयते। ततश्च न कर्मनामधेयत्वं चित्राशब्दस्येत्याशङ्क्याह--यागस्येति। तथा च यागेन पशुं भावयेद्यागं च तादृशगुणेन भावयेदिति यागस्य गुणफलोभयसंबन्धे विधीयमाने सत्यावृत्तिलक्षणो वाक्यभेदो दुर्वार इति भावः। उपपादितं वाक्यभेदप्रसङ्गमुपसंहरति--तस्मादिति। सिद्धे चित्राशब्दस्य कर्मनामधेयत्वे वाक्यं योजयति--तथा चेति। सामानाधिकरण्येनेति। यजिधात्वर्थयागसामानाधिकरण्येन नामधेयस्यान्वयाच्चित्रानामकेन यागेन पशुं भावयेदित्याकारकान्न निरुक्तवाक्यभेदापत्तिरित्यर्थः।

अनेकद्रव्यत्वेनेति। दध्यादिविचित्रानेकद्रव्यसाध्यत्वेनेत्यर्थः। ननु चित्राशब्दाच्चित्रत्वस्त्रीत्वयोः प्रतीतेः स्त्रीरत्नस्य च स्वभावतः प्राणिधर्मत्वात्प्रकृते दध्यादिद्रव्यके कर्मणि निवेशासंभवान्नानेन वाक्येन प्रकृते कर्मणि तादृशगुणविधानं क्रियते किंतु प्राणिद्रव्यके कर्मणि, अनारभ्याधीतानां चाङ्गानां प्रकृतिमात्रे प्रवेशाङ्गीकारात्। चित्रवाक्यस्याप्यनारभ्याधीतत्वात्सर्वपशुयागप्रकृतिभूते प्राणिद्रव्यकेऽग्नीषोमीये कर्मणि तेन गुणो विधीयते। तथा च 'अग्नीषोमीयं पशुमालभेते'ति विहितं पशुयागमत्र वाक्ये यजेतेति पदेनानूद्य तत्र चित्रापदेन चित्रत्वस्त्रीत्वरूपौ गुणौ विधीयेते इति चेन्न। चित्रत्वेन स्त्रीत्वेन च तं भावयेदिति द्वयोर्गुणयोर्विधाने वाक्यभेदप्रसङ्गात्। प्राप्ते कर्मण्यनेकगुणविधाने वाक्यभेदप्रसङ्गस्य सर्वसंमतत्वात्। तथा चोक्तम्--'प्राप्ते कर्मणि नानेको विधातुं शक्यते गुणः। अप्राप्ते तु विधीयेरन्बहवोऽप्येकयत्नतः' इति।

नन्वत्र वाक्यभेदपरिहाराय गुणद्वयविशिष्टं पशुद्रव्यरूपं कारकं विधीयत इति चेन्न। गौरवलक्षणवाक्यभेदप्रसङ्गात्। किंच दध्नादिवाक्यं प्रकृतस्य चित्रानामकस्य यागस्योत्पत्तिवचनं भवति। यागस्वरूपभूतयोर्दध्यादिद्रव्यप्रजापतिदेवतयोरत्रोपदिश्यमानत्वात्। उत्पन्नस्य च तस्य यागस्य 'चित्रया यजेत पशुकाम' इत्येतत्फलवाक्यमत्र यागस्य फलसंबन्धबोधनात्। एवं च सति प्रकृतार्थो लभ्येत। अग्नीषोमीयपश्वनुवादेन, तादृशगुणविधाने तु प्रकृतहानाप्रकृतप्रक्रिये प्रसज्येयातां, लिङ्प्रत्ययस्य चानुवादत्वाङ्गीकारान्मुख्यो विध्यर्थो बाध्येत, तस्माच्चित्रापदं नामधेयमेव न गुणविधिरिति ध्येयम्।

'उद्भिदा यजेत' के प्रसङ्ग में स्पष्ट किया जा चुका है कि उद्भिद् को गुणवाचक नहीं मान सकते क्योंकि उसकी फलविधि प्रमाणान्तर से अप्राप्त है, वहाँ उसे पशुरूप फल तथा उद्भिद्रूप गुण दोनों से अलग-अलग सम्बद्ध इसलिये नहीं माना जा सका क्योंकि ऐसा करने पर वाक्यभेद हो जायेगा, गुणविशिष्ट विधि इस लिये नहीं मानी गयी क्योंकि ऐसा करने पर मत्वर्थलक्षणा हो जाती, अतः नामधेय मान लेने से ही समस्या का समाधान हुआ था। लगभग वही स्थिति 'चित्रया यजेत पशुकामः' में भी है। इसको भी गुणविधि नहीं मान सकते क्योंकि पशुरूप फल का ज्ञान इसी से होता है, साथ ही दूसरी बात यह भी है कि पशुफल वाले चित्रा याग का गुणवाक्य 'दधि मधु पयो० आदि स्वतन्त्ररूप से प्राप्त होने के कारण किसी अन्य गुणविधि की आवश्यकता भी नहीं रहती। ऐसी दशा में 'चित्रा' शब्द जब गुण का वाचक नहीं हो सकता, तब 'चित्रया यजेत०' को

गुणविशिष्टविधि भी नहीं माना जा सकता। एक गुणविधि प्राप्त होने पर दूसरी गुणविधि की अपेक्षा नहीं रहती, यह मीमांसाशास्त्र का अभिमत है—

प्राप्ते कर्मणि नानेको विधातुं शक्यते गुणः।
अप्राप्ते तु विधीयन्ते बहवोऽप्येकयत्नतः॥

चित्राशब्द गुणवाचक इसलिये भी नहीं हो सकता, क्योंकि इससे न तो द्रव्य का बोध होता है न देवता का, जब कि 'दधि मधु०'' आदि वाक्य से द्रव्य और देवता दोनों का ज्ञान हो रहा है।

गुणविशिष्टविधि न मानकर यदि 'चित्रया यजेत पशुकामः' में फल और गुण दोनों से 'याग' का अलग-अलग सम्बन्ध माना जाये तो भी वाक्यभेद नाम का दोष होने लगेगा, क्योंकि याग का फल से सम्बन्ध मानने पर अर्थ होगा—यागेन पशुं भावयेत्—और गुण से सम्बन्ध मानने पर अर्थ होग—चित्रया यागं भावयेत्—,इस दशा में स्पष्ट ही वाक्यभेद हो रहा है जो स्वयं में दोष है। 'यागस्य फलसम्बन्धे०' आदि वाक्य का यहीं अभिप्राय है। 'चित्राशब्द को याग का नाम मान लेने से वाक्यभेद दोष नहीं हो पाता। नामधेय मानने पर 'चित्रया यजेत०'' का अर्थ होगा—चित्रया यागेन पशुं भावयेत्। यहाँ 'चित्रया' और 'यागेन' दोनों ही पद तृतीया-विभक्ति के एक-वचन के हैं, अतः दोनों में सामानाधिकरण्य होने से दोनों में अभेदसम्बन्ध होगा। 'चित्रया यागं भावयेत्' और 'यागेन पशुं भावयेत्' इन दोनों वाक्यों में से प्रथम में 'चित्रया' तृतीया एकवचन में है और 'यागम्' द्वितीया एकवचन में, द्वितीय वाक्य में 'यागेन' तृतीया एकवचन में है और ''पशुम्'' द्वितीया एकवचन में। अतः सभी परस्पर व्यधिकरण हैं और उनमें अभेदान्विति नहीं हो सकती। वाक्यभेद व्यधिकरण में होता है, समानाधिकरण में नहीं।

प्रकृतयाग का नाम 'चित्रा' इसलिये रखा गया है क्योंकि इसमें विभिन्न प्रकार के द्रव्यों का प्रयोग होता है।[1] यदि 'चित्रया यजेत पशुकामः' इस पूरे वाक्य को गुणविधि न मानकर केवल 'चित्रा शब्द' को ही गुणवाचक माना जाये और उससे चित्रत्व-अनेकवर्णता तथा स्त्रीत्व—क्योंकि चित्राशब्द स्त्रीलिङ्ग में है—दो गुण माने जायें और दोनों से याग का विधान किया जाये, तो भी वाक्यभेद होगा ऐसा विद्वानों का मत है—'चित्रत्वेन स्त्रीत्वेन च तं भावयेत्' इति द्वयोर्गुणयोर्विधाने वाक्यभेदप्रसङ्गात्।

यहाँ एक शङ्का हो सकती है कि 'उद्भिदा यजेत पशुकामः' और 'चित्रया यजेत पशुकामः' दोनों वाक्य देखने में एक जैसे ही प्रतीत होते हैं, और प्रथम के प्रकरण में भी वाक्यभेद का उल्लेख हुआ है, फिर क्या कारण है कि एक को 'मत्वर्थलक्षणा' के भय से नामधेय माना गया और दूसरे को वाक्यभेद के भय से। किन्तु वस्तुतः दोनों की परिस्थितियों में अन्तर है। 'उद्भिदा०' आदि वाक्य में उद्भिद् को खनित्रवाचक-गुणवाचक-मानने पर ही पूरा वाक्य गुणविधि हो सकेगा। गुणविधि माने जाने के पहले आवश्यक यह है कि उसकी फलविधि अथवा कर्मविधि पहले से किसी दूसरे वाक्य से प्राप्त हो। किन्तु 'उद्भिदा यजेत पशुकामः' वाक्य के अतिरिक कोई दूसरा कर्मविधिबोधक वाक्य नहीं है। उस स्थिति में यह प्रश्न उठा था कि फिर इसी को गुण एवं फल दोनों का विधायक वाक्य क्यों न मान लिया जाये। उसके समाधान के प्रसङ्ग में यह बात आयी थी कि गुण और फल का विधान दो रीतियों से किया जा सकता है। एक तो पृथक्-पृथक् वाक्यों द्वारा–जैसे-उद्भिदा यागं भावयेत् और यागेन पशुं भावयेत्, तथा दूसरे गुणविशिष्टरूप से, जैसे—उद्भिद्वता यागेन पशुं भावयेत्। प्रथम प्रकार से अर्थ लेने पर वाक्यभेद नाम का वाक्यदोष

---

१. चित्राशब्दः······यजिसामानाधिकरण्येन यागनामधेयं भवति। चित्रत्वं तु तस्य विलक्षण-द्रव्यद्वारेणोपपद्यते। 'दधि मधु घृतम् आपः धानाः तण्डुलाः तत्संसृष्टं प्राजापत्यम्' इति दध्यादीनि विचित्राणि प्रदेयद्रव्याणि षडाम्नातानि तदेतच्चित्रानामकस्य यागस्योत्पत्तिवाक्यम्।······उत्पन्नस्य तस्य यागस्य 'चित्रया यजेत पशुकामः' इत्येतत्फलवाक्यम्। जैमिनि न्या० मा० वि० पृ० ४३.

होता है और दूसरे प्रकार से मत्वर्थलक्षणा नामक पद-दोष । वाक्यदोष से पददोष छोटा होता है, अतः उसी को क्यों न अगत्या मान लिया जाये । इस प्रकार स्पष्ट हो जाता है कि 'उद्भिदा यजेत पशुकामः' के प्रसङ्ग में अन्ततः मत्वर्थीयलक्षणा का विषय उपस्थित होता है, जिसे दूर करने के लिये उद्भिद् को नामधेय माना जाता है । वहाँ वाक्यभेद को दूर करने के लिये मत्वर्थलक्षणा का और उसे भी दूर करने के लिये नामधेय का ग्रहण होता है, अतः नामधेय का उपयोग मत्वर्थलक्षणादोष को दूर करने के लिये होता है न कि वाक्यदोष को । 'चित्रया यजेत' आदि में मत्वर्थीयलक्षणा का प्रसङ्ग ही नहीं आता, क्योंकि यह लक्षणा वहाँ होती है जहाँ फलविधि और गुणविधि में से कोई भी पृथक रूप से प्राप्त नहीं होती है, तभी इसके द्वारा गुण और कर्म दोनों का सम्मिलित विधान गुणविशिष्टविधि-लिया जाता है, किन्तु "चित्रया यजेत०" का गुणविधायक वाक्य 'दधि मधु०" आदि प्राप्त है । इस प्रकार यहाँ केवल वाक्यभेद दोष ही रहता है जिसे दूर करने के लिये नामधेय का आश्रय लिया जाता है ।

तत्प्रख्यशास्त्रान्नामधेयत्वम्

(५३) 'अग्निहोत्रं जुहोती'त्यत्राग्निहोत्रशब्दस्य कर्मनामधेयत्वं तत्प्रख्यशास्त्रात् । तस्य गुणस्य प्रख्यापकस्य प्रापकस्य शास्त्रस्य विद्यमानत्वात्, अग्निहोत्रशब्दः कर्मनामधेयमिति यावत् ।

नन्वयं गुणविधिरेव कुतो नेति चेन्न । यद्यग्नौ होत्रमस्मिन्निति सप्तमीसमासमाश्रित्य होमाधारत्वेनाग्निरूपो गुणो विधेयस्तदा 'यदाहवनीये जुहोती'त्यनेनैवाग्नेः प्राप्तत्वात्तद्विधानानर्थक्यम् । अग्नये होत्रमिति चतुर्थीसमासमाश्रित्य अग्निदेवतारूपगुणोऽनेन विधीयत इति चेन्न । तद्देवतायाः शास्त्रान्तरेण प्राप्तत्वात् ।

'अग्नि होत्रं जुहोति' इस वाक्य में अग्निहोत्र शब्द की कर्मनामधेयता तत्प्रख्यशास्त्र के कारण है । (तत्प्रख्यशास्त्र पद का विग्रह है—तस्य प्रख्यापकस्य शास्त्रस्य विद्यमानत्वात्—जिसमें) 'तस्य' का अर्थ हैं गुण का, 'प्रख्यापकस्य' का अर्थ है प्रापक, शास्त्र विद्यमान हैं अतः-अग्निहोत्रशब्द कर्म का नामधेय है ।

यहाँ शङ्का होती है कि यह वाक्य गुणविधि ही क्यों न माना जाये, तो उत्तर है कि नहीं । (अर्थात् इसे गुणविधि नहीं माना जा सकता) क्योंकि यदि (अग्निहोत्र शब्द का) 'अग्नौ होत्रम् अस्मिन्'—जिस अग्नि में होम किया जाता है—इस प्रकार के सप्तमी (बहुव्रीहि) समास का आश्रय लेकर होम के आधार के रूप में अग्निरूपी गुण का विधान किया जाता है तो 'यदाहवनीये जुहोति'—जब आहवनीय नामक अग्नि में हवन करता है—इस वाक्य से ही अग्नि की प्राप्ति हो जाने से (दूसरे वाक्य 'अग्निहोत्रं जुहोति' आदि के द्वारा भी) उसी का विधान व्यर्थ होगा । 'अग्नये होत्रम्'—अग्निदेव के लिये होम है—इस प्रकार से चतुर्थी समास का आश्रय लेकर अग्निदेवतारूप गुण का विधान यदि इस वाक्य से माना जाये तो भी ठीक नहीं होगा क्योंकि उस देवता की प्राप्ति दूसरे शास्त्रवाक्य से हो जाती है ।

इदानीं तत्प्रख्यशास्त्ररूपात् तृतीयनिमित्तान्नामधेयत्वमग्निहोत्रशब्दस्य प्रदर्शयति––अग्निहोत्रमिति । **'तत्प्रख्यं चान्यशास्त्र'**मिति हि **तत्प्रख्यशास्त्रसूत्रम् । तस्य फलितार्थमाह––**तस्येत्यादिना ।

नन्वग्निहोत्रं जुहोतीत्यत्राग्निरूपस्य गुणस्यैव विधिर्न नामधेयत्वमग्निहोत्रशब्दस्य स्वीकर्तव्यमित्याशङ्कते––नन्वयमिति । **यद्यत्र सप्तमीसमासमाश्रित्य होमाधारत्वेनाग्नि-**

रूपस्य गुणस्य विधानं स्वीक्रियते तदा तदाधारत्वेनाग्निरूपस्य गुणस्य वाक्यान्तरेण प्राप्तत्वात्तत्त्वेन तद्विधानस्यानर्थक्यमापद्येतेत्याह––यद्यग्नावित्यादिना। चतुर्थीसमासमाश्रित्यात्राग्निदेवतारूपस्य गुणस्य विधानमाशङ्कते––चतुर्थीत्यादिना। नात्र देवतारूपेणाग्निरूपस्य गुणस्य विधानमुपपद्यत इति समाधत्ते––नेति। तत्र हेतुमाह––तद्देवताया इति। अग्निरत्र तच्छब्दार्थः।

कुछ वाक्य ऐसे हैं जिनको देखने से लगता हैं कि मानो उनमें प्रयुक्त शब्द द्रव्य, देवता, आधार आदि गुणों का वाचक हो, किन्तु वस्तुतः उसको यागविशेष का नाम माना जाता है, क्योंकि उनसे जिन गुणों की अपेक्षा की जाती थी उनका विधान करने वाले दूसरे शास्त्रवाक्य प्राप्त होते हैं। यहाँ जिस हेतु से यागविशेष का नामधेय कोई पद होता है, वह हेतु हैं—'तत्प्रख्यशास्त्र' का विद्यमान होना। 'तत्प्रख्यशास्त्र' पद में 'तत्' गुण का, प्रख्यशब्द प्रख्यापक, प्रापक या ज्ञापक का तथा शास्त्र भिन्न शास्त्रीयवचन का वाचक है। जब गुणवाचक अन्य शास्त्रीयवचन पहले से ही विद्यमान हैं तब गुणवाचक के रूप में ही किसी दूसरे शब्द को स्वीकार करना उचित नहीं।

उदाहरण के लिये 'अग्निहोत्रं जुहोति' वाक्य तथा उसमें प्रयुक्त 'अग्निहोत्रं' पद को लिया जा सकता है। यहाँ सिद्धान्ततः 'अग्निहोत्रम्' यागविशेष का नाम हैं।[1] इसे गुणवाचक नहीं मान सकते क्योंकि गुणार्थक मानने के लिये इसका विग्रह दो प्रकार से हो सकता हैं–प्रथम–'अग्नौ होत्रमस्मिन्' अर्थात् वह अग्नि जिसमें होम किया जाता है और दूसरा–अग्नये होत्रम्–अग्निदेवता के लिये होम। पहले विग्रह में सप्तमी समास होने से आधार के रूप में और दूसरे विग्रह में चतुर्थीसमास होने से देवतारूप में अग्नि का ग्रहण हो सकता है। किन्तु वस्तुस्थिति यह है कि इसके अतिरिक्त भिन्न-भिन्न वाक्यों द्वारा आधाररूप आहवनीय अग्नि का, और देवरूप अग्निदेवता तथा सूर्यदेवता का विधान सम्पन्न हो चुकने से 'अग्निहोत्रं जुहोति' वाक्य से उन दोनों में से किसी भी अर्थ की अपेक्षा नहीं रह जाती। अतः आधार, देवता आदि गुणों के प्रापक 'यदाहवनीये जुहोति' 'अग्निर्ज्योतिः ज्योतिरग्निः स्वाहा' आदि शास्त्रमन्त्रों के पूर्वतः प्राप्त रहने से 'अग्निहोत्र' पद को गुणविधायक नहीं माना जा सकता। मन्त्र की पुनरुक्ति न हो अथवा वह निरर्थक न हो जाये, अतः इसे नामधेय स्वीकार किया जाता है।

देवतारूपेणाग्निप्रापकशास्त्रप्रश्नः

(५४) किं तच्छास्त्रान्तरमिति चेत्। 'यदग्नये च प्रजापतये च सायं जुहोती'ति केचित्। अपरे तु 'अग्निर्ज्योतिर्ज्योतिरग्निः स्वाहे'ति मन्त्रवर्ण एवाग्निरूपदेवताप्रापकः।

नन्वग्नेर्मान्त्रवर्णिकत्वे प्रजापतिदेवतया बाधः स्यात्। मन्त्रवर्णस्य चतुर्थीतो दुर्बलत्वात्। यथाहुः–'तद्धितेन चतुर्थ्या वा मन्त्रवर्णेन वा पुनः। देवताया विधिस्तत्र दुर्बलं तु परं परमि'ति चेन्न। 'यदग्नये च प्रजापतये च सायं जुहोती'त्यत्र न केवलं प्रजापतिविधानम्, किन्तु मन्त्रवर्णप्राप्तमग्निमनूद्य तत्समुच्चितप्रजापतेः। एवं च न बाधः, केवलप्रजापतिविधानाभावात्। न चात्र समुच्चितोभयविधानमेव

१. अग्निर्ज्योतिर्ज्योतिरग्निः स्वाहेति सायं जुहोति, सूर्यो ज्योतिर्ज्योतिः सूर्यःस्वाहेति प्रातः इति विहितेन मन्त्रेण प्राप्तत्वात् देवता न विधेया। ततोऽग्निसूर्यदेवताकस्य सायंप्रातःकालयोर्नियमेन अनुष्ठेयस्य कर्मणः अग्निहोत्रमिति यौगिकं नामधेयम्। योगश्च बहुव्रीहिणा दर्शितः॥ जैमिनि० न्या० मा० विस्तर पृ० ४५.

कथं नेति वाच्यम्। समुच्चितोभयविधानापेक्षयाऽन्यतः प्राप्तमग्निमनूद्य तत्समुच्चितप्रजापतिमात्रविधाने लाघवात्।

एवं प्रयाजेषु समिदादिदेवतानां 'समिधः समिधो अग्न आज्यस्य व्यन्त्वि'त्यादिमन्त्रवर्णेभ्यः प्राप्तत्वात्, 'समिधो यजती'त्यादिषु समिदादिशब्दास्तत्प्रख्यशास्त्रात् कर्मनामधेयम्।

(देवतावाचक) वह दूसरा शास्त्रवाक्य कौन-सा है, ऐसी शंका होने पर कुछ के अनुसार वह मन्त्र—यदग्नये च प्रजापतये च सायं जुहोति—यह है, और दूसरों के अनुसार—अग्निर्ज्योतिर्ज्योतिरग्निः स्वाहा—यह मन्त्रवर्ण ही अग्निरूपदेवता का बोधक है।

यदि शङ्का हो कि अग्नि मन्त्रवर्ण से ज्ञात होता है अतः उसका प्रजापति देवता से बाध होना चाहिये, क्योंकि मन्त्रवर्ण चतुर्थी से दुर्बल होता है, जैसा कहा गया है कि—तद्धित, चतुर्थी अथवा मन्त्रवर्ण से देवता का विधान होता है। इनमें उत्तरोत्तर क्रमशः दुर्बल होता है।' तो उत्तर है कि नहीं। 'यदग्नये च०' आदि मन्त्र में केवल प्रजापति का ही विधान नहीं है, अपितु मन्त्रवर्ण से प्राप्त अग्नि का अनुवाद करके उसके सहित प्रजापति का विधान है। इस प्रकार बाध नहीं हुआ, क्योंकि केवल प्रजापति के ही विधान का अभाव है। "इसमें एक साथ वाले दोनों का ही विधान क्यों न हो," यह भी नहीं कहा जा सकता क्योंकि सम्मिलित दोनों के विधान की अपेक्षा दूसरे प्रापक वाक्य से प्राप्त अग्नि का अनुवाद करके उससे युक्त प्रजापति का ही विधान करने में गौरव नहीं होगा।

इसी प्रकार प्रयाजों में भी 'समिधः समिधो०' आदि मन्त्रवर्णों से ही समिद् आदि देवताओं के प्राप्त होने से 'समिधो यजति' इत्यादि वाक्यों में समिद् आदि शब्द तत्प्रख्यशास्त्र से कर्म के नामधेय होते हैं।

देवतारूपेणाग्निप्रापकं शास्त्रं पृच्छति—किमिति। **केषांचिन्मतानुसारेणोत्तरमाह**—यदग्नये चेति। **अत्राग्निर्ज्योतिरित्यादिमन्त्रवर्णप्राप्तमग्निमनूद्य तत्समुच्चितप्रजापतिमात्रविधाने लाघवं तदुभयसमुच्चितस्यैवात्र विधाने गौरवमिति च समुच्चितोभयविधानं 'यदग्नये च प्रजापतये च सायं जुहोती'त्यत्र स्वीकर्तव्यमित्यस्वरसबीजं केचिदित्यनेन सूचितम्। अधुना सिद्धान्तमतेनोत्तरमाह**—अपरे त्विति। **किंच 'अग्निर्ज्योतिर्ज्योतिरग्निः स्वाहेति सायं जुहोती'ति विहितेन मन्त्रेण प्राप्तमग्निमनूद्य, तत्समुच्चितस्य प्रजापतेः 'यदग्नये च प्रजापतये च सायं जुहोती'त्यत्र सायंकालेऽग्निहोत्रदेवतात्वं विधीयते। 'सूर्यो ज्योतिर्ज्योतिः सूर्यः स्वाहेति प्रातर्जुहोती'ति विहितेन च मन्त्रेण प्राप्तं सूर्यमनूद्य तत्समुच्चितस्य च तस्य 'यत्सूर्याय च प्रजापतये च प्रातर्जुहोती'त्यत्र प्रातःकालेऽग्निहोत्रदेवतात्वं विधीयते। तेनाग्नेर्मान्त्रवर्णिकत्वे प्रजापतिविधेरेकेनैव वाक्येन सिद्धेः 'यदग्नये च प्रजापतये च सायं जुहोति, यत्सूर्याय च प्रजापतये च प्रातर्जुहोती'त्यत्र वाक्यद्वयं व्यर्थमिति निरस्तम्। सायं होमेऽग्निसमुच्चितस्य प्रजापतेर्विधानं प्रातर्होमे सूर्यसमुच्चितस्य च तस्यैकेन वाक्येन कर्तुमशक्यत्वादित्यलं विस्तरेण अधिकं तु न्यायप्रकाशे द्रष्टव्यम्। नन्वग्नेर्मान्त्रवर्णिकत्वे प्रजापतिना तस्य बाधः स्यात्प्रजापतेश्चतुर्थ्या देवतारूपेण प्राप्तत्वेन प्रबलत्वात्। अग्नेस्तु मन्त्रवर्णप्राप्तत्वेन दुर्बलत्वाच्च। न च 'सास्य देवते'ति तद्धितप्रत्ययस्य देवतात्वे स्मरणवच्चतुर्थी न देवतात्वे स्मर्यते 'संप्रदाने चतुर्थी'ति संप्रदानमात्रे तस्याः स्मरणात्। तस्मात्प्रजापतिना कथमग्नेर्बाधः स्यादिति वाच्यम्। त्यज्यमानद्रव्यो-**

द्देश्यत्वे सति प्रतिग्रहीतृत्वस्य संप्रदानपदार्थत्वेन त्यज्यमानद्रव्योद्देश्यत्वरूपस्य देवतात्वस्य-संप्रदानस्वरूपान्तर्गतत्वात् । ततश्चतुर्थीतः संप्रदानैकदेशतया देवतात्वप्रत्ययो भवत्येव, मन्त्रवर्णात्तु न देवतात्वप्रतीतिरस्ति किंत्वधिष्ठानत्वमेव ततः प्रतीयते । तस्मान्मन्त्रवर्णश्चतुर्थीतो दुर्बल एव ।

तथा च प्रबलप्रमाणबोधितप्रजापतिदेवतया दुर्बलप्रमाणबोधिताग्नेर्बाधो दुर्वार एवेत्याशयेन शङ्कते—नन्विति । तत्र संमतिमाह—यथाहुरिति । तत्रेति । तद्धितादिषु मध्य इत्यर्थः । परमिति । तद्धितापेक्षया चतुर्थ्या दौर्बल्यं चतुर्थ्यपेक्षया च मन्त्रवर्णस्य दौर्बल्यं भवतीति परं परं दुर्बलं बोध्यमित्यर्थः । ततः परमिति पाठे तु ततस्ततः परं दुर्बलप्रमाणमिति वीप्सापरत्वेन व्याख्येयम् । यदि च 'प्रजापतये जुहोती'ति केवलप्रजापति-विधानं स्यात्तदा तु भवेदपि प्रजापतिनाग्नेर्बाधः परंतु न तथा विधानं क्रियत इति परि-हरति—यदग्नये चेत्यादिना । प्रजापतेरित्यत्र विधानमित्यस्यानुषङ्गः । एवंचेति । मन्त्रवर्णप्राप्तमग्निमनूद्य तत्समुच्चितस्य प्रजापतेर्विधाने चेत्यर्थः । न बाध इति । न प्रजापतिनाग्नेर्बाध इत्यर्थः । तत्र हेतुमाह—केवलेति । ननु यदग्नये च प्रजापतये चेत्य-स्मिन्वाक्ये होमानुवादेन समुच्चितस्यैवोभयस्य विधानं क्रियत इति कथं न स्वीक्रियत इत्याशङ्क्य तयोः समुच्चितयोर्विधानापेक्षया मन्त्रवर्णतः प्राप्तमग्निमनूद्य लाघवेन तत्स-मुच्चितप्रजापतेर्विधानमेवोचितमिति परिहरति—न चेत्यादिना ।

तत्प्रख्यशास्त्रान्नामधेयत्वे उदाहरणान्तरमाह—एवमिति । समिदादिशब्दा इत्यत्रादि-पदेन तनूनपातादयः शब्दा गृह्यन्ते ।

'अग्निहोत्रं जुहोति' को यह कहकर गुणविधि नहीं स्वीकार किया गया कि आधार और देवता का बोधक गुणवाक्य पहले से प्राप्त है । आधारबोधक मन्त्र 'यदाहवनीये जुहोति' तो ग्रन्थ के मूल में उद्धृत है किन्तु देवता का विधायक मन्त्र वहाँ नहीं है । अतः यह जिज्ञासा स्वाभाविक है कि वह मन्त्र कौन सा है जिससे अग्निहोत्र के देवता का विधान होता है । ग्रन्थकार ने दो मन्त्रों को उद्धृत किया है जिनमें से शबर आदि मीमांसाचार्य एक को—'यदग्नये च प्रजापतये च०' आदि मन्त्र को अग्निहोत्र के देवता का विधायक मानते हैं और शास्त्रदीपिकाकार आदि 'अग्नि-र्ज्योतिर्ज्योतिरग्निः' आदि को । अर्थसंग्रहकार का मत बाद वाला ही है ।

यहाँ एक प्रश्न यह उठता है कि 'अग्निर्ज्योतिः' आदि मन्त्र से अग्निदेवतारूप गुण का विधान मानने पर 'यदग्नये च प्रजापतये च०' आदि मन्त्र में प्रयुक्त चतुर्थ्यन्त 'प्रजापतये' से अग्नि का बाध हो जायेगा, क्योंकि तद्धित प्रत्यय, चतुर्थी और मन्त्रवर्ण से देवता का ज्ञान होता है, जिनमें अपने-अपने से पूर्ववर्ती परवर्ती से प्रबल हैं । 'प्रजापतये' चतुर्थ्यन्त है और 'अग्निः ज्योति' आदि में अग्नि प्रथमा एकवचन में है और मन्त्रवर्ण से ज्ञात है । इस प्रकार उसे प्रजापति से बाधित हो जाना चाहिये । मन्त्रवर्ण 'मन्त्र में प्रयुक्त देवताज्ञापक वह शब्द है जो चतुर्थ्यन्त न होकर प्रथमान्त आदि होता है । मन्त्रवर्ण और चतुर्थ्यन्त का उदाहरण सामने ही है । तद्धित प्रत्यय से देवता-बोध का उदाहरण प्राजापत्यम्, गाणपतम् आदि है । अग्नि, इन्द्र आदि शब्दों में 'साऽस्य देवता' सूत्र (पा० ४।२।२४) के अनुसार अण् आदि प्रत्यय लगाकर आग्नेय, ऐन्द्र आदि पदबना जिनका अर्थ है, वह याग जिसके देवता अग्नि हैं, इन्द्र हैं आदि ।

पूर्वपक्षी का उत्तर इस रूप में दिया जाता है कि 'यदग्नये च प्रजापतये' आदि मन्त्र से केवल प्रजापति देवता की ही प्राप्ति नहीं होती है, अपितु 'अग्निः ज्योतिः' आदि से विहित अग्नि का अनुवाद भी । अतः बाध नहीं होगा, क्योंकि यदि बाध अपेक्षित होता तो केवल प्रजापति अकेले

का ही विधान होता। यहाँ तो अग्नि से युक्त प्रजापति के विधान का अर्थ ही यह है कि अग्नि का बाध नहीं होगा, अपितु जहाँ प्रजापति का प्रधानरूप से विधान होगा वहाँ भी अग्नि का समावेश रहेगा ही। किन्तु इस मन्त्र में अग्नि का केवल अनुवाद होता है, वास्तविक विधान तो 'अग्निर्ज्योतिः' आदि मन्त्र के मन्त्रवर्ण से ही होता है। 'यदग्नये०' आदि में अग्नि का अनुवाद-मात्र होने पर भी प्रजापति से उसका विरोध नहीं। यदि उसे विरोध ही करना होता तो दोनों को साथ न रखा गया होता।

'यदग्नये' आदि मन्त्र अग्नि और प्रजापति का पृथक्-पृथक् विधान नहीं करता। ऐसा करने पर पहले तो एक ही मन्त्र से दो-दो देवताओं के विधान का बोझा पड़ेगा, दूसरे 'अग्निर्ज्योतिः' आदि मन्त्र बेकार हो जायेंगे। ऐसी दशा में 'अग्निर्ज्योतिः०' आदि से अग्नि का तथा 'यदग्नये०' आदि से अग्नियुक्त प्रजापति का विधान मानने में ही लाघव है।

प्रयाजों में भी 'समिद्' आदि शब्दों को इसी प्रकार तत्प्रख्यशास्त्र से ही याग का नामधेय माना जाता है, क्योंकि उनके उपयोगी काष्ठ आदि गुणों का बोध कराने वाले "समिधः समिधो" आदि मन्त्र हैं।

तद्व्यपदेशेन कर्मनामधेयत्वम्

(५५) 'श्येनेनाभिचरन्यजेते'त्यत्र श्येनशब्दस्य कर्मनामधेयत्वं तद्व्यपदेशात्। तेन व्यपदेशादुपमानात्तदन्यथानुपपत्तेरिति यावत्। तथा हि यद्विधेयं तस्य स्तुतिर्भवति। यद्यत्र श्येनो विधेयः स्यात्, तदार्थवादैस्तस्यैव स्तुतिः कार्या। अत्र 'यथा वै श्येनो निपत्यादत्त एवमयं द्विषन्तं भ्रातृव्यं निपत्यादत्त' इत्यनेनार्थवादेन श्येनः स्तोतुं न शक्यः, श्येनोपमानेनार्थान्तरस्तुतेः क्रियमाणत्वात्।

न च श्येनोपमानत्वेन स एव स्तोतुं शक्यते, उपमानोपमेयभावस्य भिन्ननिष्ठत्वात्। यदा तु श्येनसंज्ञको यागो विधीयते तदार्थवादेन श्येनोपमानेन तस्य स्तुतिः कर्तुं शक्यत इति श्येनशब्दः कर्मनामधेयं तद्व्यपदेशादिति।

'श्येनेन अभिचरन् यजेत' इस वाक्य में श्येनशब्द की कर्मनामधेयता 'तद्व्यपदेश' के कारण है। (तद्व्यपदेशात् एक समस्तपद है जिसका विग्रह है—'तेन व्यपदेशात्'—यहाँ 'तेन' पद मन्त्र में प्रयुक्त उस शब्द का द्योतक हैं जिसको नामधेय मानना है। अतः तद्व्यपदेश का अर्थ हुआ) उसके साथ व्यपदेश अर्थात् उपमान होने से, ऐसा न मानने पर अर्थसंगति नहीं हो सकेगी। जैसे कि जिसका विधान अपेक्षित होता है, उसकी स्तुति होती है। यदि यहाँ श्येन (बाजपक्षी) विधेय होगा तो अर्थवादों से उसी की स्तुति की जायेगी। यहाँ "जिस प्रकार बाजपक्षी अपने लक्ष्य को झपट कर ग्रहण कर लेता हैं, उसी प्रकार यह याग भी अपकारी शत्रु को झपट कर मार देता है" इस अर्थवाद वाक्य से श्येनपक्षी की स्तुति संभव नहीं, क्योंकि यहाँ श्येन की उपमा होने से दूसरे ही पदार्थ की स्तुति की जा रही हैं।

श्येन की उपमा से उसी (श्येन) की ही स्तुति नहीं की जा सकती क्योंकि उपमान और उपमेय से ज्ञात पदार्थ पृथक् पृथक् होते हैं। जब श्येन नामक याग का विधान किया जाता है तब अर्थवाद वाक्य द्वारा श्येन की उपमा देकर उसकी स्तुति की जा सकती हैं, इस प्रकार श्येन शब्द 'तद्व्यपदेश' से कर्म का नामधेय है।

इदानीं चतुर्थनिमित्तेन तद्व्यपदेशरूपेण श्येनशब्दस्य कर्मनामधेयत्वं प्रदर्शयति— श्येनेति। कर्मनामधेयत्वमिति। नन्वत्र श्येनशब्दस्य कर्मनामधेयत्वं न भवति, किंतु

सोमयागे नित्यं सोमद्रव्यं बाधित्वा तस्य स्थाने पक्षिद्रव्यरूपो गुणः काम्यो विधीयते, तथा सति श्येनशब्दस्य पक्षिणि लोकप्रसिद्धा रूढिरुपपन्ना भवतीत्याशङ्क्य श्येनशब्दस्य कर्मनामधेयत्वे हेतुमाह—तद्व्यपदेशादिति । तद्व्यपदेशशब्दं व्याचष्टे—तेनेति । श्येनेत्यर्थः । तदिति । उपमानोपमेयभावस्य भेदघटितत्वादेवार्थवादवाक्ये श्येनोपमानेन विधेयस्तुतेः श्येननामककर्मविशेषं विनानुपपत्तेर्नात्र पक्षिद्रव्यरूपो गुणो विधातुं शक्यत इति भावः । तदन्यथानुपपत्तिमेवोपपादयति—तथाहीत्यादिना । यदिति । विधेयस्य स्तुतेः कर्तव्यत्वादित्यर्थः । अत्रेति । श्येनेनाभिचरन्यजेतेत्यत्रेत्यर्थः । श्येन इति । श्येननामकपक्षिविशेष इत्यर्थः । तस्यैवेति । श्येननामकपक्षिविशेषस्यैवेत्यर्थः । यथेति । यथा श्येनः पक्षिविशेषो निपत्य मत्स्यादीञ्जन्तूनादत्ते एवमयं श्येननामको यागो द्विषन्तं भ्रातृव्यं शत्रुं निपत्यादत्त इत्यर्थः । यमभिचरति श्येनेनेति वाक्यशेषः । अत्रेति । अत्र प्रकृतेऽनेन श्येनार्थवादेन श्येनः पक्षिविशेष एव स्तोतुं न शक्यते इत्यर्थः । तत्र हेतुमाह—श्येनेति ।

ननु श्येनार्थवादोपमानेन श्येन एव पक्षिविशेषः कथं न स्तोतुं शक्यः स्यादित्यत आह—न च श्येनोपमानत्वेनेति । तदशक्यत्वे हेतुमाह—उपमानेति । यद्यत्र श्येनसंज्ञकस्य यागस्य विधेयत्वं स्वीक्रियते तदा तादृशार्थवादोपमानेन तस्य श्येनसंज्ञकस्य यागस्य स्तुतिः कर्तुं शक्या भवत्येवेत्याह—तदेत्यादिना । फलितमुपसंहरति—इतीति । एवमुक्तेन प्रकारेणेत्यर्थः ।

यहाँ एक भिन्न प्रकार का वाक्य प्रस्तुत करके उसमें आये शब्द को गुणवाचक न मानकर उसे याग का नाम बतलाया गया है और कारण भी पहलों से भिन्न प्रदर्शित किया गया है । उपस्थापित वाक्य है—श्येनेनाभिचरन् यजेत—अर्थात्—श्येन नामक याग से अभिचार का आकांक्षी लक्ष्य प्राप्त करे । श्येन-याग सोमयाग की एक विकृति है । पूर्वपक्षी के अनुसार श्येन शब्द को बाजपक्षीरूप द्रव्य का वाचक मानना चाहिये और पूरे वाक्य को गुणविधि, किन्तु सिद्धान्त पक्ष के अनुसार ऐसा मानना संभव नहीं है क्योंकि श्येन की उपमा देकर विधेय कर्म की प्रशंसा अर्थवाद वाक्यों में की गयी है । इससे सिद्ध होता है कि श्येनयाग—विधेयकर्म-भिन्न है और श्येन नामक पक्षी भिन्न । विधेयकर्म उपमेय है और श्येनपक्षी उपमान है । उपमेय और उपमान सदा दो भिन्न पदार्थ ही होते हैं । एक ही वस्तु उपमेय और उपमान नहीं कही जा सकती । इससे सिद्ध होता है कि औपम्य के आधार पर श्येन नामक कर्मविशेष को यदि श्येन नामक पक्षी से भिन्न नहीं माना गया तो सादृश्य का कथन सङ्गत नहीं होगा, अतः यहाँ "श्येनेनाभिचरन्०" में श्येन को पक्षिद्रव्यरूप गुण नहीं माना जा सकता । यही अन्यथानुपपत्ति का अर्थ है ।

इसी नामधेयत्व के हेतु को 'तद्व्यपदेश' कहा जाता है । मूल पंक्तियों में 'तद्' और 'व्यपदेश' दोनों का समासविग्रह और अर्थ स्पष्ट किया गया है[1] । श्येन से सम्बद्ध अर्थवाद वाक्य यह है—यथा वै श्येनो निपत्य आदत्ते, एवम् अयम् द्विषन्तं भ्रातृव्यं निपत्य आदत्ते । यहाँ 'श्येन' पक्षी का बोधक है और उपमान है, तथा 'अयम्'-याग का बोधक है और उपमेय है । यदि दोनों को भिन्न भिन्न नहीं माना गया तो सादृश्य कैसे प्रदर्शित किया जा सकेगा । इस अर्थवाद वाक्य में प्रदर्शित सादृश्य तभी सङ्गत होगा जब कि 'श्येनेनाभिचरन् यजेत' में श्येन को यागविशेष का वाचक माना जाये ।[2] सम्पूर्ण भाव को तन्त्रवार्तिक के एक श्लोक में व्यक्त कर दिया गया है—

---

१. तेन श्येनादिना व्यपदेशः सादृश्यं यस्य कर्मणस्तत् तद्व्यपदेशम् । यतः कर्म तद्व्यपदेशं श्येनादिसदृशमतः श्येनादिशब्दाः कर्मनामधेयानीति । प्रतिपादिका पृ० १२७.

२. "यथा वै श्येनो निपत्यादत्ते, एवमयं द्विषन्तं भ्रातृव्यं निपत्यादत्ते यमभिचरति श्येनेन"

विधेयं स्तूयते वस्तु भिन्नयोपमया सदा ।
न हि तेनैव तस्यैव स्तुतिर्स्तद्वदितीष्यते ॥

कर्मनामधेयत्वे उत्पत्तिशिष्टगुणबलीयस्त्वम्

(५६) उत्पत्तिशिष्टगुणबलीयस्त्वमपि पञ्चमं नामधेयनिमित्तमिति केचित् । यथा 'वैश्वदेवेन यजेते'त्यादौ । अत्रोत्पत्तिशिष्टाग्नचादीनां बलीयस्त्वाद्वैश्वदेव-शब्दस्य विश्वदेवदेवताभिधायकत्वं न संभवतीति कर्मनामधेयत्वम् ।

वस्तुतस्तु तत्प्रख्यशास्त्रादेवास्य कर्मनामधेयत्वं प्रकृतयागे विश्वदेवरूपगुण-संप्रतिपन्नशास्त्रस्यार्थवादरूपस्यैव सत्त्वात् । 'यद्विश्वेदेवाः समयजन्त तद्वैश्वदेवस्य वैश्वदेवत्वम्' इति ।

उत्पत्ति विधि से बोधित गुण की प्रबलता भी नामधेय का पञ्चम निमित्त है, ऐस कुछ लोगों का मत है, जैसे—वैश्वदेवेन यजेत-आदि वाक्यों में । इस वाक्य में उत्पत्तिविधि के द्वारा बोधित अग्नि आदि देवताओं की प्रबलता के कारण वैश्वदेवशब्द विश्वदेव नामक देवता का वाचक नहीं हो सकता, अतः कर्मविशेष का नाम कहा जाता है ।

किन्तु सत्य स्थिति यह है कि 'तत्प्रख्यशास्त्र' से ही इसकी कर्मनामधेयता सिद्ध हो जाती है क्योंकि वर्तमान याग में विश्वदेव रूप का बोधक वाक्य अर्थवाद वाक्य के रूप में विद्यमान है । (वह अर्थवाद वाक्य है—) 'यद् विश्वेदेवाः समयजन्त तद्वैश्वदेवस्य वैश्वदेवत्वम् ।'

अत्र कर्मनामधेयत्वे चोत्पत्तिशिष्टगुणबलीयस्त्वं पञ्चममपि निमित्तं भवतीति केषांचिन्मतमाह—उत्पत्तिशिष्टेति । तत्रोदाहरणमाह—यथेति । अत्रेति । अस्मिन्वाक्ये वैश्वदेवशब्दस्य विश्वदेवदेवताविधायकत्वं न संभवत्युत्पत्तिशिष्टाग्न्यादीनां बलीयस्त्वादित्यन्वयः । फलितार्थमुपसंहरति—इतीति । तस्येति शेषः । अत्रेदं बोध्यम्—चातुर्मास्ये चत्वारि पर्वाणि—वैश्वदेवो वरुणप्रघासः साकमेधः शुनासीरीयश्चेति । तेषु प्रथमे पर्वण्यष्टौ यागा विहिताः—आग्नेयमष्टाकपालं निर्वपति, सौम्यं चरुं, सावित्रं द्वादशकपालं, सारस्वतं चरुं, पौष्णं चरुं, मारुतं सप्तकपालं, वैश्वदेवीमामिक्षां, द्यावापृथिव्यमेककपालमिति । तेषामष्टानां संनिधाविदमाम्नायते—वैश्वदेवेन यजेतेति । अत्र चाग्नेयादीन् यागान् यजेतेत्यनूद्य वैश्वदेवशब्देन देवतारूपो गुणस्तेषु विधीयते । यद्यपि वैश्वदेव्यामामिक्षायां विश्वेदेवाः प्राप्तास्तथाप्याग्नेयादिषु सप्तसु यागेष्वप्राप्तत्वाद्विधीयन्ते । तेष्वप्यग्न्यादिदेवताः सन्तीति चेत्तर्हि गत्यभावात्तेषु देवता विकल्प्यन्ताम् । नामधेयत्वे तु नाममात्रस्याविधेयत्वाद् द्रव्यदेवतयोरभावेन यागस्यात्र स्वरूपासंभवाच्छ्रूयमाणो विधिरनर्थकः स्यात्तस्माद् गुणविधिरिति पूर्वपक्षः । उत्पत्तिवाक्यैर्विहितानाग्नेयादीनष्टौ यागान् यजेतेत्यनूद्याष्टानां सङ्घे वैश्वदेवशब्दो नामत्वेनोपवर्ण्यते । न च विधित्वाभावेऽपि नामोपदेशस्य वैयर्थ्यमिति वाच्यम् । 'प्राचीन-

---

इति वाक्येनोक्त उपमानोपमेयभावः पक्षिण्येकस्मिन्न युज्येत । तस्मात् पक्षिण उपमानस्य गुण उपमेये कर्मण्यस्तीति श्येनशब्दस्य अभिचारकर्मनामत्वम्" । 'संदंशेनाभिचरन् यजेत' 'गवाऽभिचर्यमाणो यजेत' इत्यत्र संदंशगोशब्दयोर्नामत्वम्श्येनशब्दवत् द्रष्टव्यम् । जैमिनि न्या० मा० विस्तर पृ० ४६-४७.

प्रवणे वैश्वदेवेन यजेते'त्यादिषु वैश्वदेवशब्देनैकेनैवाष्टानां सङ्घस्य व्यवहर्तव्यत्वेनार्थवत्त्वोपपत्तेः । नामप्रवृत्तिनिमित्तभूता निरुक्तिस्तु द्विधा । आमिक्षायागे विश्वेषां देवानामिज्यमानतया तत्सहचरितानां सर्वेषां छत्रिन्यायेन वैश्वदेवत्वमिति, विश्वेदेवा अष्टानां कर्तार इति वा तेषां वैश्वदेवत्वम् । तथा च ब्राह्मणं 'यद्विश्वेदेवाः समयजन्त तद्वैश्वदेवस्य वैश्वदेवत्व'मिति । देवताविकल्पस्तु समानबलत्वाभावान्न युज्यते, अग्न्यादय उत्पत्तिशिष्टत्वात् प्रबलाः विश्वेदेवा उत्पन्नशिष्टत्वाद् दुर्बलाः तस्माद्वैश्वदेवशब्दः कर्मनामधेयमिति सिद्धान्तः ।

वस्तुगतिमाश्रित्य तत्प्रख्यशास्त्रादेव वैश्वदेवशब्दस्य कर्मनामधेयत्वमाह—वस्तुतस्त्विति । प्रकृतयाग इति । वैश्वदेवनामकेऽष्टानामाग्नेयादीनां सङ्घात्मके प्रकृतयाग इत्यर्थः । विश्वदेवेति । प्रकृतयागे विश्वदेवरूपगुणः संप्रतिपन्नः संप्राप्तो यस्मात्तादृशशास्त्रस्येत्यर्थः । तत्र गुणप्रापकं शास्त्रमुदाहरति—यद्विश्वेदेवा इति । अस्य शास्त्रस्य कर्तृरूपेण प्रकृते यागे विश्वदेवरूपगुणप्रापकत्वमिति भावः । नामधेयस्य प्रयोजन तु सर्वत्र व्यवहार एव । न ह्यन्तरेण नामधेयमृत्विग्वरणादिष्वनेनाहं यक्ष्य इत्याख्यानोपायो लघुः कश्चिदस्ति, तस्माद्वैश्वदेवादिशब्दानां कर्मनामधेयत्वमेवेति सिद्धम् ।

नामधेय के चार ही निमित्त स्वीकार किये जाते हैं । कुछ पूर्वपक्षियों का कहना है कि कहीं-कहीं देवता आदि गुण के वाचक शब्दों को इसलिये नामधेय मान लेना चाहिये क्योंकि उत्पत्तिविधि वाक्यों द्वारा पहले से ही गुण का ज्ञापन कर दिये जाने से नई गुणविधि की आवश्यकता नहीं रह जाती । स्वतन्त्र रूप से उत्पत्तिविधि के द्वारा बोधित होने वाला गुण अन्य रीतियों से बाद में ज्ञात गुण से प्रबल पड़ता है । यही 'उत्पत्तिशिष्टगुणबलीयस्त्व' का अर्थ है । जब गुण का ज्ञान उत्पत्तिविधि से हो गया हो, तब उसी के बोधक अन्य शब्दों को स्वीकार करने से पुनरुक्तिदोष तथा अनपेक्षित की अपेक्षा का दोष हो जायेगा । अतः अच्छा हो कि उत्पत्ति से ज्ञात गुणशब्द से दूसरे गुण का बाध कर दिया जाये और निरर्थकता से बचाने के लिये उसे याग का नाम स्वीकार कर लिया जाये । उदाहरण के लिये वे 'वैश्वदेवेन यजेत' वाक्य में 'वैश्वदेव' को लेते हैं ।

पूर्वपक्ष के द्वारा प्रस्तुत उदाहरण का प्रसंग इस प्रकार है । एक चातुर्मास याग होता है जिसके चार पर्व कहे जाते हैं—वैश्वदेव, वरुणप्रघास, साकमेध तथा शुनासीरीय । इनमें से प्रथम पर्व–वैश्वदेव–में आठ यज्ञ विहित हैं—अग्निदेव से सम्बद्ध अष्टाकपाल याग, सोम से सम्बद्ध चरु, सवितृ से सम्बद्ध द्वादश-कपाल याग, सरस्वती से सम्बद्ध चरु, पूषन् देवता का चरु, मरुत् देवता का सप्तकपाल, वैश्वदेव की आमिक्षा और द्यावापृथिवी का एककपाल याग । इन आठों यागों के पास ही 'वैश्वदेवेन यजेत' यह वाक्य पठित है । 'आग्नेयं अष्टाकपालं निर्वपति' आदि उत्पत्ति वाक्य हैं जिनसे विहित आग्नेय आदि आठों यागों का यजन प्राप्त है । अतः 'वैश्वदेवेन यजेत' में 'यजेत' का पूर्वतः अनुवाद और वैश्वदेव को आठों यागों का सामूहिक नाम मान लेना चाहिये । इस प्रकार वैश्वदेवशब्द देवता का वाचक न होकर आठों यागों का वाचक होगा ।[1] दूसरी बात यह है

---

१. चातुर्मास्यस्य यागस्य चत्वारि पर्वाणि–वैश्वदेवः, वरुणप्रघासः, साकमेधः, शुनासीरीयश्चेति । तेषु प्रथमे पर्वण्यष्टौ यागा विहिताः 'आग्नेयमष्टाकपालं निर्वपति, सौम्यं चरुम्, सावित्रं द्वादशकपालम्, सारस्वतं चरुम्, पौष्णं चरुम्, मारुतं सप्तकपालं, वैश्वदेवीमामिक्षाम्, द्यावापृथिव्यमेककपालम् इति । तेषामष्टानां यागानां सन्निधाविदमाम्नायते 'वैश्वदेवेन यजेत' इति । उत्पत्तिवाक्यविहितानाग्नेयादीनष्टौ यागान् 'यजेत' इत्यनूद्याष्टानां संघे वैश्वदेवशब्दो नामत्वेनोपवर्ण्यते । जैमिनि न्या० मा० वि० पृ० ५२.

कि 'वैश्वदेव' शब्द से देवता अर्थ ही हो सकता है द्रव्यादि नहीं। प्रत्येक याग का देवता उत्पत्ति-वाक्य से बतला ही दिया गया है अतः वैश्वदेवशब्द की देववाचकता भी अभीष्ट न होने पर उसकी अनर्थकता सिद्ध होने लगेगी, जो दोष है, अतः उस दोष से बचने के लिये 'वैश्वदेव' को याग का नाम मान लेना ही श्रेयस्कर है। तीसरी बात यह है कि 'वैश्वदेवीम् आमिक्षाम्' कहकर आमिक्षा का देवता वैश्वदेव को पहले कह दिया गया है, अतः पुनः वाक्यांतर से उसको ही देवता कहना अनुचित होगा। इससे स्पष्ट है कि 'वैश्वदेव' को देवतारूप गुण का वाचक इसी लिये नहीं माना जा सका क्योंकि उत्पत्तिविधियों से उपदिष्ट देवतारूप गुण का ग्रहण इसका बाधक है, अत उसकी प्रबलता है। उसकी प्रबलता के कारण ही 'वैश्वदेव' को याग का वाचक मानना पड़ रहा है, अतः 'उत्पत्ति विधिशिष्टगुणबलीयस्त्व' को भी नामधेय का एक हेतु मानना चाहिये।

उक्त समस्त तर्क पूर्वपक्ष है। किन्तु सिद्धान्त यह है कि जिसे 'उत्पत्तिशिष्टगुणबलीयस्त्व' कहा जा रहा है वह कोई स्वतन्त्र निमित्त नहीं है, अपितु उसका अन्तर्भाव पूर्ववर्णित एवं सर्वस्वीकृत 'तत्प्रख्यशास्त्र' नामक हेतु में हो जाता है। 'वैश्वदेव' शब्द 'तत्प्रख्यशास्त्र' से ही याग का नाम है। प्रकृतयाग अर्थात् चर्चित आठ यागों के समूह से सम्बद्ध एक अर्थवाद वाक्य है, उसी से देववाचक विश्वदेव गुण की प्राप्ति हो जाती है। अर्थवाद वाक्य–'यद्विश्वेदेवाः०' आदि का अर्थ है—'जो विश्वदेवों ने यजन किया वही वैश्वदेवों का 'वैश्वदेवत्व' है। इसका अभिप्राय यह हुआ कि 'वैश्वदेवेन यजेत' में वैश्वदेव शब्द याग का नाम इसलिये नहीं है क्योंकि उत्पत्तिविधि से निर्दिष्ट गुण प्रबल है, अपितु इसलिये है क्योंकि उसके देवतारूप गुण का बोधक अर्थवाद वाक्य 'यद्विश्वेदेवाः समयजन्त०' आदि प्राप्त है। अतः चार के अतिरिक्त पाँचवाँ कोई भी निमित्त नामधेय का नहीं है।

निषेधविभागः

अथ निषेधमीमांसा

(५७) पुरुषस्य निवर्तकं वाक्यं निषेधः, निषेधवाक्यानामनर्थहेतुक्रियानिवृत्तिजनकत्वेनैवार्थवत्त्वात्। तथा हि यथा विधिः प्रवर्तनां प्रतिपादयन् स्वप्रवर्तकत्वनिर्वाहार्थं विधेयस्य यागादेरिष्टसाधनत्वमाक्षिपन् पुरुषं तत्र प्रवर्तयति, तथा 'न कलञ्जं भक्षयेत्'इत्यादिनिषेधोऽपि निवर्तनां प्रतिपादयन् स्वनिवर्तकत्वनिर्वाहार्थं निषेध्यस्य कलञ्जभक्षणस्य परानिष्टसाधनत्वमाक्षिपन् पुरुषं ततो निवर्तयति।

लिङर्थशब्दभावनाया नञर्थेनान्वयः

ननु निषेधवाक्यस्य कथं निवर्तनाप्रतिपादकत्वमिति चेदुच्यते। न तावदत्र धात्वर्थस्य नञर्थेनान्वयः, अव्यवधानेऽपि तस्य प्रत्ययार्थभावनोपसर्जनत्वेनोपस्थितेः। न ह्यन्योपसर्जनत्वेनोपस्थितमन्यत्रान्वेति, अन्यथा राजपुरुषमानयेत्यादावपि राज्ञः क्रियान्वयापत्तेः। अतः प्रत्ययार्थस्यैव नञर्थेनान्वयः। तत्रापि नाख्यातत्वांशवाच्यार्थभावनायास्तस्या लिङंशवाच्यप्रवर्तनोपसर्जनत्वेनोपस्थितेः, किन्तु लिङंशवाच्यशब्दभावनायाः, तस्याः सर्वापेक्षया प्रधानत्वात्।

पुरुष को (कर्मविशेष से) मना करने वाला वाक्य निषेध है। निषेध-वाक्यों की सार्थकता इसी में है कि वे अनिष्ट की कारणभूत क्रियाओं से पुरुष को हटाते हैं। जिस प्रकार से

विधि-वाक्य प्रवृत्ति को प्रतिपादित करते हुये अपनी प्रवर्तकता के निर्वाह के लिये सम्पादनीय याग आदि में इष्टभूत (स्वर्गादि) की साधनता का आक्षेप करते हुए पुरुष को उनमें—यागादि में—प्रवृत्त करता है, उसी प्रकार 'कलञ्ज नहीं खाना चाहिये' इत्यादि निषेध भी निवृत्ति का प्रतिपादन करते हुए अपनी निवारकता के निर्वाह के लिये निषेध के विषय कलञ्जभक्षण में घोर (नरकादि) अनिष्ट की साधनता का आक्षेप करते हुए पुरुष को उससे हटाता है।

निषेधवाक्य की निवर्तना-प्रतिपादकता कैसे सिद्ध होती है, यह शंका हो तो उत्तर है—कि यहाँ धात्वर्थ का नञ् के अर्थ से अन्वय नहीं होता है, क्योंकि व्यवधान न रहने पर भी उस धात्वर्थ की उपस्थिति प्रत्यय की अर्थभूता भावना में विशेषण रूप में होती है। दूसरे के विशेषण के रूप में उपस्थित वस्तु उससे भिन्न से नहीं जुड़ती। अन्यथा तो 'राजपुरुष को लाओ' आदि वाक्यों में भी राजा का सम्बन्ध क्रिया से होने लगेगा। इसलिये प्रत्ययार्थ का ही नञर्थ से अन्वय होता है। वहाँ भी—अर्थात् प्रत्ययार्थ में भी—(नञर्थ से) आख्यातत्व अंश से वाच्य आर्थीभावना का सम्बन्ध नहीं होता है क्योंकि वह तो लिङ्-अंश से वाच्य प्रवर्तना के विशेषण के रूप में उपस्थित होती है, अपितु लिङ् अंश से वाच्य शाब्दी-भावना से ही (उसका अन्वय होता है), क्योंकि वही (शाब्दीभावना ही) सबकी अपेक्षा प्रधान होती है।

तदेवं मत्वर्थलक्षणादिनिमित्तचतुष्टयनिरूपणेन नामधेयस्य विधेयार्थपरिच्छेदकतयार्थवत्त्वं निरूपितम्। अधुना निषेधवाक्यानामर्थवत्त्वनिरूपणाय निषेधवाक्यं लक्षयति—पुरुषस्य निवर्तकमिति। निषेधेति। **'न कलञ्जं भक्षयेत्' इत्यादिनिषेधवाक्यानामनर्थहेतुभूतायाः कलञ्जभक्षणादिक्रियायाः सकाशात् पुरुषस्य निवृत्तिजनकत्वेनैवार्थवत्त्वं न किंचित्कर्तव्यताप्रतिपादकत्वेनेति भावः, यथा विधिवाक्यानां स्वप्रवर्तकत्वान्यथानुपपत्त्या विधेयार्थस्य स्वर्गादिरूपेष्टसाधनत्वप्रत्यायनेन तत्र विधेयार्थे पुरुषप्रवृत्तिजनकत्वं तथा निषेधानामपि स्वनिवर्तकत्वान्यथानुपपत्त्या निषेध्यस्य पुरुषानिष्टसाधनत्वप्रत्यायनेन, ततः कलञ्जभक्षणादेः पुरुषनिवृत्तिजनकत्वमिति दृष्टान्तदार्ष्टान्तिकाभ्यां निषेधवाक्यानामनर्थहेतुक्रियायाः पुरुषनिवृत्तिजनकत्वेनैवार्थवत्त्वमुपपादयति—**तथा हीत्यादिना।

ननु निषेधवाक्यानां निवर्तनाप्रतिपादकत्वं न संभवति, न भक्षयेन्न हन्तव्य इत्येवमादावव्यवधानेन नञर्थस्याभावस्य धात्वर्थेनान्वये सति धात्वर्थवर्जनकर्तव्यताया एव सर्वत्र वाक्यार्थत्वेन प्रतीयमानत्वात्। तथा च यथा यजेतेत्यादौ यागकर्तव्यता वाक्यार्थो भवति तथा 'न कलञ्जं भक्षयेत्' 'ब्राह्मणो न हन्तव्यः' इत्यादावपि तत्तद्धात्वर्थवर्जनकर्तव्यतैव वाक्यार्थो न निवर्तनेत्याशयेनाशङ्कते—नन्विति। **नञर्थस्याभावस्य धात्वर्थेनाव्यवधानेऽपि धात्वर्थस्य प्रत्ययार्थभावनोपसर्जनत्वेनोपस्थितत्वान्न नञर्थेनान्वयः संभवति। अन्यत्रोपसर्जनत्वेनान्वितस्यान्यत्रोपसर्जनत्वेनान्वयायोगादिति परिहरति—**उच्यत इत्यादिना। अत्रेति। **'न कलञ्जं भक्षये' दित्यादावित्यर्थः।** अव्यवधानेऽपीत्यत्र **धात्वर्थस्य नञर्थेनेत्यनुषङ्गः।** तस्येति। **धात्वर्थस्येत्यर्थः। अन्योपसर्जनत्वेनोपस्थितस्याप्यन्यत्रोपसर्जनत्वेनान्वये को दोष इत्यत आह—**न हीति। **तत्र बाधकं दोषमाह—**अन्यथेति। **अन्यविशेषणत्वेनोपस्थितस्याप्यन्यत्र विशेषणत्वेनान्वयस्वीकारे पुरुषोपसर्जनत्वेनोपस्थितस्य राज्ञोऽपि क्रियोपसर्जनत्वेनान्वयापत्तेरित्यर्थः। धात्वर्थस्य नञर्थेनान्वयासंभवात् कलञ्जा-**

दिपदार्थस्यापि कारकोपसर्जनत्वेनोपस्थितस्य तत्रान्वयासंभवाच्च परिशेषात्प्रत्ययार्थस्यैव नञर्थनान्वयो भवतीत्याह—अत इति। **किंच प्रत्ययार्थोऽपि द्विविधो भवत्याख्याततवांशवाच्यार्थभावना लिङंशवाच्या शब्दभावना चेति, तयोर्मध्येऽपि नाख्याततवांशवाच्यभूताया अर्थभावनाया नञर्थेनान्वयः संभवतीत्याह**––तत्रापीति। **तत्र हेतुमाह**—तस्या इति। प्रवर्तनोपसर्जनत्वेनेति। **शब्दभावनाविशेषणत्वेनेत्यर्थः। लिङंशवाच्येत्यस्य लिङो योऽशो लिङ्स्वरूपो धर्मस्तद्वाच्येत्यर्थो बोध्यः। एवमग्रेऽपि। ननु 'न कलञ्जं भक्षये'दित्यादौ कलञ्जादिपदार्थस्य धात्वर्थस्य च नञर्थेनान्वयो भवतैव निरस्तः, प्रत्ययार्थस्याप्यर्थभावनारूपस्य नञर्थेनान्वयानङ्गीकारे प्रत्ययार्थत्वाविशेषाच्छब्दभावनाया अपि तेनान्वयासंभवेनानन्वितशब्दस्याप्रामाण्यापत्तिरित्याशङ्क्य परिहरति**–किंत्विति। **तत्र हेतुमाह**–तस्या इति। **प्रत्ययार्थत्वं न नञर्थेनान्वये प्रयोजकं किंतु सर्वापेक्षया मुख्यत्वेनोपस्थितत्वं, तच्च शब्दभावनायामबाधितमिति भावः।**

निषेध वेद के पाँच भागों में से चतुर्थ है। इसका सामान्य अर्थ है, 'मना करना'। यह वारणकर्म दो प्रकार का हो सकता है—एक तो श्रेयस्कर कर्म से और दूसरा अहितकर कर्म से। प्रथम प्रकार का कार्य कोई शत्रु ही कर सकता, और शास्त्रों की किसी से शत्रुता नहीं है, अतः उसके वाक्य उन्हीं कर्मों से पुरुष को मना करते हैं जिनसे अनर्थ होता है अर्थात् जो अनर्थ के साधन हैं। जो मनुष्य के जीवन का प्रयोजन या लक्ष्य हो सकता है, जिससे पुरुष का वस्तुतः कल्याण होता है, उसे अर्थ या पुरुषार्थ कहते हैं, जैसे स्वर्ग आदि। जो पुरुष को इष्ट नहीं हैं, जिनमें वह अपना कल्याण नहीं समझता उसे अनिष्ट या अनर्थ कहते हैं, जैसे नरक आदि।

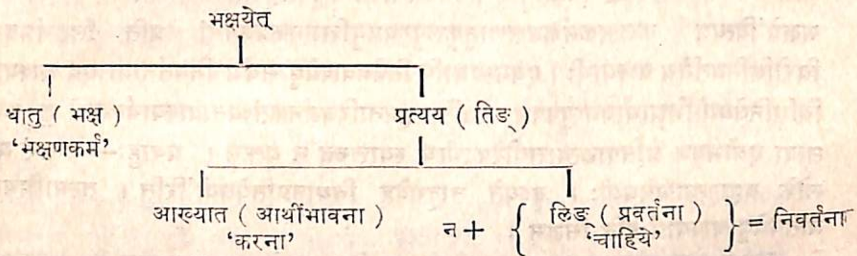
विधिवाक्य पुरुष को स्वर्गादि इष्ट की प्राप्ति हेतु प्रेरित करते हैं और बतलाते हैं कि उन इष्टों के साधन याग आदि कर्म हैं, अतः उनको सम्पन्न करना चाहिये। इस प्रेरणा के कारण ही विधिवाक्यों का सार्थक्य है। निषेधवाक्यों की सार्थकता इसलिये है क्योंकि ये पुरुष को उन कर्मों से निवृत्त करते हैं जिनसे अनिष्ट की प्राप्ति हो सकती है अर्थात् इन वाक्यों से पहले कर्मविशेष को घोर अनिष्ट का साधन सिद्ध किया जाता है, तब पुरुष को उससे निवृत्त किया जाता है। जैसे कलञ्ज—विषाक्त बाण से मारे गये पशुपक्षी का मांस—खाने से प्राणत्याग आदि अनर्थ हो सकता है, अतः किसी भी व्यक्ति को उसका भक्षण नहीं करना चाहिये क्योंकि मरणरूप अनिष्ट का वह प्रबल साधन है। इस प्रकार विधिवाक्य जहाँ इष्ट के साधनभूत कर्मों में प्रवृत्त करके कल्याण-सम्पादन करते हैं, वहीं निषेधवाक्य अनिष्ट के साधनभूत कर्मों से निवृत्त करके।

निषेध का ज्ञापन नञ् से कराया जाता है जिसके अन्तिमवर्ण 'ञ्' का लोप करके सामान्यतः 'न' का प्रयोग किया जाता है। इसका निषेध के अर्थ में स्वतन्त्र प्रयोग भी होता है और सुबन्त के साथ समस्त भी।[1] उत्तर-पद रहते 'न' का 'अ' आदेश हो जाता है[2] और अजादि उत्तर-पद रहते अन्।[3] इस के 'न कलञ्जं भक्षयेत्' 'अब्राह्मणः' और 'अनश्वः' आदि क्रमशः उदाहरण हैं। अब प्रश्न यह है कि निवर्तना का बोध कराने के लिये निषेधार्थक नञ् का योग निषेधवाक्य में किससे किया जाता है? उत्तर स्पष्ट है कि विधि अथवा प्रवर्तना का ज्ञान क्रियापद के जिस लिङ् अंश से होता है, निवर्तना के ज्ञान के लिये उसी से नञ् का योग होना चाहिये। भ्रमनिवारणार्थ अन्यत्र उसकी व्यावृत्ति प्रदर्शित करते हुए अन्ततः लिङ् से उसका योग सिद्ध किया गया है।

१. नञ् ॥ पा० २।२।६ ॥,
२. न–लोपो नञः ॥ पा० ६।३।७ ॥,
३. तस्मान्नुडचि ॥ पा० ६।३।७४ ॥,

"न कलञ्जं भक्षयेत्" वाक्य पर सामान्य दृष्टि डालने पर ऐसा प्रतीत होता है जैसे 'न' का योग 'कलञ्ज' से हो, किन्तु निषेध में मुख्यतः निवर्तना अपेक्षित होने से उसमें सहयोग करने में अक्षम 'कलञ्ज' संज्ञापद से उसका सम्बन्ध न हो सकेगा। अब रह गयी 'भक्षयेत्' क्रिया। इसके भी कई अंश हैं—प्रथमतः भक्ष् धातु और द्वितीयतः तिङ् प्रत्यय। इन्हीं में से किसी से नञ् का योग होना चाहिये। न+भक्ष् (धातु)+तिङ् (प्रत्यय)। इस स्थिति में 'न' तथा 'भक्ष्' दोनों परस्पर बहुत समीप हैं और उनमें कोई व्यवधान नहीं है। दोनों में निकटता की प्रतीति हो रही है, किन्तु सम्बन्ध सम्भव न हो सकेगा। कारण यह है कि भक्ष् धातु लिङ् प्रत्यय का उपसर्जन, उपपद अथवा विशेषण-सा होने से गौण है। मीमांसादर्शन के अनुसार क्रियापद में प्रधानता प्रत्ययार्थ की होती है, धात्वर्थ गौण होता है, अतः 'न' का योग प्रत्ययार्थ से ही होना चाहिये। इसका कारण यह है कि गौणरूप में उपस्थित पद या पदार्थ अपने से भिन्न प्रकार के पद या पदार्थ से अन्वित नहीं हो सकता है। उदाहरण के लिये 'राजपुरुषं आनय' वाक्य को लिया गया है। 'राजपुरुषं' में 'राजा' पद पुरुष का उपसर्जन है, अतः गौण है। आनयन क्रिया पुरुष के साथ होती है, राजा के साथ नहीं। यदि गौणभूत 'राजा' पद का भी 'आनय' से अन्वय किया गया तो पुरुष के साथ ही राजा को भी आना पड़ेगा, किन्तु व्यवहार में ऐसा होता नहीं है। लाया जाता है पुरुष को न कि राजा को, क्योंकि वह पुरुष का उपसर्जन है, अतः अन्यत्र अर्थात् आनयन आदि क्रियाओं से उसका अन्वय नहीं हो सकता। ठीक इसी प्रकार भक्ष् धातु 'तिङ्' प्रत्यय का उपसर्जन होने से 'न' आदि से अन्वित नहीं हो सकती।

भावनानिरूपण के प्रसङ्ग में स्पष्ट किया गया है कि प्रत्यय के भी दो अंश होते हैं—आख्यात और लिङ्। इनमें से आख्यात अंश से आर्थीभावना-अर्थात् 'सम्पादन' का अर्थ व्यक्त होता है और लिङ् अंश से 'चाहिये' अर्थात् 'प्रवर्तना' का। इन दोनों में भी 'प्रवर्तना' प्रधान है और आर्थीभावना गौण या उपसर्जन। अतः सर्वप्रधान लिङ् से 'नञ्' का अन्वय होगा।



नञ्स्वभावकथनम्

(५८) नञश्चैव स्वभावो यत्स्वसमभिव्याहृतपदार्थविरोधिबोधकत्वम्। यथा 'घटो नास्ती'त्यादौ अस्तीतिशब्दसमभिव्याहृतो नञ् घटसत्त्वविरोधि घटासत्त्वं गमयति, तदिह लिङ्समभिव्याहृतो नञ् लिङर्थप्रवर्तनाविरोधिनीं निवर्तनामेव बोधयति। विधिवाक्यश्रवणेऽयं मां प्रवर्तयतीति प्रतीतिः। तस्मान्निषेधवाक्यस्थले निवर्तनैव वाक्यार्थः।

नञ् का यह स्वरूप है कि वह अपने साथ अन्वित पद के अर्थ के विरोधी का बोध कराता है। जैसे—'घटो नास्ति' आदि में 'अस्ति' इस पद के साथ में पठित नञ् घट की सत्ता की विरोधिनी घट की असत्ता का ज्ञान कराता है। इसी प्रकार यहाँ (न कलञ्जं भक्षयेत्) में लिङ् के साथ अन्वित नञ् लिङ् की अर्थभूता प्रवर्तना की विरोधिनी निवर्तना

का ही बोध कराता हैं। ('यजेत स्वर्गकामः' आदि) विधिवाक्य का श्रवण होने पर 'यह विधि मुझे (यागादि में) प्रवृत्त करती है' इस वाक्यार्थ की प्रतीति होती है, अतः निषेध वाक्यों के स्थानों में निवर्तना ही वाक्यार्थ होती है।

एवं शब्दभावनारूपस्य प्रत्ययार्थस्य प्रवर्तनाविशेषस्य नञर्थेनान्वये सिद्धे नञः प्रत्यार्थभूतप्रवर्तनाविरोधिनिवर्तनाबोधकत्वप्रदर्शनाय प्रथमं तत्स्वभावं प्रदर्शयति—नञश्चैष स्वभाव इति। **अत्र स्वसमभिव्याहृतपदार्थविरोधिबोधकत्वं स्वान्वितपदार्थविरोधिबोधकत्वं बोध्यम्। तेन कलञ्जादिपदार्थानामपि विरोधिबोधकत्वं नञो दुर्वारं स्यात्तेषामप्येकत्र सहपाठरूपनञ्समभिव्याहारस्य सत्त्वादिति निरस्तम्। तेषां नञन्वितपदार्थत्वाभावस्य दर्शितत्वेन नञस्तद्विरोधिबोधकत्वासंभवात्। नञः स्वसमभिव्याहृतपदार्थविरोधिबोधकत्वं दृष्टान्तेन स्पष्टयति—यथेत्यादिना।** घटसत्त्वविरोधीति। **नास्तीत्युक्ते कस्यासत्त्वमस्तीति-सत्त्वशब्दान्वयिना नञात्र बोध्यते इति सत्त्वनिरूपकाकाङ्क्षायाः सत्त्वाद् घटनिरूपितसत्त्व-विरोधीत्यर्थः। इदानीं नञः स्वभावप्रदर्शनस्य फलं दर्शयति**—तदिति। **तन्नञित्यन्वयः। तत्प्रदर्शितस्वभावं नञित्यर्थः।** इहेति। **'न कलञ्जं भक्षयेद्, ब्राह्मणो न हन्तव्य' इत्यादौ वाक्य इत्यर्थः। ननु लिङः प्रवर्तनाप्रतिपादकत्वे सिद्धे तत्संबद्धनञस्तदर्थप्रवर्तनाविरोधि-निवर्तनाप्रतिपादकत्वं सेत्स्यति तदेव कुत इत्याशङ्क्य तत्र हेतुमाह—विधीति।** प्रतीतेरिति। **प्रवर्तनाप्रतीतेरित्यर्थः। यद्वा 'यजेत स्वर्गकाम' इति विधिवाक्यश्रवणेऽयं मां प्रवर्तयतीति प्रवर्तनाप्रतीतिवत्, 'न कलञ्जं भक्षये'दित्यादिनिषेधवाक्यश्रवणेऽप्ययं मां निवर्तयतीति निवर्तनाप्रतीतेरित्यध्याहारेण विधीत्यादिहेतुवाक्यं दृष्टान्तदार्ष्टान्तिकविधया योजनीयम्। एवं सिद्धं निवर्तनारूपं निषेधवाक्यार्थमुपसंहरति—**तस्मादिति। **'न कलञ्जं भक्षये'दित्यत्र कलञ्जकर्मकभक्षणानुकूलपुरुषप्रवृत्तिजनकप्रवर्तनां प्रति लिङर्थप्रवर्तना-विरोधिनिवर्तनैव वाक्यार्थः। एवमन्यत्रापि निषेधवाक्येषु सर्वत्र निवर्तनाया एव वाक्यार्थत्वे विधिनिषेधयोर्भिन्नार्थत्वमप्युपपन्नं भवति, हननादिवर्जनकर्तव्यतावाक्यार्थत्वपक्षे तु कर्तव्य-ताया एवोभयत्र प्रतिपाद्यत्वात्तयोरेकार्थत्वं स्यात्तच्च न युक्तम्। यथाहुः—अन्तरं यादृशं लोके ब्रह्महत्याश्वमेधयोः। दृश्यते तादृगेवेह विधानप्रतिषेधयो'रिति। तस्मान्निवर्तनैव प्रतिषेधेषु वाक्यार्थ इति सिद्धम्।**

यहाँ नञ् का स्वरूप बतलाया गया है कि वह जिस पद के साथ उक्त होता है अर्थात् अन्वित होता है, उस पद के अर्थ के विरोधी का ज्ञापक होता है। उदाहरण 'घटो नास्ति' का दिया गया है। यदि 'न' का अन्वय घट के साथ होता—'न घटः = अघटः अस्ति' तो वह घट के विरोधी पट या दण्ड आदि के अस्तित्व का ज्ञापक होता। यहाँ ध्यान रखना चाहिये कि 'विरोधी' 'अभाव' का वाचक नहीं है। अभाव सामान्य भाषा में अस्तित्व हीनता का वाचक है जब कि 'विरोधी' पद मात्र स्वरूपभिन्नता का। शेष स्पष्ट है।

(५९) यदा तु प्रत्ययार्थस्य तत्रान्वये बाधकं तदा धात्वर्थस्यैव तत्रान्वयः। तच्च बाधकं द्विविधम्–तस्य व्रतमित्युपक्रमो विकल्पप्रसक्तिश्च।

बाधकं द्विविधम्

तत्राद्यं 'नेक्षेतोद्यन्तमादित्य'मित्यादौ 'तस्य व्रत' मित्युपक्रम्यैतद्वाक्यपाठात्। तथा चात्र पर्युदासाश्रयणम्।

तथा हि—व्रतशब्दस्य कर्तव्यार्थे रूढत्वात्तस्य व्रतमित्यत्र स्नातकस्य व्रतानां कर्तव्यत्वेनोपक्रमात् । किं तत्कर्तव्यमित्याकाङ्क्षायां 'नेक्षेतोद्यन्तमि'त्यादिना कर्तव्यार्थ एव प्रतिपादनीयः, अन्यथा पूर्वोत्तरवाक्ययोरेकवाक्यत्वं न स्यात् ।

तथा च नञर्थेन न प्रत्ययार्थान्वयः कर्तव्यार्थानवबोधात् । विध्यर्थप्रवर्तना-विरोधिनिवर्तनाया एव तादृशनञा बोधनात्, तस्याश्च कर्तव्यार्थत्वाभावात् । तस्मान्नेक्षेतेत्यत्र नञा धात्वर्थविरोध्यनीक्षणसंकल्प एव लक्षणया प्रतिपाद्यते तस्य कर्तव्यत्वसंभवात् ।

आदित्यविषयकानीक्षणसंकल्पेन भावयेदिति वाक्यार्थः । तत्र भाव्या-काङ्क्षायाम् 'एतावता हैनसा वियुक्तो भवती'ति वाक्यशेषावगतः पापक्षयो भाव्यतयान्वेति । एवं च पूर्वोत्तरयोरेकवाक्यत्वं निर्वहत्येव । न चात्र धात्वर्थ-विरोधिनः पदार्थान्तरस्यापि संभवात्कथमनीक्षणसंकल्पस्यैव भावनान्वय इति वाच्यम् । तस्य कर्तव्यताऽभावेन प्रकृते भावनान्वयायोग्यत्वात् ।

जब प्रत्ययार्थ का उससे (नञर्थ से) अन्वय में बाधक होता है, तब धात्वर्थ का ही नञर्थ से अन्वय होता है ।

और वह बाधक दो प्रकार का है—'तस्य व्रतम्' यह प्रकरण तथा विकल्प-प्रसक्ति । उनमें प्रथम—'नेक्षेतोद्यन्तमादित्यम्'—निकल रहे तथा डूब रहे सूर्य को कभी न देखे—आदि में है, क्योंकि वहाँ 'तस्य व्रतम्'—ये ब्रह्मचारी के अनुष्ठेय कर्म हैं—ऐसा प्रकरण प्रारम्भ करके तब इस वाक्य (नेक्षेत० आदि) का पाठ किया गया है । इसलिये वहाँ पर्युदास का अवलम्बन लिया जाता है ।

जैसे कि व्रतशब्द के कर्त्तव्य-अर्थ में रूढ़ होने से 'तस्य व्रतम्' इस वाक्य में स्नातक के व्रतों का कर्त्तव्य के रूप में उपक्रम होने के कारण—वह कर्त्तव्य क्या है' यह आकांक्षा होने पर 'नेक्षेतोद्यन्तम्' इत्यादि वाक्य के द्वारा कर्त्तव्यरूप अर्थ का ही प्रतिपादन होना चाहिये, नहीं तो पहले एवं बाद के वाक्यों में—('तस्य व्रतम्' और 'नेक्षेत०' में) एकवाक्यता नहीं होगी ।

ऐसी स्थिति में नञर्थ के साथ प्रत्ययार्थ का अन्वय नहीं होगा क्योंकि ऐसा होने पर 'कर्त्तव्यरूप अर्थ का बोध नहीं हो सकेगा । विधि की अर्थभूता प्रवर्तना की विरोधिनी निवर्तना ही उस प्रकार के (प्रत्ययार्थ से अन्वित) नञ् से बोधित होगी, और इस निवर्तना में कर्त्तव्यरूप अर्थ का अभाव होगा । अतः 'नेक्षेत०' इस वाक्य में नञ् से (ईक्षणरूप) धातु के अर्थ का विरोधी अनीक्षणसङ्कल्प ही लक्षणा से प्रतिपादित किया जाता है, क्योंकि उसकी कर्त्तव्यता संभव है ।

(अतः नेक्षेत०' आदि) वाक्य का अर्थ हुआ—'आदित्यविषयक अनीक्षण के सङ्कल्प से भावना करे ।' इस अर्थ में 'भाव्य' (अर्थात् किसकी भावना करे) की आकांक्षा होने पर 'एतावता हैनसा वियुक्तो भवति'—इससे वह निश्चित ही पाप से मुक्त हो जाता है—वाक्य के इस शेषांश से ज्ञात पापक्षय भाव्य के रूप में अन्वित होता है । इस प्रकार पहले तथा बाद के वाक्यों में एकवाक्यता का भी निर्वाह हो जाता है । (ईक्षण) धातु के अर्थ के विरोधी दूसरे पदार्थ की भी संभावना हो सकने से अनीक्षणसङ्कल्प का ही भावना से अन्वय कैसे हो गया, यह यहाँ नहीं कहना चाहिये क्योंकि उस (पदार्थान्तर) की करणीय कर्म के रूप में प्राप्ति न होने से प्रस्तुत प्रसङ्ग में वह भावना के साथ अन्वय के योग्य नहीं है ।

यदि तु प्रत्ययार्थस्य नञर्थेनान्वये किंचिद्बाधकं वर्तते तदा धात्वर्थस्यैव नञर्थेनान्वयो भवतीत्याह—यदा त्वित्यादिना । तत्र बाधकं विभजते—तच्चेति । प्रत्ययार्थस्य नञर्थेनान्वये वर्तमानं चेत्यर्थः ।

तत्राद्यमिति । तयोरुक्तयोर्द्वयोर्मध्य आद्यबाधकमित्यर्थः । तस्य व्रतमितीति । तस्य स्नातकस्य ब्रह्मचारिविशेषस्य व्रतं प्रजापतिदेवताकमादित्यानीक्षणसंकल्पादिकं किंचिदनुष्ठेयमित्यर्थः । एतद्वाक्यपाठादिति । 'नेक्षेतोद्यन्तमादित्यं नास्तं यन्तं कदाचने'त्येतद्वाक्यपाठादित्यर्थः । तथा चेति । तस्य व्रतमिति स्नातकस्यानुष्ठेयमुपक्रम्य 'नेक्षेतोद्यन्त'मित्यादिवाक्यपाठे चास्मिन्वाक्ये पर्युदास एव समाश्रीयत इत्यर्थः । किंच 'नेक्षेतोद्यन्तमादित्य'मित्यत्र नञ्पदमभिधावृत्त्या प्रतिषेधं ब्रूते नतु पर्युदासं, लक्षणापत्तेः प्रतिषेधस्य च प्राप्तिपूर्वकत्वाद्वैदिकस्य प्रतिषेधस्य वैदिक्येव प्राप्तिस्तु प्रत्यासन्नाभवेत् । तथा च सति यत्र क्रतावादित्येक्षणं विहितं तत्रायं प्रतिषेध उदयास्तमयोद्देशेन प्रवर्तते । एवं च सति नात्र फलं कल्पनीयं स्यात् । पर्युदासमाश्रित्य पुरुषार्थत्वाङ्गीकारे त्वधिकारसिद्धये फलस्य कल्पनीयत्वमापद्येत, तस्मादत्र क्रत्वर्थः प्रतिषेध इत्याशङ्क्य, तस्य व्रतमित्युपक्रम्य 'नेक्षेतोद्यन्तमि'त्याद्याम्नातत्वाद् व्रतशब्दस्य च कर्तव्यरूपार्थे रूढत्वादत्र किंचिदनुष्ठेयमेव प्रतिभाति । तच्च पर्युदासाश्रयणे सत्येवोपपद्यते ।

किंचोपक्रमवाक्ये प्रतिज्ञातस्यैवार्थस्यात्रापि वक्तव्यत्वात्, उपक्रमवाक्ये तु स्नातकानुष्ठेयव्रतानामेव प्रतिज्ञातत्वात् कानि तानि व्रतानीत्यपेक्षायां स्नातकव्रतप्रदर्शनायास्य वाक्यस्यावतारादत्र कर्तव्य एव कश्चिदर्थो वक्तव्यः, स च पर्युदासपक्षे लभ्यते, निषेधपक्षे तु दुर्लभ एवेत्यभिप्रायेण पर्युदासपक्षमुपपादयति—तथा हीत्यादिना । नेक्षेतोद्यन्तमित्यादौ कर्तव्यरूपस्यार्थस्याप्रतिपादनीयत्वे बाधकमाह—अन्यथेति । पूर्वोत्तरेति । तस्य व्रतमिति नेक्षेतोद्यन्तमित्याद्युत्तरवाक्यं च तयोरेकवाक्यत्वं बाध्येतेत्यर्थः ।

ननु 'नेक्षेतोद्यन्त'मित्यादौ भवतु कर्तव्यरूपार्थस्यैव प्रतिपादनं, ततोऽपि किं स्यादित्यत आह—तथा चेति । तथा च 'नेक्षेतोद्यन्त'मित्यादौ कर्तव्यरूपार्थस्य प्रतिपादनीयत्वे च नञर्थेन प्रत्ययार्थान्वयावकाशो न भवतीत्यर्थः । ननु 'नेक्षेतोद्यन्तमादित्य'मित्यत्र नञर्थेन प्रत्ययार्थस्यान्वये को दोष इत्याशङ्क्य तत्र हेतुमाह—कर्तव्येति । नञर्थेन प्रत्ययार्थस्य तत्रान्वये ततः कर्तव्यार्थानवबोधापत्तेरित्यर्थः । ननु प्रत्ययान्वितस्य नञः कर्तव्यार्थावबोधकत्वानङ्गीकारे को वार्थस्तेनावबोध्यत इत्यत आह—विध्यर्थेति । तादृशनञेति । प्रत्ययान्वितेन नञेत्यर्थः । तादृशनिवर्तनैव कर्तव्यरूपार्थो भवतु को दोष इति मन्दाभिप्रायमाशङ्क्याह—तस्याश्चेति । निरुक्तनिवर्तनायाश्चेत्यर्थः । किं चैवं नञः प्रत्ययेनान्वयासंभवे प्रत्ययादवतारितो नञ् धातुना सह संबध्यते, धातुना नञः संबन्धे च न तस्य निषेधकत्वं संभवति विधायकसंबद्धस्यैव नञो निषेधकत्वात्, निषेधकत्वप्रतिपक्षत्वात्, नामधातुभ्यां योगे तु नञो न निषेधकत्वं युक्तं तयोरविधायकत्वात् । यथाहुः—'नामधात्वर्थयोगे तु नैव नञ् प्रतिषेधकः । वदतोऽब्राह्मणाधर्मावन्यमात्रविरोधिना'विति । तस्मान्नेक्षेतेत्यत्र नञो धातुना योगान्नञा धात्वर्थक्षणविरोधी कश्चनार्थः प्रतिपाद्यते । यद्यपि

नञोऽभाव एव शक्तिः । तथा चेक्षणस्याभाव एव नञः शक्यार्थो लाघवात् नतु तद्विरोधी तस्यां भावघटितत्वेन गौरवापत्तेः । तदन्यतद्विरुद्धतदभावेषु नञिति स्मरणं तु प्रतीत्यभिप्रायं न शक्त्यभिप्रायं, तथापि नेक्षेतेत्यत्र प्रत्ययस्य नञा संबन्धशून्येन च तेन तावत्कश्चिदर्थो विधेयः स्वीकर्तव्यः । तत्र न तावद्धात्वर्थो विधातुं, नञा तदभावबोधनात् । नापि तदभावो विधातुं शक्यते, अभावस्याविधेयत्वात्, तस्मात्पर्युदासाश्रयणेन धात्वर्थेक्षणविरोधी कश्चनात्र विधानयोग्योऽर्थो नञा लक्षणया प्रतिपाद्यते, सच विधानयोग्यः पदार्थोऽनीक्षणसंकल्प एव, तस्येक्षणविरोधित्वात्कर्तव्यत्वसंभवाच्च. ततश्च स एव संकल्पोऽत्रानुष्ठेयत्वेन विधीयत इत्यभिप्रायेण पर्युदासस्यावश्यकत्वात् प्रत्ययादवतारितस्य नञो धातुसंबन्धेन तदर्थविरोध्यनीक्षणसंकल्पप्रतिपादकत्वमुपसंहरति—तस्मादिति । लक्षणयेति । स्वसमभिव्याहृतपदार्थाभाव एव नञः स्वशक्यार्थो भवति । तथा च स्वसंबध्यमानधात्वर्थाभावं शक्त्या प्रतिपादयन् नञ् तदभावसंबन्धिनं तदर्थविरोधिनं लक्षणया प्रतिपादयत्येव तदभावतद्विरोधिनोः संबन्धस्य संभवात् । दृश्यते हि तेजोऽभावतमसोः संबन्धः । तथा चोद्यन्तमस्तं यन्तं चादित्यं नेक्षिष्य इत्येवंरूपः संकल्पोऽत्रानुष्ठेयत्वेन विधीयमानो नञा लक्षणया प्रतिपाद्यत इति भावः । तस्यति । अनीक्षणसंकल्पस्येत्यर्थः ।

पर्युदासपक्षे 'नेक्षेतोद्यन्तमादित्य'मित्यस्य वाक्यस्यार्थं प्रदर्शयति—आदित्येति । यत्तु पर्युदासपक्षे फलस्यात्र कल्पनीयत्वमापादितं तदपि न, वाक्य-शेषावगतस्य पापक्षयस्यैवात्र फलत्वसंभवादित्याशयेनात्र भाव्यान्वयं प्रदर्शयति—तत्रेति । अनीक्षणसंकल्पभावनायामित्यर्थः । एनसा वियुक्तो भवतीति । पापेन विरहितो भवतीत्यर्थः । किंच 'नेक्षेतोद्यन्तमादित्य'मित्यत्रानीक्षणसंकल्परूपस्यानुष्ठेयस्य प्रतिपादने तस्य व्रतमिति स्नातकव्रतोपक्रमवाक्यस्य नेक्षेतेत्याद्युत्तरवाक्येनैकवाक्यत्वमुपपन्नं भवति, पूर्वप्रतिज्ञातस्यैवोत्तरप्रतिपादनादित्याह—एवमिति । ननु धात्वर्थेक्षणविरोधिनो बहवः पदार्था अनुष्ठेयाः सन्ति, ततश्च कथमत्र वाक्येऽनीक्षणसंकल्पस्यैव भावनायां करणत्वेनान्वयः स्वीक्रियत इत्याशङ्क्य परिहरति—न चेत्यादिना । यद्यपि पदार्थान्तराणां पटेन चक्षुषोः पिधानादिरूपाणां धात्वर्थेक्षणविरोधित्वं संभवति, तथापि कायिकवाचिकव्यापाराविशेषाणामत्राप्रतीयमानत्वान्मानसव्यापारस्य चाप्रतिषेधात्संकल्प एव मानसव्यापारविशेषोऽत्र परिशिष्यत इत्यभिप्रेत्य तत्र हेतुमाह—तस्येति । पटादिना चक्षुषोः पिधानादिरूपस्य पदार्थान्तरस्य कर्तव्यताभावेन कर्तव्यत्वेन विवक्षाऽसंभवेन सर्वक्रियाऽविनाभूतस्यैव धात्वर्थेक्षणविरोधिपदार्थान्तरस्य नेक्षेतेत्यादौ प्रकृते भावनान्वययोग्यत्वमुपपद्यते । तथा च धात्वर्थेक्षणविरोध्यनीक्षणसंकल्पस्यैवात्र भावनान्वययोग्यता संभवति, तस्य सर्वक्रियाऽविनाभूतत्वान्न तु तादृशपदार्थान्तरस्य तस्य सर्वक्रियाऽविनाभूतत्वासंभवादिति भावः ।

निवर्तना अर्थ का ज्ञान कराने के लिये नञर्थ की प्रत्ययार्थ से अन्वय की अपेक्षा प्रतिपादित की गयी है । यहाँ यह बतलाया जा रहा है कि कुछ ऐसे भी स्थल हैं जहाँ प्रत्ययार्थ से नञर्थ के अन्वय में बाधा पड़ती है, अर्थात् यदि इन्हीं दोनों का अन्वय स्वीकार किया गया हो सभी वाक्यों की एकवाक्यता नहीं बन सकेगी । एक प्रसङ्ग के अनेक वाक्यों में एकतात्पर्यता न रहने पर वाक्य अनर्थक होने लगेंगे । अतः अर्थसङ्गति के लिये कुछ स्थलों पर नञर्थ का अन्वय प्रत्ययार्थ से न करके धात्वर्थ से किया जाता है ।

इस प्रकार के दो स्थल हैं जहाँ उक्त सम्बन्ध में बाधा पड़ती है। इनमें से एक है वह प्रसङ्ग जहाँ स्नातकों द्वारा अवश्य करणीय व्रतों का उल्लेख है। व्रत वह मानस व्यापार है जिसको सम्पन्न करना ही अपेक्षित है। स्नातक के कर्त्तव्य कर्मों के प्रकरण का प्रारम्भ 'तस्य व्रतम्' कह कर किया गया। इसका अभिप्राय यह हुआ कि यहाँ से जिन कर्मों का परिगणन कराया जा रहा है, उनका सम्पादन स्नातक को करना ही है। इसके आगे केवल विध्यात्मक वाक्य होते जैसे—पयः पिबेत्, स्वशाखां पठेत् आदि, तब तो कोई कठिनाई न होती, क्योंकि यहाँ पानकर्म और पठनकर्म का सम्पादन अपेक्षित हैं। इसकी संगति व्रत की करणीयता से बैठ रही है। किन्तु दुःख इस बात का है कि आगे का विधान है—नेक्षेदुद्यन्तम् आदित्यम्' आदि। यदि वाक्य 'ईक्षेत उद्यन्तम् आदित्यम्' होता, तब व्रत के अनुसार ईक्षण कर्म का सम्पादन किया जाता, किन्तु 'ईक्षण न करना' में सम्पादन के लिये कुछ नहीं रह जाता है, जब कि 'व्रतम्' पद इस बात पर जोर देता है कि कर्म का सम्पादन अपेक्षित है। यह विरोध इसलिये उत्पन्न हो रहा है क्योंकि 'नेक्षेत' के नञ् का अन्वय प्रत्यय के लिङर्थ से किया जा रहा है, अतः प्रवर्तना की विरोधिनी निवर्तना व्यक्त हो रही है जिसमें किसी कर्म का सम्पादन अपेक्षित नहीं है। जब तक प्रवर्तना नहीं होगी तब तक 'व्रतम्' से निर्दिष्ट कर्म की निष्पत्ति संभव नहीं होगी।

इसी विरोध को बचाकर अर्थसंगति के लिये नञर्थ का अन्वय लिङर्थ से न करके धात्वर्थ के साथ किया जा रहा है। अर्थात् नञ् लगने का रूप-ईक्ष् धातु+त प्रत्यय (=आख्यात+'न+लिङ्')—न होकर ऐसा होगा—(न+ईक्ष्)+त प्रत्यय (=आख्यात+लिङ्)। नञ् जिससे अन्वित होता है उसके विरोधी अर्थ का बोध कराता है, अतः यहाँ ईक्ष् धातु के अर्थ ईक्षण के साथ लगकर नञ् उसके विरोधी का बोधक होगा। अब प्रश्न उठता है कि ईक्षण का विरोधी क्या है? उत्तर है—अनीक्षणसंकल्प। पुनः प्रश्न है कि ईक्षण का विपरीत अनीक्षण होता है, 'संकल्प' कहाँ से जुड़ गया? उसका उत्तर यह है कि ईक्षण का विरोधी अनीक्षण अभिधाशक्ति से होता है, किन्तु यहाँ लक्षणाशक्ति का प्रयोग किया गया है उसी से यह संकल्पयुक्त अर्थ निकला। यदि ईक्षण का विरोधी अनीक्षण अर्थ ही लिया जाता तो फिर पहले की ही असंगति उपस्थित होती, क्योंकि 'अनीक्षण' में कुछ भी सम्पन्न करना नहीं होता है। अनीक्षणसंकल्प एक मानस व्यापार है जिसको सम्पन्न किया जा सकता है। जहाँ मुख्यार्थ का बाध होता है अर्थात् वाच्य अर्थ की अन्विति नहीं हो पाती है, तब सङ्गति के लिये उससे सम्बद्ध अर्थ का ग्रहण कर लिया जाता है। यहाँ ईक्षण का विरोधी अनीक्षण अर्थ सम्पाद्य नहीं है, अर्थात् मुख्यार्थ का बाध हो रहा है, अतः लक्षणा से उसका निष्पादन के योग्य 'अनीक्षणसङ्कल्प' अर्थ लिया गया। मूल ग्रन्थ के 'तस्मान्नेक्षेत···कर्तव्यत्वसंभवात्' का यही आशय है।

इस प्रकार 'नेक्षेतोद्यन्तम्' आदि वाक्य का मीमांसा शास्त्रानुसार अर्थ हुआ—'आदित्यविषयक अनीक्षणसङ्कल्प से भावना करे'। 'किसकी भावना करे' इस प्रकार साध्य की अपेक्षा होने पर 'एतावता हैनसा वियुक्तो भवति' इस शेष वाक्य से ज्ञात हो जाता है कि 'पापक्षय' की भावना करे, अर्थात् यदि स्नातक ने निर्दिष्ट व्रतों का पालन किया है, तो वह पापमुक्त हो जायेगा, उसके पापों का क्षय हो जायेगा। अतः पापक्षय के लिये स्नातक को ये व्रत करने चाहिये। इस प्रकार नञर्थ का लिङर्थ से अन्वय न करके धात्वर्थ से करने पर-ईक्षण के विरोधी अनीक्षणसङ्कल्प अर्थ का ग्रहण करने पर—'तस्य व्रतम्' 'नेक्षेत०' तथा "एतावता हैनसा०" आदि सभी में एकवाक्यता हो जाती हैं, अर्थात् सब से एक तात्पर्य का प्रतिपादन हो जाता है, कोई असङ्गति नहीं होती।

यदि कहा जाये कि ईक्षणरूप धात्वर्थ का विरोधी अनीक्षणसङ्कल्प को ही क्यों माना गया जब कि 'वस्त्र से नयन ढँकना' आदि—नयनपिधान-भी उसका ऐसा विरोधी अर्थ है जिसका सम्पादन संभव है, तो उत्तर है कि दर्शन-विरोधी होने पर भी यह लिङर्थभूता प्रवर्तना अर्थात् शाब्दी भावना का विषय नहीं बन सकता। भावना का विषय वही बन सकता है जिसका विधान किसी

स्वतन्त्र विधिवाक्य से हो रहा हो। नयनपिधान यहाँ किसी विधिवाक्य द्वारा कर्त्तव्यत्वेन विहित नहीं है। अतः इसमें भावना से अन्वित होने की योग्यता नहीं है।[1] इसके अतिरिक्त रामेश्वर शिवयोगी ने अनीक्षणसङ्कल्प को व्रत की भांति मानस व्यापार मानकर दोनों की अन्विति को उचित माना है, और कपड़े से नयनपिधान को शारीरिक कार्य मानकर उसको अन्वय के अयोग्य कहा है। यहाँ ग्रन्थ में उद्धृत 'तस्य व्रतम्' 'नेक्षेतोद्यन्तम्'० तथा 'एतावता हैनसा०'' ये तीनों वाक्य वैदिकभाषा की शैली में हैं, किन्तु पता नहीं कौन से सूत्र या ब्राह्मणग्रन्थ में इनका एक साथ प्रयोग हुआ है। ये वचन ही क्रमशः इनके स्रोत रहे हों—

अतोऽन्यतमया वृत्त्या जीवंस्तु स्नातको द्विजः।
स्वर्गायुष्ययशस्यानि व्रतानीमानि धारयेत्॥
नेक्षेतोद्यन्तमादित्यं नास्तं यन्तं कदाचन।
नोपसृष्टं न वारिस्थं न मध्यं नभसो गतम्॥
अनेन विप्रो वृत्तेन वर्तयन् वेदशास्त्रवित्।
व्यपेतकल्मषो नित्यं ब्रह्मलोके महीयते॥ मनुस्मृति ४।१३,३७,२३०

(६०) द्वितीयं 'यजतिषु ये यजामहं करोति नानुयाजेष्वि'त्यादौ। अत्र विकल्पप्रसक्तौ च पर्युदासाश्रयणात्।

तथा हि—यद्यत्र वाक्ये नञर्थे प्रत्ययार्थान्वयः स्यात्तदा अनुयाजेषु 'ये यजामहं' इति मन्त्रस्य प्रतिषेधः स्यात्, अनुयाजेषु ये यजामहं न कुर्यादिति। स च प्राप्तिपूर्वक एव, प्राप्तस्यैव प्रतिषेधात्। प्राप्तिश्च 'यजतिषु ये यजामहं करोती'ति शास्त्रादेव वाच्या। शास्त्रप्राप्तस्य च प्रतिषेधे विकल्प एव, न तु बाधः। प्राप्तिमूलरागस्येव तन्मूलशास्त्रस्य शास्त्रान्तरेण बाधायोगात्।

न च 'पदे जुहोती'तिविशेषशास्त्रेण 'आहवनीये जुहोती'ति शास्त्रस्येव 'नानुयाजेष्वि'त्यनेन 'यजतिषु येयजामहं करोती'त्यस्य बाधः स्यादिति वाच्यम्। परस्परनिरपेक्षयोरेव शास्त्रयोर्बाध्यबाधकभावात्। पदशास्त्रस्य हि स्वार्थविधानार्थमाहवनीयशास्त्रानपेक्षणान्निरपेक्षत्वम्। प्रकृते तु निषेधशास्त्रस्य निषेध्यप्रसक्त्यर्थं 'यजतिषु येयजामह'मित्यस्यापेक्षणान्न निरपेक्षत्वम्।

तस्माच्छास्त्रविहितस्य शास्त्रान्तरेण प्रतिषेधे विकल्प एव। स च न युक्तः। विकल्पे शास्त्रस्य पाक्षिकाप्रामाण्यापातात्। न ह्यनुयाजेषु येयजामहमित्यस्यानुष्ठाने नानुयाजेष्वित्यस्य प्रामाण्यं संभवति, व्रीहियागानुष्ठाने यवशास्त्रस्येव। द्विरदृष्टकल्पना च स्यात्, विधिप्रतिषेधयोरपि पुरुषार्थत्वात्, अतो नात्र प्रतिषेधस्याश्रयणम्, किंतु नञोऽनुयाजसंबन्धमाश्रित्य पर्युदासस्यैव।

(नञर्थ का प्रत्ययार्थ के साथ अन्वय का) द्वितीय बाध 'यजतिषु 'ये यजामहं' करोति

१. तस्य पदार्थान्तरस्य कर्त्तव्यत्वाभावेन कर्त्तव्यतया अनुदिष्टत्वेन। तथा च ईक्षणविरोधि-व्यापारान्तराणां प्राप्तावपि तेषां सर्वेषाम् अनुष्ठानस्य अशक्यतया तद्विशेषस्यानुष्ठेयत्वमेव वाच्यम्। तद्विशेषानुष्ठानं च प्रमाणान्तरसापेक्षतया प्रकृते प्रमाणान्तराभावादशक्यमतो व्यापारान्तरस्य न भावनान्वययोग्यत्वम्। प्रतिपादिका पृ० १४०.

नानुयाजेषु' इत्यादि वाक्यों में दर्शनीय है। यहाँ विकल्प-प्रसक्ति होने पर, (निर्दिष्ट अर्थ) पर्युदास का आश्रय लेने से ही प्रकट होता है।

जैसे कि-यदि इस वाक्य (यजतिषु० आदि) में नञर्थ से प्रत्ययार्थ का अन्वय किया जायेगा तो अनुयाजों में 'ये यजामहे' मन्त्र का बाध होने लगेगा-जिसका अर्थ होगा-'अनुयाजों में 'ये यजामहे' मन्त्र का उच्चारण न करना चहिये। यह निषेध प्राप्तिपूर्वक ही है, क्योंकि बाध प्राप्त का ही होता है। यह प्राप्ति 'यजतिषु ये यजामहं करोति' इस शास्त्रवाक्य से ही कहनी चाहिये। शास्त्रवाक्य से प्राप्त विषय का प्रतिषेध होने पर विकल्प ही माना जाता है न कि बाध। प्राप्ति के आश्रयभूत शास्त्र का दूसरे शास्त्रवचन से उस प्रकार बाध नहीं होता है जैसा कि प्राप्ति के आश्रयभूत राग का (शास्त्रवाक्य से हो जाता है।)

'पदे जुहोति' इस विशेष शास्त्रवाक्य से 'आहवनीये जुहोति' इस शास्त्र का जिस प्रकार बाध हो जाता हैं, उसी प्रकार 'नानुयाजेषु' इस शास्त्रवाक्य से 'यजतिषु ये यजामहं करोति' इस वाक्य का बाध हो जायेगा, ऐसा नहीं कहा जा सकता, क्योंकि उन्हीं दो शास्त्र-वाक्यों में बाध्यबाधकभाव होता है जो परस्पर सापेक्ष नहीं होते। पदशास्त्र ('पदे जुहोति' शास्त्रवाक्य) को अपने अर्थ के सम्पादन के लिये आहवनीयशास्त्र—('आहवनीये जुहोति' इस शास्त्रवाक्य) की अपेक्षा न होने से, उसमें निरपेक्षता है, किन्तु वर्तमान प्रसङ्ग में—(यजतिषु ये यजामहं० आदि में) निषेधवाक्य—(नानुयाजेषु) को निषेध्य—'ये यजामहं'—की प्राप्ति के लिये 'यजतिषु ये यजामहं करोति' इस वाक्य की अपेक्षा है, अतः (निषेधशास्त्र) निरपेक्ष नहीं है।

अतः शास्त्र से विहित पदार्थ का दूसरे शास्त्रवाक्य से बाध होने पर विकल्प ही ग्राह्य होता है। यह विकल्प संगत नहीं है, क्योंकि विकल्प ग्रहण करने पर शास्त्र के एक पक्ष—अर्थात् एकशास्त्रवाक्य—में अप्रामाण्य आ जायेगा, क्योंकि 'अनुयाजेषु ये यजामहं' इसका अनुष्ठान करने पर 'नानुयाजेषु' इस वाक्य का प्रामाण्य नहीं हो सकता, जैसा कि व्रीहि से याग का सम्पादन करने पर यव के विधायक शास्त्र का होता है। (विकल्प मानने पर) दो अदृष्टों की भी कल्पना करनी पड़ेगी, क्योंकि विधि और प्रतिषेध दोनों ही पुरुष के लिये इष्ट हैं। अतः यहाँ (यजतिषु० आदि में) प्रतिषेध का नहीं, अपितु नञ् का अनुयाज से सम्बन्ध लेकर पर्युदास का ही आश्रय अपेक्षित है।

प्रत्ययार्थस्य नञर्थेनान्वये विकल्पप्रसक्तिरूपस्य बाधकस्य प्रतिषेधविघटनेन पर्युदास-गमकत्वप्रदर्शनाय तद्विषयमुदाहरति—द्वितीयमिति।

अत्र पर्युदासाश्रयणाय विकल्पप्रसक्तिमेवोपपादयति—तथा हीत्यादिना। स चेति निषेधश्चेत्यर्थः। तत्र हेतुमाह—प्राप्तस्यैवेति। शास्त्रादेवेति। ब्राह्मणहननादेरिव रागतः प्राप्त्यसंभवात्तस्य शास्त्रादेव प्राप्तिर्वाच्येत्यर्थः। उपपादितां विकल्पप्रसक्तिमुपसंहरति—शास्त्रप्राप्तस्येति। ननु यथा हननादौ प्रवृत्तं पुरुषं हननादिप्राप्तिमूलभूतरागस्य बाधने ततो न हन्तव्य इत्यादिशास्त्रं निवर्तयति, तथा 'यजतिषु ये यजामहं करोती'ति शास्त्रादनुयाजे-ष्वप्यनुष्ठानकाले यजतित्वाविशेषादेव 'येयजामह' इति मन्त्रस्य समुच्चारणे प्रवृत्तं पुरुषं तत्प्राप्तिमूलभूतस्य प्रदर्शितशास्त्रस्य यजतिसामान्ये 'येयजामह' इति मन्त्रप्रापकस्यानुयाजेषु बाधेन ततो 'नानुयाजेषु ये यजामहं करोती'ति शास्त्रं निवर्तयत्वेति कथं न शास्त्रप्राप्तस्य बाधः स्यादित्यत आह—प्राप्तीति। शास्त्रेण बाध इति शेषः। तन्मूलशास्त्रस्येति। 'ये यजामह' इति मन्त्रप्राप्तिमूलशास्त्रात् 'यजतिषु ये यजामहं करोती'त्येवंरूपाच्छास्त्रा-न्तरेण 'नानुयाजेषु ये यजामहं करोती'त्येवंरूपेण प्रदर्शितमन्त्रप्राप्तिमूलभूतस्य प्रदर्शित-

शास्त्रस्य बाधायोगादित्यर्थः। दृष्टान्तस्त्वत्र व्यतिरेकी बोध्यः। तथा च—यथा हननादिप्राप्तिमूलरागस्य भ्रान्तिनिमित्तकस्य शास्त्रेण बाधो भवति तथा मन्त्रप्राप्तिमूलशास्त्राच्छास्त्रान्तरेण मन्त्रप्राप्तिमूलशास्त्रस्य बाधो न युक्तो, निषेधशास्त्रस्य निषेध्यप्राप्तिसापेक्षत्वेन तत्प्रापकस्याबाधकत्वादित्यनुपदं स्पष्टीभविष्यति मूल इति भावः। यद्वा, तन्मूलशास्त्रादिति पञ्चमी षष्ठ्यर्थे बोध्येति, तेनानुषङ्गविभक्तिविपरिणामयोर्न श्रमः कर्तव्यः स्यात्। केचित्तु तन्मूलशास्त्रादिति बाधमूलशास्त्राद्बाधकरूपात्प्राप्तिमूलरागस्य यथा बाधस्तथा शास्त्रान्तरेण प्राप्तिमूलशास्त्रस्य बाधायोगादिति व्याचक्षते।

ननु यथा पदाधिकरणकहोमविधायकविशेषशास्त्रेणा आहवनीयाधिकरणहोमविधायकस्य सामान्यशास्त्रस्य बाधः क्रियते, तथाऽनुयाजेषु येयजामहमन्त्रप्रतिषेधकरूपविशेषशास्त्रेण यागसामान्ये तन्मन्त्रविधायकस्य सामान्यशास्त्रस्य बाधः कथं न क्रियत इत्याशङ्क्य परिहरति—न चेत्यादिना। न च वाच्यमित्यत्र हेतुमाह—परस्परेति। शास्त्रयोरेकविषये वाध्यबाधकभावे परस्परनिरपेक्षत्वं हेतुः पदशास्त्रस्य पदाधिकरणकहोमरूपस्वार्थविधानार्थमाहवनीयशास्त्रनिरपेक्षत्वादनुयाजेषु येयजामहमन्त्रप्रतिषेधकशास्त्रस्य तत्र प्रतिषेध्यमन्त्रप्रसक्त्यर्थं यजतिसामान्ये तादृशमन्त्रविधायकसामान्यशास्त्रसापेक्षत्वाच्चेति दृष्टान्तदार्ष्टान्तिकयोर्वैषम्यं प्रदर्शयति—पदशास्त्रस्येत्यादिना। तथा च प्रतिषेधशास्त्रस्य विशेषविषयत्वेन प्रबलत्ववद्विधिशास्त्रस्याप्युपजीव्यत्वेन प्रबलत्वमस्तीति न प्रतिषेधशास्त्रेण विधिशास्त्रस्यात्यन्तबाधो युक्त इति विहितप्रतिषिद्धत्वाद्विकल्पः स्यात्, स च न युक्त इत्युपरिष्टात्स्पष्टीभविष्यतीति भावः।

बाधायोगमुपसंहरति—तस्मादिति। मन्त्रविधायकशास्त्रस्य तत्प्रतिषेधकशास्त्रेण बाधायोगाद्विहितस्यापि तेन प्रतिषेधे विकल्प एव स्यान्न बाध इत्यर्थः। ननु भवतु विकल्प एव तेन किं हीयत इत्यत आह—स चेति। विकल्पस्यायुक्तत्वे हेतुमाह—विकल्प इति। ननु विकल्पस्वीकारे कथं पक्षे शास्त्रस्याप्रामाण्यापात इत्यत आह—न हीति। यथा व्रीहिभिर्यागानुष्ठानसमये यवशास्त्रस्य न प्रामाण्यं भवति, तथा विधायकशास्त्रानुसारेण 'येयजामहे' इति मन्त्रस्यानुयाजेषूच्चारणानुष्ठानसमये न तत्प्रतिषेधकशास्त्रस्य प्रामाण्यं संभवतीत्यर्थः। किंच विकल्पपक्षे हि द्विरदृष्टकल्पनाप्रसङ्गोऽपि स्यात्, विधिशास्त्राद्ध्येवमवगम्यते यदनुयाजेषु 'येयजामह' इति मन्त्रस्य करणे कश्चनोपकारो भवतीति प्रतिषेधशास्त्रादपि तत्र तदकरणात्कश्चनोपकारो भवति। दर्शपूर्णमासयोरनृतवदनाकरणादिजन्योपकारवदित्यवगम्यते, तच्चोपकारद्वयमदृष्टरूपमिति द्विरदृष्टकल्पनाप्रसङ्ग इत्याह—द्विरदृष्टकल्पना चेति। तत्र हेतुमाह—विधीति। पुरुषार्थत्वादिति। विधानवत्प्रतिषेधस्याप्यदृष्टपुरुषार्थसंपादकत्वादित्यर्थः। तस्मान्नानुयाजेष्वित्यादौ प्रतिषेधस्वीकारे विकल्पादिदोषापत्तेर्नात्र प्रतिषेधः समाश्रीयते किंतु नञो नामसंबन्धमाश्रित्य पर्युदासस्यैवाश्रयणं क्रियत इत्युपसंहरति—अत इति।

नञर्थ का प्रत्ययार्थ के साथ अन्वय करने पर 'तस्य व्रतम्' आदि के अर्थ की सङ्गति नहीं बैठती, अतः वहाँ उसका बाध कर दिया गया। वह बाध का प्रथम उदाहरण था। यहाँ द्वितीय बाध का उदाहरण दिया जा रहा है। 'यजतिषु 'ये यजामहे' करोति नानुयाजेषु' यह आपस्तम्ब-श्रौतसूत्र (२४।१३।५) का वाक्य है। वैदिक-साहित्य का अंश होने से सूत्रग्रन्थ भी शास्त्र ही हैं। मूल में

'शास्त्र' पद का प्रयोग कई बार शास्त्रवाक्य के अर्थ में किया गया है। 'ये यजामहे' आदि एक मन्त्रविशेष है। इस पूरे पञ्चाक्षरसमूह 'ये यजामहे' को एक संज्ञापद के रूप में लिया गया है। 'यजतिषु' पद को देखने से लगता है कि यह 'यजति' क्रिया का वाचक है, किन्तु वस्तुतः यहाँ यह यज् धातु के अर्थ 'याग' का वाचक है। अर्थात् 'यजतिषु' का अर्थ 'यजति'क्रिया नहीं, अपितु 'याग' है।[1] इस प्रकार उक्त मन्त्र का सामान्य अर्थ यह हुआ—'यागों में 'ये यजामहे' मन्त्र का पाठ करना चाहिये अनुयाजों में नहीं।"

इस वाक्य में मुख्यतः दो भाग हैं (१) यजतिषु 'ये यजामहं' करोति, (२) नानुयाजेषु। इनमें पहला उपवाक्य पूर्ण है और दूसरे को अपनी पूर्णता के लिये प्रथम उपवाक्य के कुछ अंशों का अनुवाद अथवा अध्याहार अपेक्षित है। पूर्ववाक्य से "ये यजामहं' करोति" इतना अंश अर्थपूर्ति के लिये अनूदित कर लेने पर उत्तरवर्ती वाक्य बनेगा—"अनुयाजेषु 'ये यजामहं' न करोति" दोनो वाक्यों का क्रमशः अर्थ होगा १—यागों में 'ये यजामहे' मन्त्र का पाठ करे २—अनुयाजों में 'ये यजामहे' मन्त्र का पाठ न करे। इस अर्थ से स्पष्ट है कि नञर्थ का योग 'करोति' क्रिया के 'तिङ्' प्रत्यय के लिङर्थ से हुआ है। पूर्ववाक्य में वह नहीं लगा है, अतः वहाँ 'ये यजामहे' के उच्चारण में प्रवर्तना का बोधक है और दूसरे वाक्य में प्रत्ययार्थ से लगने पर निवर्तना का। इस प्रकार द्वितीय वाक्य में 'ये यजामहे' के पाठ का प्रतिषेध है। प्रतिषेध वहीं होता है जहाँ कोई पदार्थ राग या शास्त्र से प्राप्त होता है, अन्यत्र नहीं, क्योंकि जब तक कोई वस्तु होगी नहीं, तब तक उसका प्रतिषेध या निवारण कैसे किया जा सकता है। उदाहरणार्थ देखा जा सकता है कि कलञ्जभक्षण लोक में रागतः प्राप्त रहा, लोग विषबुझे वाणों से मारे गये पशुपक्षियों का मांस खाते रहे, अतः उसका निषेध 'कलञ्जं न भक्षयेत' से हुआ। यदि वह पूर्वतः प्राप्त न होता, तो प्रतिषेध किसका होगा?

'यजतिषु 'ये यजामहं' करोति' इस शास्त्रवाक्य से प्राप्त 'ये यजामहं' करोति" अंश का 'अनुयाजेषु 'ये यजामहं' न करोति" से बाध हो रहा है। दोनों शास्त्र वाक्य ही हैं, जिनमें एक से प्राप्त अंश का दूसरे द्वारा बाध या प्रतिषेध हो रहा है। किन्तु मीमांसकों के अनुसार जहाँ शास्त्र-वाक्य से प्राप्त अर्थ का दूसरे शास्त्रवाक्य से ही बाध हो रहा हो वहाँ बाध न मानकर विकल्प मानना चाहिये। बाध की स्थिति में बाधित का कार्य और सार्थकता वहीं समाप्त हो जाती है, किन्तु विकल्प में दोनों पक्षों की सार्थकता बनी रहती है, यह प्रयोक्ता पर निर्भर करता है कि वह दोनों में से किसका ग्रहण करता है। जहाँ राग से प्राप्त का शास्त्र से प्रतिषेध हो, वहाँ रागप्राप्त का शास्त्रप्राप्त से बाध हो ही जाता है, वहाँ शास्त्र प्रबल पड़ता है, जैसे 'न कलञ्जं भक्षयेत' में।

यहाँ स्पष्ट है कि एक शास्त्रवाक्य से प्राप्त का दूसरे शास्त्र से प्राप्त पदार्थ बाध कर रहा है, अतः नियमानुसार बाध न करके 'विकल्प' किया जायेगा। विकल्प दोष है। यहाँ दोष यह इसीलिये आया क्योंकि नञर्थ का योग प्रत्ययार्थ से किया गया। इसी दोष को दूर करने के लिये पर्युदास का आश्रय लिया जाता है। मूलग्रन्थ में प्रयुक्त 'विकल्पप्रसक्तौ च पर्युदासाश्रयणात्' का यही आशय है। यह वाक्य अपूर्ण-सा प्रतीत होता है। इसे वस्तुतः स्पष्टार्थता के लिये इस प्रकार होना चाहिये—अत्र (नञर्थेन प्रत्ययार्थान्वये सति) विकल्पप्रसक्तौ पर्युदासाश्रयणात् (इष्टार्थप्रतीतिः) अर्थात् "यजतिषु…नानुयाजेषु" में जो पर्युदास का अवलम्ब लिया जा रहा है वह विकल्पप्रसक्ति दोष को दूर करने के लिये ही। इस प्रकार विकल्पप्रसक्ति की ही नञर्थ के साथ प्रत्ययार्थ के अन्वय में बाधकता हैं।[2]

---

१. यजतिषु इति यजतिशब्दोऽत्र न धातुवाची किन्तु धात्वर्थवाची। तेन यागमात्रे इत्यर्थः। प्रतिपादिका पृ० १४१.

२. अत्र यत् पर्य्युदासाश्रयणं तद्विकल्पप्रसक्तिहेतुकमेवेत्यर्थः। तथा चात्र विकल्पप्रसक्तेरेव नञर्थेन प्रत्ययार्थान्वये बाधकत्वमिति। प्रतिपादिका पृ० १४२.

कहीं-कहीं एक शास्त्रवाक्य का दूसरे शास्त्रवाक्य से बाध भी होता है, किन्तु उनकी तथा 'यजतिषु ···नानुयाजेषु' की परिस्थितियों में अन्तर है। जैसे 'पदे जुहोति'—गाय के सप्तम पदचिह्न पर होम करना चाहिये—इस विशेष शास्त्रवाक्य से 'आहवनीये जुहोति'—आहवनीय नामकी अग्नि में हवन करना चाहिये—इस शास्त्रवाक्य का बाध हो रहा है। इनमें बाध्यबाधकभाव इसलिये बन रहा है क्योंकि दोनों निरपेक्ष हैं। किसी भी वाक्य को अपनी अर्थपूर्ति के लिये दूसरे पर आश्रित नहीं रहना पड़ता है। जब कि 'यजतिषु' ये यजामहे करोति' इस वाक्यांश के अभाव में 'नानुयाजेषु' वाक्यांश अपना अर्थ स्पष्ट नहीं कर सकता, अतः यह अपने पूर्ववर्ती पर आश्रित है। कहा जा चुका है कि बाध या प्रतिषेध पूर्वतः प्राप्त का होता है। यहाँ पूर्वप्राप्त है 'ये यजामहे' करोति", यही निषेध्य है, किन्तु इसकी प्राप्ति के लिये 'नानुयाजेषु' को पूर्णतः आश्रित रहना पड़ रहा है। यह अपने पूर्ववाक्य के अभाव में अपने अर्थ का बोध कराने में असमर्थ होने से उस पर पूर्णता आश्रित है, अतः निरपेक्ष नहीं है। अतः यहाँ प्रतिषेध के स्थान पर विकल्प ही का ग्रहण अपेक्षित है।

विकल्प भी निरापद स्थिति नहीं है। यह भी एक दोष ही है। विकल्प में पाक्षिक अप्रामाण्य होगा। अर्थात् प्राप्त दो विधियों में से जिसका अनुष्ठान होगा वह तो प्रामाणिक माना जायेगा और जिसको छोड़ दिया जायेगा वह अप्रामाणिक सिद्ध होगा। विकल्प में दो में से एक का ही अनुष्ठान अपेक्षित होता है, दोनों का नहीं। उदाहरणार्थ—अनुयाजो में 'ये यजामहे' मन्त्र का अनुष्ठान करने से 'नानुयाजेषु' का अप्रामाण्य हो जायेगा। 'व्रीहिभिर्यजेत यवैर्वा" यह विकल्प को समझाने में प्रायः उद्धृत किया जाने वाला वाक्य है। इसका अर्थ है 'व्रीहिभिर्यजेत' 'यवैर्यजेत' दोनों में से किसी एक के अनुसार होम करना। यदि व्रीहि से याग का अनुष्ठान किया गया, तो वैकल्पिक होने से 'यव' से याग नहीं किया जायेगा। ऐसी स्थिति में 'यव' का विधान होना और न होना दोनों समान है, अर्थात् उसकी कोई आवश्यकता नहीं रह गयी, वह अप्रामाणिक हो गया। इसी प्रकार यवशास्त्र का ग्रहण करने पर व्रीहिशास्त्र अप्रामाणिक होगा।[1]

इसी प्रकार 'नानुयाजेषु' के विषय में भी समझना चाहिये। यहाँ सामान्यतः यह भ्रम हो सकता है कि 'यजतिषु 'ये यजामहे' करोति' यह एक पक्ष है और 'नानुयाजेषु' यह दूसरा, अतः प्रथम का अनुष्ठान करने पर द्वितीय का अप्रामाण्य होगा और द्वितीय का अनुष्ठान करने पर प्रथम का, किन्तु ग्रन्थकार का अभीष्ट दूसरा है। उसके अनुसार 'नानुयाजेषु' में वैकल्पिक स्थितियों का निर्धारण करना चाहिये। इसके दोनों वैकल्पिक प्रयोग इस प्रकार होंगे—(१) अनुयाजेषु 'ये यजामहे' करोति', (२) अनुयाजेषु 'ये यजामहे' न करोति। इन दोनों में प्रथम के अनुसार 'ये यजामहे' का उच्चारण करने पर 'अनुयाजेषु 'ये यजामहे' न करोति (अर्थात् नानुयाजेषु') का अप्रामाण्य होगा। इसी प्रकार 'अनुयाजेषु' ये यजामहे' न करोति' के अनुसार अनुष्ठान करने पर 'अनुयाजेषु 'ये यजामहे' करोति' की अप्रामाणिकता होगी।[2] यदि अर्थसंग्रहकार को 'यजतिषु० आदि' तथा 'नानुयाजेषु' में वैकल्पिकता मान्य होती तो मूलग्रन्थ के पाठ में 'न ह्यनुयाजेषु' के स्थान पर 'न हि यजतिषु' पाठ होता। विकल्प स्वीकार करने पर पाक्षिक अप्रामाणिकता नाम का दोष तो होता ही है 'दो अदृष्टों की कल्पना' नाम का एक और भी दोष उपस्थित होता है। जहाँ 'व्रीहि से होम' किया जायेगा वहाँ यव से नहीं और जहाँ यव से वहाँ व्रीहि से नहीं। जिससे अनुष्ठान किया जायेगा उससे अनुष्ठान के कारण एक अदृष्ट की उत्पत्ति मानी जायेगी, किन्तु विकल्पस्थिति में जिससे अनुष्ठान नहीं किया जायेगा उससे भी एक अदृष्ट की उत्पत्ति मानी

१. यवशास्त्रस्येवेति। यदा व्रीहिप्रयोगे यवशास्त्राप्रामाण्यं, यवप्रयोगे च व्रीहिशास्त्रस्य, तद्वदित्यर्थः। प्रतिपादिका पृ० १४६.

२. इदमुपलक्षणम्। एवं नानुयाजेष्वित्यस्य पालनेऽपि 'ये यजामहे' मित्यस्य प्रामाण्यं न संभवतीत्यपि द्रष्टव्यम्। वही पृ० १४६.

जायेगी। यदि ऐसा नहीं होगा तो वैकल्पिक अनुष्ठान को न करने की अनुमति देने वाला शास्त्र निरर्थक हो जायेगा। वस्तुतः वैकल्पिक स्थिति में जिस प्रकार एक पदार्थ से अनुष्ठान करना अभीष्ट है—पुरुषार्थ है—उसी प्रकार दूसरे से न करना भी अभीष्ट है—पुरुषार्थ है—अर्थात् विधि और निषेध दोनों की अपनी-अपनी सार्थकता है। यदि 'नानुयाजेषु' आदि प्रसंग में वैकल्पिक स्थिति स्वीकार की गयी तो विधि और निषेध दोनों पक्षों के लिये अलग-अलग एक-एक अर्थात् दो अदृष्ट मानने पड़ेंगे। जहाँ एक ही अदृष्ट से काम चल रहा हो वहाँ दो-दो मानना गौरवदोष है। यहाँ पर्युदास का आश्रय लेने पर न विकल्पप्रसक्ति होती है, न दो अदृष्ट ही मानना पड़ता है। उसमें लाघव है, इसीलिये नञर्थ का प्रत्ययार्थ से अन्वय न मानकर पर्युदास का ग्रहण करना उचित होता है—

यत एव विकल्पोऽयं प्रतिषेधे प्रसज्यते।
अतस्तत्परिहाराय पर्य्युदासाश्रयो वरम्॥

'व्रीहिभिर्यजेत यवैर्वा' के प्रसङ्ग में अगत्या विकल्प मानना पड़ता है, वहाँ पर्युदास से काम नहीं चलता। अतः दोष होने पर भी उस स्थिति में विकल्प और उसके सभी दोषों को सहना पड़ता है—

एवमेषोऽष्टदोषोऽपि यद्व्रीहियवशास्त्रयोः।
विकल्प आश्रितस्तत्र गतिरन्या न विद्यते॥

(६१) इत्थं चानुयाजव्यतिरिक्तेषु 'यजतिषु येयजामह' इति मन्त्रं कुर्यादिति वाक्यार्थबोधः, नञोऽनुयाजव्यतिरिक्ते लाक्षणिकत्वात्। एवं च न विकल्पः। अत्र च वाक्ये येयजामह इति न विधीयते, यजतिषु येयजामहमित्यनेनैव प्राप्तत्वात्। किंतु सामान्यशास्त्रप्राप्त-येयजामह इत्यनुवादेन तस्यानुयाजव्यतिरिक्तविषयकत्वं विधीयते। यद्यजतिषु येयजामहं करोति तदनुयाजव्यतिरिक्तेष्विति।

पर्युदासोपसंहारयोर्भेदवर्णनम्

नन्वेवं सामान्यशास्त्रप्राप्तस्य विशेषे संकोचनरूपादुपसंहारात्पर्युदासस्य भेदो न स्यादिति चेन्न। उपसंहारो हि तन्मात्रसंकोचार्थः। यथा 'पुरोडाशं चतुर्धा करोतीति' सामान्यप्राप्तचतुर्धाकरणम् 'आग्नेयं चतुर्धा करोतीति' विशेषादाग्नेयपुरोडाशमात्रे संकोच्यते। पर्युदासस्तु तदन्यमात्रसंकोचार्थ इति ततो भेदः (भेदात्)।

इस प्रकार 'अनुयाजों से भिन्न यागों में, 'ये यजामहे' इस मन्त्र का उच्चारण करना चाहिये' इस वाक्यार्थ का ज्ञान होता है, नञ् का अनुयाज से भिन्न अर्थ लक्षणा से होता है। इस प्रकार विकल्प नहीं होता है। इस वाक्य में 'ये यजामहे' इस मन्त्र का विधान नहीं होता, क्योंकि इसकी प्राप्ति 'यजतिषु ये 'यजामहं' करोति' इस मन्त्र से होती है। अपितु सामान्य शास्त्रवाक्य से प्राप्त 'ये यजामहे' इस मन्त्र के अनुवाद द्वारा उसका विषय अनुयाज व्यतिरिक्त विहित होता है—कि-जो यागों में 'ये यजामहे' इस मन्त्र का पाठ होना चाहिये, वह अनुयाज से भिन्नों में ही।

यह बात नहीं है कि सामान्यविधायक वाक्य से प्राप्त अर्थ का विशेष में सङ्कोचरूप वाले उपसंहार से पर्युदास का भेद ही नहीं होगा। वस्तुतः विशेषमात्र में सङ्कोच करने वाला उपसंहार है—जैसे 'पुरोडाश को चार भागों में बाँटता है' यह सामान्यशास्त्र से प्राप्त चार भागों में विभाजन, 'आग्नेयं चतुर्धा करोति'-अग्निदेवता से सम्बद्ध पुरोडाश को चार भागों में विभक्त करता है' इस विशेष शास्त्रवाक्य के कारण आग्नेय पुरोडाशमात्र में सङ्कुचित कर

दिया जाता है। और पर्युदास तो उससे भिन्न में ही सङ्कोच के लिये होता है, यह उससे इसका भेद है।

एवं च 'नानुयाजेषु येयजामहं करोती'-त्यस्य वाक्यस्यार्थमाह--इत्थं चेति। अनेन पूर्वोक्तप्रकारेण चेत्यर्थः। अत्र पर्युदासस्य तात्पर्यविषयत्वेन करोतेरवतारितस्य नञोऽनुयाजशब्देन संबन्धसिद्धौ चेति यावत्। तत्र हेतुमाह—नञ इति। अनुयाजव्यतिरक्तेऽनुयाजत्वाभावस्य सत्त्वाच्छक्यसम्बन्धसंभवेन लक्षणोपपत्तिरिति भावः। अत्र प्रतिषेधपक्षं परित्यज्य पर्युदासपक्षस्वीकारस्य फलमाह–एवं चेति। ननु 'नानुयाजेषु येयजामहं करोती'त्यत्र 'येयजामह' इति मन्त्रविधौ तस्यानुयाजव्यतिरिक्तविषयत्वविधौ च वाक्यभेदः स्यादित्यत आह--अत्र चेति। सामान्यशास्त्रेति। 'यजतिषु येयजामहं करोती'ति यजिसामान्ये तद्विधायकशास्त्रप्राप्तमेव 'येयजामह' इति मन्त्रमनूद्य 'नानुयाजेषु येयजामहं करोती'त्यत्र तस्यानुयाजव्यतिरिक्तविषयता विधीयत इत्यर्थः। तथा च यजतिष्वित्यादिसामान्यशास्त्रस्य विशेषापेक्षिणो नानुयाजेष्वित्यादिविशेषशास्त्रेणानुयाजव्यतिरिक्तविषयसमर्पणादनुयाजव्यतिरिक्तयागेषु 'येयजामह' इति मन्त्रः कर्तव्यतया प्राप्तः। अनुयाजेषु तु तस्य कर्तव्यत्वेनाप्राप्तत्वादप्रतिषिद्धत्वाच्च नात्र विकल्पप्रसङ्गोऽपि संभवति। लक्षणयानुयाजव्यतिरिक्तविषयसमर्पणाच्च न नानुयाजेष्वित्यादिवाक्यस्याप्रामाण्यमपि भवति। तस्मात्पर्युदासाश्रयणे बाधकाभावात् स एव स्वीकर्तव्य इति भावः।

ननु पर्युदासाश्रयणपक्षे 'यजतिषु येयजामहं करोती'ति सामान्यशास्त्रेण यागमात्रे प्राप्तस्य 'ये यजामह' इति मन्त्रस्य 'नानुयाजेषु येयजामहं करोती'ति विशेषशास्त्रेणानुयाजव्यतिरिक्तविषये यागविशेषे संकोचनात् पर्युदासस्योपसंहारादभेदापत्तिः स्यात्। सामान्ये प्राप्तस्य विशेषे संकोचस्यैवोपसंहारपदार्थत्वात्। यथा 'पुरोडाशं चतुर्धा करोती'ति पुरोडाशसामान्ये प्राप्तस्य चतुर्धाकरणस्य 'आग्नेयं चतुर्धा करोती'त्याग्नेये विशेषे संकोच इत्याशङ्कते--नन्वेवमिति। 'पुरोडाशं चतुर्धा करोती'त्यनेन पुरोडाशसामान्ये प्राप्तस्य चतुर्धाकरणस्य 'आग्नेयं चतुर्धा करोती'त्यनेन च पुरोडाशविशेषमात्रे संकोचः क्रियते। प्रकृते तु यजतिष्वित्यादिना यजतिसामान्ये प्राप्तस्य 'येयजामह' इति मन्त्रस्य नानुयाजेष्वित्यादिना यजतिविशेषादनुयाजरूपादन्यमात्रे यजतिविशेषे संकोच इत्युपसंहारात् पर्युदासस्य भेदः स्पष्ट एवेति परिहरति--नेत्यादिना। तन्मात्रसंकोचार्थ इति। सामान्यप्राप्तस्य विशेषमात्रसंकोचार्थ इत्यर्थः। तत्रोदाहरणमाह--यथेति। तदन्यमात्रसंकोचार्थ इति। सामान्यप्राप्तस्य विशेषादन्यमात्रसंकोचार्थ इत्यर्थः। इति ततो भेदादिति। एवमुक्तप्रकारेणोपसंहारात् पर्युदासस्य भेदान्न तयोरभेदापत्तिरित्यर्थः। अपरे तूपसंहारो नाम सामान्यतः प्राप्तस्य विशेषे संकोचनरूपो विधेर्व्यापारविशेषः, पर्युदासस्तु 'पर्युदासः स विज्ञेयो यत्रोत्तरपदेन नञि'त्यभियुक्तोक्त्या प्रत्ययातिरिक्तेन नाम्ना धातुना च नञः संबन्धरूपः। तस्मादनयोस्तावत्स्वरूपतः स्पष्ट एव भेद इति न तयोरभेदापत्तिरित्याहुः।

पहले यह बतलाया गया है कि पर्युदास के आश्रयण से 'यजतिषु ये यजामहं०' आदि का अर्थ होता है—'अनुयाजों को छोड़कर सभी यागों में 'ये यजामहे' मन्त्र का पाठ होता है। इससे यह स्पष्ट हो गया कि यहाँ नञर्थ का अन्वय 'करोति' के प्रत्ययार्थ से नहीं हुआ है, अन्यथा

निवर्तना अर्थ हो जाता। यहाँ 'अनुयाजेषु' इस सुबन्त पद के साथ नञ् का योग हुआ है। अनुयाज+नञ्। नञ् विरोधी का अर्थ प्रकट करता है, अतः नञर्थ से युक्त अनुयाज का अर्थ हुआ–अनुयाज के विरोधी, किन्तु नानुयाजेषु का निर्गलित अर्थ दिया जा रहा है–अनुयाज-व्यतिरिक्त। निश्चित ही 'भिन्न' और 'विरोधी' अलग-अलग अर्थों का प्रत्यायन कराते हैं। जो वस्तु किसी वस्तु से भिन्न है—दोनों में अन्योन्याभाव है—वे परस्पर विरोधी भी हों, आवश्यक नहीं। शास्त्रकारों के अनुसार 'विरोधी' अर्थ अभिधाशक्ति से प्राप्त होता है और 'भिन्न' अर्थ लक्षणा से। अभिधेय अर्थ का ग्रहण करने पर एक वाक्यताभङ्ग होता, अतः मुख्यार्थ का बाध करके लक्ष्य अर्थ लिया गया।

यागों में 'ये यजामहे' मन्त्र के प्राप्त होने से और अनुयाजों में प्राप्त न होने से दोनों की स्थिति दो प्रकार की हो गई, अतः यहाँ विकल्प नहीं होगा। अनुयाजों में न तो 'ये यजामहे' कर्त्तव्यरूप में प्राप्त होता है और न उसका प्रतिषेध ही होता है, अतः वैकल्पिक स्थिति यहाँ भी नहीं रहती।

पर्युदास को उपसंहार नहीं कहा जा सकता। यद्यपि दोनों में सङ्कोचन व्यापार होता है, तथापि दोनों के प्रकार में भिन्नता है। उपसंहार में कोई कार्य सामान्यशास्त्रवाक्य से विहित होता है, किन्तु विशेषवाक्य के द्वारा पूर्वप्राप्त कार्य को एक विशिष्ट पदार्थ में सीमित कर दिया जाता है। जैसे 'पुरोडाशं चतुर्धा करोति' यह एक सामान्यशास्त्र है जिससे किसी भी देवता से सम्बद्ध पुरोडाश का चार भागों में विभाजन प्राप्त है। सामान्यशास्त्र वह मन्त्रवाक्य होता है जिसमें निर्दिष्ट विधान किसी एक के साथ न होकर अनेकों के साथ लागू होता है, किन्तु विशेष शास्त्र सब में प्रवर्तन न करा कर एक विशेष में ही नियुक्ति करता है। 'आग्नेयं चतुर्धा करोति' एक विशेष वाक्य है जिसके द्वारा चतुर्धाकरण कर्म केवल आग्नेय पुरोडाश तक सीमित कर दिया जाता है, अग्नीषामीय और ऐन्द्र में नहीं। पर्युदास में कर्म का सङ्कोच विशेष से भिन्न में होता है। जैसे अनुयाज विशेष कर्म है, याग ऐसा कर्म है जो किसी भी विहित कर्म के लिये प्रयुक्त हो सकता हैं। पर्युदास के द्वारा 'ये यजामहे' मन्त्र का विधान सीमित अनुयाजों से भिन्न समस्त यागों में प्राप्त होता है। इस प्रकार उपसंहार में सामान्य को छोड़ विशेष की ओर प्रवृत्ति होती है और पर्युदास में विशेष को छोड़ कर सामान्य की ओर, यही दोनों का मुख्य अन्तर है।

(६२) कुत्रचिद्विकल्पप्रसक्तावप्यनन्यगत्या प्रतिषेधाश्रयणम्। यथा 'नातिरात्रे षोडशिनं गृह्णाती'त्यादौ। अत्र हि 'अतिरात्रे षोडशिनं गृह्णाती'ति शास्त्रप्राप्तषोडशिग्रहणस्य निषेधाद्विकल्पप्रसक्तावपि न पर्युदासाश्रयणम्, असंभवात्।

तथा हि—यद्यत्र षोडशिपदार्थेन नञर्थान्वयस्तदातिरात्रे षोडशिव्यतिरिक्तं गृह्णातीति वाक्यार्थबोधः स्यात्, स च न संभवति, अतिरात्रे षोडशिनं गृह्णातीति प्रत्यक्षविधिविरोधात्। यदि चातिरात्रेण पदार्थेनान्वयस्तदातिरात्रव्यतिरिक्ते षोडशिनं गृह्णातीति वाक्यार्थबोधः स्यात्, सोऽपि न संभवति, तद्विधिविरोधात्। अतोऽत्रानन्यगत्या शास्त्रप्राप्तषोडशिग्रहणस्यैव निषेधः। न च विकल्पप्रसक्तिस्त-स्याप्यपेक्षणीयत्वात्।

कहीं-कहीं विकल्पप्रसक्ति होने पर भी कोई अन्य उपाय न होने से प्रतिषेध का आश्रयण किया ही जाता है। जैसे—'नातिरात्रे षोडशिनं गृह्णाति—'अतिरात्र में षोडशी को ग्रहण नही करता'—आदि में। यहाँ 'अतिरात्रे षोडशिनं गृह्णाति' इस शास्त्र से प्राप्त षोडशि-

ग्रहण के निषेध से विकल्पप्रसक्ति होने पर भी पर्युदास का आश्रय नहीं लिया जाता, क्योंकि वह असंभव है।

जैसे कि-यदि यहाँ (नातिरात्रे० आदि में) षोडशी पदार्थ के साथ नञर्थ का अन्वय किया जाये तो वाक्यार्थ होगा—अतिरात्र में षोडशी से भिन्न पदार्थ का ग्रहण करता है', और यह अर्थ संभव ही नहीं है, क्योंकि 'अतिरात्रे षोडशिनं गृह्णाति' इस प्रत्यक्षविधिवाक्य से उसका विरोध है। और यदि अतिरात्र पद के अर्थ के साथ नञर्थ का अन्वय हो तो भी अतिरात्र से भिन्न में षोडशी का ग्रहण करता है, यह वाक्य के अर्थ का बोध होगा। यह अर्थ भी संभव नहीं है, क्योंकि इसका भी पहले की साक्षात् विधि—'अतिरात्रे षोडशिनं गृह्णाति'—से विरोध है। इसलिये यहाँ (इस प्रसंग में) और कोई उपाय न होने से शास्त्रप्राप्त षोडशी के ग्रहण का ही निषेध अभीष्ट है। यह नहीं कहना चाहिये कि यहाँ विकल्पप्रसक्ति होने से दोष हैं, क्योंकि उसकी भी यहाँ अपेक्षा है।

किंच यत्र तु पर्युदास आश्रयितुं न शक्यते तत्र विकल्पप्रसक्तावपि निषेध एवाश्रीयत इत्याह—कुत्रचिदिति। अनन्यगत्येति। **प्रतिषेधादन्यगतिविशेषस्य पर्युदासस्यासंभवेनेत्यर्थः। तत्रोदाहरणमाह**—यथेति। **नातिरात्र इत्यादिवाक्ये प्रतिषेध एवाश्रीयते, नतु पर्युदासः। अत्र चातिरात्र इत्यादिशास्त्रेण प्राप्तस्य षोडशिनामकपात्रविशेषग्रहणस्य प्रतिषेधाद्विकल्पप्रसङ्गेऽपि पर्युदासाश्रयणासंभवादित्याह**—अत्र हीत्यादिना।

अत्र पर्युदासाश्रयणासंभवमुपपादयति—तथा हीत्यादिना। अत्रेति। **नातिरात्रे षोडशिनं गृह्णातीत्यत्रेत्यर्थः।** षोडशिपदार्थेन नञर्थान्वय इति। **अतिरात्रे न षोडशिनं गृह्णातीत्यन्वय इत्यर्थः। एतदन्वयपक्षे वाक्यार्थमाह**—तदेति। **एतादृशवाक्यार्थासंभवे हेतुमाह**—अतिरात्रे षोडशिनमिति। **अत्र पर्युदासोपपत्तयेऽन्वयान्तरमाह**—यदीति। अन्वय इति। **नञर्थस्येतिशेषः। निरुक्तान्वयानुरोधेन वाक्यार्थबोधासंभवेऽपि हेतुमाह**—तद्विधिविरोधादिति। **अतिरात्रे षोडशिनं गृह्णातीत्यतिरात्रयागे षोडशिग्रहणविधायकप्रत्यक्षविधिविरोधादित्यर्थः। उपपादितमुपसंहरति**—अत इति। **उक्तदोषप्रसङ्गादस्मिन्वाक्ये प्रतिषेधान्यासंभवेन प्रतिषेध एव स्वीक्रियत इत्यर्थः। अत्र प्रतिषेधे सिद्धान्तिते विकल्पप्रसङ्गमाशङ्क्येष्टापत्त्या परिहरति**—न चेत्यादिना। **अत्रेदं बोध्यम्—यत्र तस्य व्रतमित्याद्युपक्रमो नास्ति, विकल्पाप्रसक्तिश्च तत्र प्रतिषेधो भवति, यथा न कलञ्जं भक्षयेदिति। यत्र तु विकल्पप्रसङ्गेऽपि पर्युदासो नाश्रयितुं शक्यते तत्र प्रतिषेध एव स्वीक्रियते यथा नातिरात्रे षोडशिनं गृह्णातीति।**

अतिरात्र एक यागविशेष का नाम है और षोडशी उसमें प्रयुक्त होने वाला पात्रविशेष। यहाँ यह प्रकट किया गया है कि सामान्यतः नञर्थ का प्रत्ययार्थ से अन्वय होकर निषेधार्थ सम्पन्न होता है, किन्तु कुछ स्थल ऐसे भी हैं जहाँ ऐसा करने से एकवाक्यता नहीं सिद्ध हो पाती और अर्थसंगति नहीं बैठती, अतः प्रत्ययार्थ के स्थान पर धात्वर्थ से नञर्थ का अन्वय कर दिया जाता है, जैसे 'तस्य व्रतम्' के प्रसङ्ग में अनीक्षणसङ्कल्प रूप अर्थ, कहीं सुबन्त पदों के साथ नञ् का अन्वय कर दिया जाता है जिससे विकल्पप्रसक्ति नाम के दोष से बचा जा सके, जैसे 'नानुयाजेषु' में। किन्तु कुछ स्थल ऐसे भी हैं जहाँ विकल्प भी रहता है और प्रतिषेध भी—अर्थात् विकल्प रहते हुए भी पर्युदास से उसका परिमार्जन नहीं हो सकता, अतः अगत्या नञर्थ का प्रत्ययार्थ से योग करना ही पड़ता है। इसका उदाहरण ग्रन्थ में विस्तार से दिया गया है।

विकल्पे प्रतिषिध्यमानस्यानर्थहेतुत्वाभावः

(६३) इयांस्तु विशेषो यद्विकल्पादेकप्रतिषेधेऽपि प्रतिषिध्यमानस्य नानर्थहेतुत्वम् विधिनिषेधोभयस्यापि क्रत्वर्थत्वात् । यत्र तु न विकल्पः, प्राप्तिश्च रागत एव, प्रतिषेधश्च पुरुषार्थः तत्र प्रतिषिध्यमानस्यानर्थहेतुत्वम्, यथा 'न कलञ्जं भक्षये' दित्यादौ कलञ्जभक्षणादेः, तत्र भक्षणनिषेधस्यैव पुरुषार्थत्वात् ।

न च 'दीक्षितो न ददाति न जुहोती'त्यादौ शास्त्रप्राप्तदानहोमादीनां निषेधाद्विकल्पापत्तिरिति वाच्यम् । स्वतःपुरुषार्थभूतदानहोमादीनां निषेधस्य पुरुषार्थत्वाभावेऽपि निषिध्यमानस्यानर्थहेतुत्वात्, यथा क्रतौ स्वस्त्रीगमनादेः, तन्निषेधस्य क्रत्वर्थत्वेन तस्य क्रतुवैगुण्यसंपादकत्वात् ।

यहाँ—वर्तमान वैकल्पिक स्थिति में—इतनी विशेषता है, कि विकल्प के कारण एक का प्रतिषेध होने पर भी निषेध्य अनर्थ का कारण नहीं बनता, क्योंकि विधि और निषेध दोनों यज्ञार्थ ही होते हैं। जहाँ विकल्प नहीं है, प्राप्ति भी राग से ही होती है और प्रतिषेध ही पुरुषार्थ होता है, वहाँ निषेध्य अनर्थ का हेतु होता है—जैसे 'न कलञ्जं भक्षयेत्' आदि में कलञ्जभक्षण आदि, क्योंकि वहाँ भक्षण का निषेध ही पुरुषार्थ है।

यह नहीं कहना चाहिये कि 'दीक्षितो न ददाति न जुहोति' इत्यादि वाक्यों में शास्त्र-विहित दान, होम आदि के निषेध से विकल्प की प्राप्ति हो जायेगी, क्योंकि अपने आप में पुरुषार्थभूत दान, होम आदि के निषेध में पुरुषार्थता का अभाव होने पर भी निषेध्य की अनर्थ में कारणता है, जैसे यज्ञ में अपनी पत्नी से सहवास आदि की, किन्तु उस (स्वस्त्री-गमन आदि) के निषेध की क्रत्वर्थता होने से और उसकी यज्ञ में वैगुण्य की सम्पादकता से अनर्थ का कारण बनता है।

ननु नातिरात्रे षोडशिनं गृह्णातीत्यत्र विकल्पप्रसङ्गेऽपि यदि षोडशिग्रहणस्य प्रतिषेध एव स्वीक्रियते तदा प्रतिषिध्यमानस्यानर्थहेतुत्वस्वीकारात् षोडशिग्रहणस्यापि कलञ्जभक्षणादिवत्प्रतिषिध्यमानत्वेनानर्थहेतुत्वादर्थत्वबाधापत्तिरित्याशङ्क्याह—इयांस्त्वित्यादिना । प्रतिषिध्यमानयोरनर्थहेतुत्वतदभावरूपो विशेष इत्यर्थः । विकल्पादिति । यत्र प्रतिषेधस्य विकल्पापादकत्वं तत्रैकस्य प्रतिषेधेऽपि न प्रतिषिध्यमानस्यानर्थहेतुत्वमित्यर्थः । तत्र हेतुमाह—विधीति । रागत एवेत्येवकारेण षोडशिग्रहणादिवच्छास्त्रेण प्राप्तिः प्रतिषिध्यते । अत्र निषिध्यमानस्यानर्थहेतुत्वे हेतुमाह—तत्रेति । षोडशिग्रहणविधितत्प्रतिषेधयोरुभयोरपि क्रत्वर्थत्वात्तत्र प्रतिषिध्यमानस्य नानर्थहेतुत्वम् । अत्र तु कलञ्जभक्षणादिप्रतिषेधस्यैव पुरुषार्थत्वं नतु तदनुष्ठानस्येति प्रतिषिध्यमानस्य कलञ्जभक्षणब्राह्मणहननादेरनर्थहेतुत्वमेवेति भावः ।

ननु यथा शास्त्रप्राप्तस्य षोडशिग्रहणस्य प्रतिषेधे विकल्पः स्वीकृतः, तथा शास्त्रप्राप्तदानादीनामपि प्रतिषेधे विकल्पापत्तिः स्यादिति दृष्टान्ताभिप्रायेणातिप्रसङ्गमाशङ्क्य परिहरति—न चेत्यादिना । स्वत इति । स्वतः पुरुषार्थभूतदानहोमादीनां पुरुषार्थत्वेनैव शास्त्रप्राप्तिः, क्रत्वर्थत्वेनैव च प्रतिषेध इति षोडशिग्रहणविधितत्प्रतिषेधयोरुभयोस्तुल्यर्थत्वाभावेन न विकल्पापत्तिः । किंच रागतः प्राप्तस्य पुरुषार्थत्वेन प्रतिषेधे प्रतिषिध्य-

मानस्य कलञ्जभक्षणादिवदनर्थहेतुत्वस्वीकारान्न दानहोमादेः प्रतिषिध्यमानस्याप्यनर्थहेतुत्वं संभवति, तस्य रागतः प्राप्तत्वाभावात्, कलञ्जभक्षणादिप्रतिषेधवत्तत्प्रतिषेधस्य पुरुषार्थत्वाभावाच्चेति, भावः ॥ अत्रेदं बोध्यम्—ज्योतिष्टोमे श्रूयते 'दीक्षितो न ददाति न जुहोति न पचती'ति । तत्र यद्दानादिकं पुरुषार्थः यच्च क्रत्वर्थं तत्राप्युपदिष्टमतिदिष्टं च तत्सर्वं प्रतिषिध्यते । कुतः ? न ददातीत्यादिवचनस्य सामान्यरूपत्वादित्याद्यः पक्षः । अग्निहोत्रदानादेरुपदिष्टस्यापि प्रतिषेधे सत्युपदेशो व्यर्थः स्यादिति ततोऽतिदिष्टं पुमर्थं चेत्येतदुभयमेव प्रतिषिध्यते क्रत्वर्थत्वेनोपदिष्टं दानादिकमनुष्ठेयमिति मध्यमः पक्षः । नित्याग्निहोत्रदानादिकं पुरुषार्थत्वेन यत्प्रत्यक्षश्रुतावुपदिष्टं ज्योतिष्टोमकालेऽपि प्राप्तं यच्चातिदिष्टं दानादिकं तयोरुभयोर्मध्ये प्रत्यक्षोपदिष्टनिषेधस्योपदिष्टमेव संनिहितमिति पुमर्थस्यैवात्र निषेधः । न च नित्याग्निहोत्रदानादौ विधिनिषेधयोः प्रवृत्त्या विकल्पः शङ्क्यः, भिन्नविषयत्वात् । क्रत्वर्थो निषेधः क्रतुकाले तदनुष्ठानं वारयति । पुरुषार्थस्तु विधिः कालान्तरे तदनुष्ठापयति तस्मात्पुमर्थस्य निषेध इति । यदि प्रतिषेधपक्षे वाक्यभेदः शङ्क्येत, तर्हि पुमर्थदानादिव्यतिरिक्तं क्रतुकालेऽनुष्ठेयमिति पर्युदासोऽस्तु । ननु यत्र रागतः प्राप्तस्य प्रतिषेधः पुरुषार्थो भवति, तत्र प्रतिषिध्यमानस्यानर्थहेतुत्वं यथा कलञ्जभक्षणादेः, क्रतौ स्वस्त्रीगमनप्रतिषेधस्य तु पुरुषार्थत्वाभावात्तत्र निषिध्यमानस्य स्वस्त्रीगमनस्य कथमनर्थहेतुत्वमित्यत आह—निषेधस्येति । यद्वा,–निषेधस्येत्यादिपूर्वमेवान्वेति तत्र प्रसिद्धचर्थं तु यथा क्रतावित्यादिकमेव भवति । तथा च स्वतः पुरुषार्थेत्यादेरयमर्थः–स्वत इति क्रत्वङ्गत्वोपाधिमन्तरेण केवलस्वरूपत एव पुमर्थभूतानां दानादीनां निषेधस्य पुरुषार्थत्वाभावेऽपि क्रत्वर्थत्वसंभवान्निषिध्यमानस्य दानादेः क्रतुवैगुण्यसंपादकत्वेनानर्थहेतुत्वमिति योजना । तथा च तेषामनुष्ठानस्य स्वतः पुरुषार्थत्वेऽपि क्रत्वनुष्ठानकालेऽपुरुषार्थत्वात्तत्र तेषामनुष्ठानस्य भवत्यनर्थहेतुत्वमितिभावः । तस्येति । क्रतौ स्वस्त्रीगमनादेरित्यर्थः । क्रतौ स्वस्त्रीगमनादेः कलञ्जभक्षणादिवदनर्थरूपनरकादिदुःखाहेतुत्वेऽपि क्रतुवैगुण्यसंपादकत्वेनानर्थहेतुत्वसंभवाद्भवत्यत्रापि निषिध्यमानस्यानर्थहेतुत्वमिति भावः । तस्मान्निषेधवाक्यानामनर्थहेतुक्रियानिवृत्तिजनकत्वेनैव पुरुषार्थानुबन्धित्वमिति सिद्धम् ।

यहाँ अन्य विकल्पों से इस विकल्प का अन्तर बतलाया जा रहा है जिसमें विकल्प-प्रसक्ति होने पर भी नञर्थ का प्रत्ययार्थ से सम्बन्ध होता ही है—जैसे 'अतिरात्रे षोडशिनं गृह्णाति' और 'नातिरात्रे षोडशिनं गृह्णाति में। यहाँ षोडशी-ग्रहण का प्रतिषेध हो रहा है, किन्तु प्रतिषेध इस लिये नहीं हो रहा है कि यदि उसे न किया गया तो अनर्थ हो जायेगा, जैसा 'न कलञ्जं भक्षयेत्' में होता है। कलञ्जभक्षण का निषेध पुरुषार्थ है, पुरुष का इष्ट है, क्योंकि यदि वह नहीं माना, कलञ्ज का भक्षण कर ही लिया तो उसका मरण भी हो सकता है। 'नातिरात्रे षोडशिनं गृह्णाति' में यह बात नहीं है, यहाँ जो विकल्प की स्थिति है उसमें षोडशी का ग्रहण विहित भी है और निषिद्ध भी, जो चाहे करे, जो चाहे न करे, न करने वाले को कोई दोष नहीं होगा, क्योंकि विकल्प में अदृष्टद्वय की कल्पना होती है। सम्पादन करने पर भी एक अदृष्ट–अपूर्व–बनता है और सम्पादन न करने पर भी एक अदृष्ट बनता है। इन दोनों प्रकार के अदृष्टों से इष्ट की सिद्धि ही होती है, कोई अनर्थ नहीं होता। दोनों अदृष्ट पुरुषार्थ हैं। जहाँ विकल्प नहीं होता है प्राप्ति रागतः होती है और निषेध शास्त्रतः होता है, वहाँ निषेधार्थ ही पुरुषार्थ होता है, रागतः प्राप्ति नहीं। उस दशा में निषेध्य का परित्याग न करना अनर्थ का कारण बनता है।

'न कलञ्जं भक्षयेत्' में यही स्थिति है। कलञ्जभक्षण रागतः प्राप्त है जिसका निषेध शास्त्रवाक्य से हो रहा है। भक्षण के निषेध में ही यहाँ कल्याण है, अतः निषेध्य का परित्याग ही अभीष्ट होगा।

कहीं कहीं ऐसे भी प्रसङ्ग होते हैं जहाँ दैनन्दिन जीवन के कुछ कृत्य शास्त्रों में श्रेयस्कर कहे गये हैं, किन्तु दूसरे शास्त्रवाक्यों में उनका ही निषेध किया जाता है। अतः शास्त्र से प्राप्त का शास्त्र से निषेध होने पर विकल्प की आशङ्का होती है, किन्तु वस्तुतः वहाँ विकल्प होता नहीं। जो कर्म स्वरूपतः पुरुषार्थ है, जिनमें पुरुषार्थता का अभाव नहीं कहा जा सकता है, फिर भी जब दो निषेध्य हो जाते हैं उस निषेध्यावस्था में इनका सम्पादन अनर्थ का हेतु न होने पर भी याग में गुणहीनता ला सकता है, अतः उस परिस्थिति-विशेष में निषेध्य ही पुरुषार्थ होता है। 'दीक्षितो न ददाति न जुहोति'–यज्ञ के दीक्षित व्यक्ति को न दान देना चाहिये, न होम करना चाहिये, में दान देना और होम करना शास्त्रसम्मत कर्त्तव्य कर्म है। इनके निषेध में कोई पुरुषार्थ नहीं है। इनको करके साधारण व्यक्ति पुण्य का ही भागी बनता हैं अपुण्य का नहीं, किन्तु दीक्षित पुरुष के लिये इनका निषेध किया जा रहा है। यदि दीक्षित पुरुष इस निषेध्य कर्म का अनुष्ठान करेगा—दान-होम करेगा–तो अनर्थ का कारण बन सकता है। इसी प्रकार अपनी पत्नी के साथ भोग सामान्यतः शास्त्रतः निषिद्ध नहीं है, किन्तु यज्ञ आदि धार्मिक अनुष्ठान करने वाले के लिये इसका निषेध हैं। यह निषेध अनुष्ठान को ध्यान में रखकर किया जा रहा है, क्योंकि निषेध के अभाव में—अर्थात् निषिद्ध कर्म के सम्पादन से यज्ञ में वैगुण्य का सम्पादन हो जायेगा। यज्ञ के लिये अपेक्षित संयम एवं ब्रह्मचर्य के अभाव में उसमें कमी हो जायेगी। इस कमी से अभीष्ट की पूर्णतः सिद्धि संभव न होगी, अतः अनर्थ होगा।

अर्थवादविभागः

अर्थवादमीमांसा

(६४) प्राशस्त्यनिन्दान्यतरपरं वाक्यमर्थवादः। तस्य च लक्षणया प्रयोजनवदर्थपर्यवसानम्। तथा हि—अर्थवादवाक्यं हि स्वार्थप्रतिपादने प्रयोजनाभावाद्विधेयनिषेध्ययोः प्राशस्त्यनिन्दितत्वे लक्षणया प्रतिपादयति, स्वार्थमात्रपरत्वे आनर्थक्यप्रसङ्गात्। आम्नायस्य हि क्रियार्थत्वात्। न चेष्टापत्तिः। 'स्वाध्यायोऽध्येतव्यः' इत्यध्ययनविधिना सकलवेदाध्ययनं कर्तव्यमिति बोधयता सर्ववेदस्य प्रयोजनवदर्थपर्यवसायित्वं सूचयतोपात्तार्थत्वेनानर्थक्यानुपपत्तेः।

प्रशंसा और निन्दा में से एक का प्रतिपादक वाक्य अर्थवाद है। उसका—अर्थवाद का–प्रयोजनवान् अर्थ में पर्यवसान लक्षणा से होता है। जैसे कि––अपने मुख्य अर्थ के प्रतिपादन में[1] प्रयोजन का अभाव होने से अर्थवाद वाक्य विधेय एवं निषेध्य पदार्थों की उत्कृष्टता और अपकृष्टता का प्रतिपादन लक्षण से कराता है। यदि अपने मुख्य अर्थमात्र का ज्ञापक होगा तो उसमें अनर्थकता की आपत्ति होगी, क्योंकि वेदों की सार्थकता क्रिया के प्रतिपादन में है। (वेदवाक्यों की अनर्थकता) अभीष्ट नहीं है, क्योंकि 'स्वाध्यायोऽध्येतव्यः' इस अध्ययन के विधायक वाक्य द्वारा 'सम्पूर्ण वेदों का अध्ययन करना चाहिये' यह बोध कराते हुये सम्पूर्ण वेदों का प्रयोजनवत् अर्थ-धर्म-में पर्यवसान सूचित किया जाता है, यही वेद का अर्थ मान्य होने से आनर्थक्य की उपपत्ति नहीं होती।

---

१. स्वार्थप्रतिपादने मुख्यार्थप्रतिपादने।

इदानीं सर्वार्थवादसाधारण्येनार्थवादरूपवेदभागस्य लक्षणमाह—प्राशस्त्येति। ननु 'वायुर्वै क्षेपिष्ठा देवते'त्यादेरर्थवादवाक्यात् प्राशस्त्यादेरप्रतीयमानत्वान्न तस्य प्राशस्त्यादिपरत्वं ततश्चासंभाविलक्षणमिदमित्यत आह––तस्येति। तस्यार्थवादस्य लक्षणया प्राशस्त्य-निन्दान्यतरप्रतिपादकत्वसंभवेन नेदं लक्षणमसंभवीत्यर्थः। अर्थवादस्य फलवदर्थपर्यव-सानमेवोपपादयति—–तथा हीत्यादिना। अर्थवादवाक्यं कर्तुः प्राशस्त्यनिन्दितत्वे द्वे प्रतिपा-दयतीत्यन्वयः। नन्वर्थवादस्य स्वार्थमात्रपरत्वे कथमानर्थक्यप्रसङ्गो 'वायुर्वै क्षेपिष्ठे'त्यादे-रर्थवादवाक्यात् क्षिप्रगामिवायुदेवतारूपार्थस्य प्रतीयमानत्वादित्यत आह—आम्नायस्येति। समस्तवेदस्य क्रियाप्रतिपादकत्वस्वीकारेण नास्य सिद्धार्थप्रतिपादकस्य स्वार्थमात्रपरत्वे सार्थक्यमुपपद्यत इति भावः। अर्थवादवाक्यानामनर्थकत्वस्येष्टत्वमाशङ्क्य परिहरति––न चेत्यादिना।

यहाँ वेद के पञ्चम भाग अर्थवाद का निरूपण प्रारम्भ हो रहा है। अप्राप्त के प्रापक, मुख्य-गौण आदि पदार्थों के बोधक विधिवाक्यों, अपूर्व, नियम और परिसंख्या के बोधक मन्त्रों, उद्भिद्, चित्रा आदि यागों के वाचक नामधेयों, और अनिष्ट के वारक निषेधवाक्यों के अतिरिक्त भी कुछ वेदवाक्य हैं। जिनसे निन्दा या प्रशंसा का बोध होता है। इनका अन्तर्भाव विधि, मन्त्र, नामधेय, और निषेध किसी में नहीं हो सकता, सबसे इसका स्वरूप पृथक् है।

अतः कर्मों के अनुष्ठान, द्रव्य, देवता आदि के ग्रहण से विशिष्ट उपकार होने के कारण उनका प्राशस्त्य वर्णित होता है और निषेध्यकर्मों के अनुष्ठान–निषिद्ध द्रव्य आदि के ग्रहण–से अपकार होने के कारण उनकी निन्दा होती है। प्राशस्त्य-वर्णन से प्रवृत्ति एवं निन्दा-वर्णन से निवृत्ति की प्रेरणा मिलती है। इस प्रयोजन की सिद्धि करने वाले वेदवाक्यों को अर्थवाद कहा जाता है। दूसरे शब्दों में यों समझना चाहिये कि विधेय की प्रशंसा और निषेध्य की निन्दा की जाती है।

अर्थवाद अर्थात् निन्दा या प्राशस्त्य सिद्ध अर्थ का होता है, उस विषय का होता है जो पहले से सम्पन्न हो गया होता है या पूर्वतः विद्यमान रहता है। विधेय और निषेध्य कर्म ऐसे होते हैं जिनको भविष्य में सम्पन्न होना रहता है। विधिवाक्यों से ज्ञात प्रतिपाद्य यागादि कर्म और निषेध वाक्य से ज्ञात निषेध्य कलञ्जभक्षण आदि ही प्रयोजनवद् अर्थ हैं।[1] विधिवाक्यों का प्रयोजन है कल्याणकारी कर्मों में प्रवृत्त करा कर पुरुष के अभीष्ट स्वर्ग, पशु, पुत्र आदि की प्राप्ति कराना, और निषेधवाक्यों का प्रयोजन है अकल्याणकारी ब्रह्महत्या, कलञ्जभक्षण आदि से निवृत्त करा कर पुरुष के अनिष्ट नरक, मरण आदि से मुक्त कराना। ऐसी अवस्था में स्पष्ट है कि सिद्ध अर्थों से सम्बद्ध अर्थवाद वाक्यों की भविष्य में साध्य एवं निषेध्य कर्मों की सङ्गति नहीं हो सकती। सिद्ध अर्थ का प्रतिपादन करना मीमांसा के अनुसार वेद का लक्ष्य नहीं है। लक्ष्य का साधन न होने से अर्थवाद वाक्यों की अनर्थकता सिद्ध होगी, क्योंकि मीमांसादर्शन के अनुसार सम्पूर्ण आम्नाय–समस्त वेदवाक्य की सार्थकता साध्य क्रिया के प्रतिपादन में ही है। जिन वाक्यों में क्रियार्थकता नहीं है उनको व्यर्थ समझना चाहिये—'आम्नायस्य क्रियार्थत्वाद् आनर्थक्यम् अतदर्थानाम्।' यदि यह कहा जाये कि क्रिया का प्रतिपादन न करने वाले वाक्यों को निरर्थक मान लेने में कोई हानि है, तो यह तर्क मान्य नहीं है, क्योंकि 'स्वाध्यायोऽध्येतव्यः' इस विधिवाक्य से समस्त वेद का अध्ययन अपेक्षित है, और इसी से सिद्ध होता है कि सम्पूर्ण वेद का पढ़ना इसीलिये आवश्यक है क्योंकि उनसे किसी न किसी क्रियारूप प्रयोजन का सम्पादन होता है, अर्थात् कोई भी वाक्य निरर्थक नहीं है, अतः वेद-वाक्यों की निरर्थकता अभीष्ट नहीं है। जब कोई वेद वाक्य निरर्थक नहीं है, तब अर्थवाद को भी निरर्थक कैसे कहा जा सकता है?

१. प्रयोजवदर्थो विधिनिषेधप्रतिपाद्ययागादि–कलञ्जभक्षणनिवृत्यादिरूपः। प्रतिपादिका पृ. १५५

सिद्ध अर्थ के प्रतिपादक अर्थवाद वाक्य तथा भविष्य में साध्य विधेय एवं निषेध्य क्रियाओं के प्रतिपादक वाक्यों में अन्विति नहीं बैठ रही है। यह अन्विति का बाध अर्थवाद वाक्यों के अभिधेय अर्थ–मुख्य अर्थ–को लेने से ही हो रहा है, अतः सङ्गति के लिये लक्षणा का आश्रय लेना पड़ेगा। मुख्यार्थ बाध होने पर लक्षणा का आश्रयण शास्त्रमान्य है। लक्षणा का आश्रय लेने से सिद्ध अर्थ का प्रतिपादक अर्थवाद वाक्य विधेय एवं निषेध्य कर्मों के प्राशस्त्य एवं निन्दितत्व का प्रतिपादक हो जायेंगे। इस प्रकार प्रशस्त कर्म के देवता वायु का गुणगान करने से विधिबोधित कर्मविशेष की श्रेयस्करता का प्रतिपादन होता है और निषेध्य रजतदक्षिणादान की निन्दा से निषेधवाक्य से अवगत उससे निवृत्ति की श्रेयस्करता ज्ञात होती है।[1]

(६५) स द्विविधः—विधिशेषो निषेधशेषश्चेति। तत्र 'वायव्यं श्वेतमालभेत भूतिकाम' इत्यादिविधिशेषस्य 'वायुर्वै क्षेपिष्ठा देवते'त्यादेर्विधेयार्थप्राशस्त्यबोधकतयाऽर्थवत्त्वम्। 'बर्हिषि रजतं न देय'मित्यादिनिषेधशेषस्य, 'सोऽरोदीद्यदरोदीत्तद्रुद्रस्य रुद्रत्वमि'त्यादेर्निषेध्यस्य निन्दितत्वबोधकतयाऽर्थवत्त्वम्। न च प्राशस्त्यादिबोधस्य निष्प्रयोजनत्वेन नार्थवादस्यार्थवत्त्वमिति वाच्यम्, आलस्यादिवशादप्रवर्तमानस्य पुंसः प्रवृत्त्यादिजनकत्वेन तद्बोधस्योपयोगात्।

वह अर्थवाद दो प्रकार का है—विधिशेष और निषेधशेष। इनमें 'वायव्यं श्वेत०' वैभव का इच्छुक श्वेत पशु का आलम्भन वायु देवता के लिये करे—इत्यादि विधि के शेष अंश के रूप से विद्यमान "वायुर्वै०" वायु तीव्र गति वाला देवता है—आदि की सार्थकता विधेय कर्म के प्राशस्त्य का ज्ञापन कराने में हैं। 'बर्हिषि रजतं'—यज्ञ में रजत नहीं देना चाहिये—इत्यादि निषेध का शेष 'सोऽरोदीत्०'—वह रोया, जो रोया वही रुद्र की रुद्रता है—आदि वाक्यों की सार्थकता निषेध्य (रजत आदि) की निन्दितता के बोधन में है। यह नहीं कहना चाहिये कि प्राशस्त्य आदि बोध निरर्थक होता है, अतः अर्थवाद की भी व्यर्थता हो है' क्योंकि आलस्य आदि के कारण कर्म में प्रवृत्त न हो रहे पुरुष में प्रवृत्ति आदि उत्पन्न करने के कारण उसके ज्ञान की उपयोगिता है।

अर्थवादं विभजते—स द्विविध इति। विधिशेष इत्यादि। सोऽपि चतुर्विधः,—प्रशंसा-निन्दा-परकृति-पुराकल्प-भेदात्। तत्र प्रशंसार्थवादो हि 'शोभतेऽस्य मुखं य एवं वेद' इत्यादिः, 'वायुर्वै क्षेपिष्ठे'त्यादिर्मूलोदाहृतश्च। निन्दार्थवादस्तु 'असत्रं वा एतद्यदच्छन्दोमम्' 'अश्रुजं हि रजतं यो बर्हिषि ददाती'त्यादिः, सोऽरोदीदित्यादिर्मूलोदाहृतश्च भवति। परेणेदं महता पुरुषेण कर्म कृतमिति प्रतिपादकोऽर्थवादः परकृतिरित्युच्यते यथा 'अग्निर्वा अकामयते'त्यादिः। परवक्तुकार्थादिप्रतिपादकोऽर्थवादः पुराकल्प इत्युच्यते। यथा 'तमशपद्धिया धियात्वावध्यासु'रित्यादिरिति। विधेयार्थप्राशस्त्येति। वायुः क्षिप्रगामित्वादतीव प्रशस्ता देवता भवत्यतस्तद्दैवत्यं कर्म प्रशस्तमिति विधेयकर्मदेवतागतप्राशस्त्यप्रतिपादनद्वारा विध्येकवाक्यत्वेनार्थवत्त्वमित्यर्थः। निषेध्येति। निषेध्यरजतनिन्दाप्रतिपादनद्वारा रजतनिषेधप्राशस्त्यपरत्वेन निषेधैकवाक्यत्वादर्थवत्त्वमित्यर्थः। एवम् 'अग्निर्वा

---

१. तत्पर्यवसानम् तद्गतश्रेयस्त्वप्रतिपादनोपक्षीणम्। तथा च 'वायुर्वै' इत्यादि वाक्यं लक्षणया विधिबोधितकर्मविशेषस्य श्रेयस्त्वं प्रतिपादयति। 'सोऽरोदीदि'त्यादिवाक्यञ्च निषेध्यनिन्दनमुखेन निषेधवाक्यावगततन्निवृत्तेः श्रेयस्त्वमवगमयतीति प्राशस्त्यनिन्दान्यतरपरवाक्यत्वरूपलक्षणाक्रान्तेनेवेति नाव्याप्तिरितिभावः। प्रतिपादिका पृ० १५६

अकामयते'त्यादेरप्यग्निदेवत्यो यागः पूर्वकालेऽग्निना कृतत्वात्प्रशस्तोऽत आधिक्यादिदानीं-तनैरप्यन्यैर्यजमानैरवश्यं कर्तव्यमिति विधेयकर्मगतप्राशस्त्यप्रतिपादनद्वारा विध्येकवाक्य-त्वेनार्थवत्त्वं बोध्यम् । एवमन्यत्रापि तत्तद्विधेयकर्मप्राशस्त्यादिप्रतिपादनद्वारेण तत्तद्विध्याद्येक-वाक्यत्वेनार्थवत्त्वं विभावनीयम् । क्वचिदर्थवादस्य संदिग्धार्थनिर्णायकत्वेन प्रामाण्यं स्वीकृतम् । यथा 'अक्ताः शर्करा उपदध्या'दिति विधावुक्ता इति पदेन द्रवद्रव्यसामान्यं प्रतीयते । तच्च द्रव्यं किमिति संदेहे 'तेजो वै घृत'मित्यर्थवादरूपाद्वाक्यशेषाद्घृतमिति निश्चीयत इति । ननु विधेयकर्मप्राशस्त्यादिबोधस्य सुखदुःखाभावान्यतरविलक्षणत्वेन नार्थवादस्य तत्प्रतिपादनेनार्थवत्त्वमुपपद्यत इत्याशङ्क्य परिहरति--न चेत्यादिना । तद्बोधस्योपयोगादिति । अर्थवादजन्यप्राशस्त्यादिबोधस्य विधेयकर्मानुष्ठानादावुपयोगादर्थ-वादस्यार्थवत्त्वमुपपद्यतइत्यर्थः ।

विधि और निषेध के आधार पर अर्थवाद के दो भेद होते हैं—(१) विधिशेष (२) निषेध-शेष । 'शेष' शब्द अवशिष्ट, अंश, पूरक, उपकारक आदि का वाचक है, विधिशेष वह अर्थवाद है जो विधिवाक्य के अवशिष्ट अंश की भाँति प्रतीत होता है, और उसके साथ एक-वाक्यता प्राप्त करके उसके अर्थ का पूरक होता है, अतः उपकारक होता है । इसी प्रकार निषेध-वाक्य का उपकारक निषेधशेष कहा जाता है ।[1]

'वायव्यं श्वेत०' आदि—वैभव की कामना वाला श्वेत पशु का आलम्भन वायु देवता के लिये करे—विधिवाक्य है, इसका पूरक अथवा उपकारक अंश है—"वायुर्वै०"–आदि—वायु अतिशीघ्र गामी देवता है । यह वाक्य–'वायुर्वै०' आदि 'वायव्यं श्वेतम्०' आदि से बोध्य कर्म का प्राशस्त्य बतलाता है । पूरे का निर्गलित अर्थ यह होगा—'चूँकि क्षिप्रगामी होने के कारण शीघ्र फल देने वाला वायु इस पशु का देवता है, अतः वायु देवता के लिये श्वेत पशु का आलम्भन प्रशस्त है । विधेय अर्थ वायु के लिये श्वेत पशु का आलम्भन प्राशस्त्य का बोधक होने के कारण यह विधि शेष अर्थ सार्थक हुआ । इसी प्रकार निषेध्य की निन्दा में निषेधशेष की सार्थकता है । 'बर्हिषि रजतं न देयम्' इस निषेध वाक्य का पूरक है—'सोऽरोदीदिति०' । इस अर्थवाद के हेतु के रूप में वाक्य है—' यो बर्हिषि रजतं दद्यात्, पुरास्य संवत्सरात् गृहे रोदनं भवति' । इसका तात्पर्य यह है 'क्योंकि अग्निदेव को रोना पड़ा, अतः जो यज्ञ में रजत देगा, उसका वर्ष के भीतर ही रोदन अवश्यम्भावी है' । यागों में रजतदान निषेध्य है, उसके सम्पादन से निन्दित फल की प्राप्ति होती है । फल के निन्दितत्व का बोध कराने के कारण ही निषेधशेष की सार्थकता सिद्ध होती है ।[2]

अर्थवाद निष्प्रयोजन नहीं है । आलस्य के कारण कर्म से विरत हो रहे पुरुष को जब विधेय कर्म, देवता या द्रव्य का प्राशस्त्य बतलाया जाता है, तब वह पुनः प्रेरणा प्राप्त कर कार्य में रत हो जाता है । यद्यपि ग्रन्थ के मूल अंश में विधिशेष अर्थवाद की ही उपयोगिता का प्रतिपादन किया गया है, किन्तु उससे निषेधशेष की भी सार्थकता समझनी चाहिये । जिस प्रकार विधिशेष आलस्यादि के कारण कर्म में प्रवृत्त न हो रहे व्यक्ति को कर्म के प्राशस्त्य का बोध करा कर उसके सम्पादन में प्रवृत्त कराता है, उसी प्रकार निषेधशेष अर्थवाद निषेध्य कर्म की निन्दितता का

---

१. विधिशेषो विध्युपकारकः । निषेधशेषो निषेधोपकारकः । वही पृ० १५७

२. यतः क्षिप्रगामितया क्षिप्रफलप्रदो वायुरस्य पशोर्देवता, अतः प्रशस्तमिदं वायव्यश्वेता लम्भनमित्येवं विधेयार्थप्राशस्त्यबोधकतयेत्यर्थः ।.........यतोऽस्य रोदनं जातमतो वर्षाभ्यन्तरे रोदनस्यावश्यम्भावितेति प्रतिपादनद्वारेण बर्हिषि रजतदानस्य निषेध्यस्य निन्दितफलजनकतया निन्दितत्वबोधनेनार्थवत्त्वमित्यर्थः ; वही पृ० १५९.

प्रतिपादन कर उत्साही व्यक्ति को उससे विरत कराता है। एक का प्रयोजन प्रवृत्ति में प्रेरणा है और दूसरे की निवारणा।

अर्थवादस्य भेदत्रयम्

(६६) स पुनस्त्रेधा। तदुक्तम्—'विरोधे गुणवादः स्यादनुवादोऽवधारिते। भूतार्थवादस्तद्धानादर्थवादस्त्रिधा मतः' इति। अस्यार्थः—प्रमाणान्तरविरोधे सत्यर्थवादो गुणवादः, यथा 'आदित्यो यूप' इत्यादिः। यूप आदित्याभेदस्य प्रत्यक्षबाधितत्वादादित्यवदुज्ज्वलत्वरूपगुणोऽनेन लक्षणया प्रतिपाद्यते। प्रमाणान्तरावगतार्थबोधकोऽर्थवादोऽनुवाद, यथा 'अग्निर्हिमस्य भेषजमि'ति, अत्र हिमविरोधित्वस्याग्नौ प्रत्यक्षावगतत्वात्। प्रमाणान्तरविरोधतत्प्राप्तिरहितार्थबोधकोऽर्थवादो भूतार्थवादः, 'यथा इन्द्रो वृत्राय वज्रमुदयच्छ'दित्यादिः।

वह अर्थवाद प्रकारान्तर से तीन प्रकार का होता है—वह कहा गया है—(कथित विषय का प्रमाणान्तर से) विरोध होने पर 'गुणवाद' होता है, (प्रमाणान्तर से) विषय के ज्ञात होने पर 'अनुवाद' और (विरोध तथा समर्थन) दोनों न होने पर भूतार्थवाद होता है। इस प्रकार अर्थवाद तीन प्रकार का माना गया है। इसका अर्थ यह है कि—दूसरे प्रमाण से विरोध होने पर गुणवाद नाम का अर्थवाद होता है। जैसे—'आदित्यो यूपः'—यज्ञस्तम्भ सूर्य है—आदि में। यूप में आदित्य का अभेद प्रत्यक्ष प्रमाण से बाधित होने के कारण इस वाक्य से लक्षणा द्वारा उसका आदित्य के सदृश उज्ज्वलत्व गुण प्रतिपादित किया जा रहा है। दूसरे प्रमाण से ज्ञात पदार्थ का ज्ञापक अर्थवाद 'अनुवाद' है—जैसे—'अग्निर्हिमस्य०' आदि—अग्नि ठंडक की दवा है—वाक्य। यहाँ प्रतिपादित हिमविरोधित्व का ज्ञान अग्नि में प्रत्यक्षप्रमाण से ही अवगत हो जाता है। दूसरे प्रमाण से होने वाले बाध और बोध दोनों से रहित विषय का ज्ञापक अर्थवाद 'भूतार्थवाद' है। जैसे 'इन्द्रो०''—'इन्द्र ने वृत्र (को मारने) के लिये वज्र उठाया' आदि।

स पुनरर्थवादो गुणवादोऽनुवादो भूतार्थवादश्चेति त्रिधा भवतीति पुनरपि तं त्रेधा विभजते—स पुनस्त्रेधेति। **तस्य त्रिविधत्वे वृद्धसंमतिमुदाहरति—**तदुक्तमिति। तद्धानादिति। **तयोर्हानं तद्धानं तस्मादिति विग्रहः। प्रमाणान्तरविरोधप्रमाणान्तरावधारणयोर्हानादित्यर्थः। समुदाहृतवृद्धसंमतिं व्याचष्टे—**अस्यार्थ इत्यादिना। इन्द्रो वृत्रायेति। **अस्य वृत्रं प्रतीन्द्रवज्रोद्यमनाभावावगाहिप्रमाणान्तरस्यादर्शनान्न तद्बोधने प्रमाणान्तरेण विरोधः, नापि प्रमाणान्तरागवतार्थप्रतिपादकत्वं वृत्रं प्रतीन्द्रवज्रोद्यमनप्रतिपादकप्रमाणान्तरस्यादर्शनादिति भावः।**

अर्थवाद का प्रथम विभाजन विधि और निषेध के आधार पर किया गया था। यहाँ अन्य प्रमाणों से प्रतिपादकता के आधार पर उसको तीन प्रकार का बतलाया गया है। जहाँ अर्थवाद-वाक्य से प्रतिपादित विषय का दूसरे प्रमाण से बाध होता है, वहाँ गुणवाद नामक भेद स्वीकार किया जाता हैं, जैसे 'आदित्यो यूपः' में। वाक्य को देखने से वाच्य अर्थ ऐसा प्रतीत होता है मानो आदित्य और यूप में अभेद सम्बन्ध है अर्थात् जो आदित्य है वही यूप है। किन्तु प्रत्यक्ष है कि सूर्य एक उज्ज्वल चमकदार पिण्ड है और यज्ञस्तंभ एक भिन्न पदार्थ। दोनों एक हो ही नहीं सकते। वाच्य अर्थ की सङ्गति न बैठने से लक्षणा का आश्रय लेना पड़ेगा। लक्षणा के आधार पर आदित्य एक पिण्डविशेष का ज्ञापक न होकर अपनी उज्ज्वल चमक का बोधक होगा। अब दिव्य

यूप को देखकर सूर्य की उज्ज्वलता से उसकी तुलना की जा सकती है, जिससे "आदित्यो यूपः" का अर्थ होगा—यज्ञस्तम्भ सूर्य की भांति चमकदार है। शब्द का व्यक्तिरूप वाच्यार्थ बाधित कर उसका गुणरूप अर्थ लक्षणा से बोधित होने के कारण यहाँ 'गुणवाद' नामक अर्थवाद का भेद होगा।

'अनुवाद' का अर्थ है बाद में अथवा किसी के जैसा कथन। प्रस्तुत सन्दर्भ में इसका अर्थ हुआ–वह विषय जिसका ज्ञान किसी अन्य प्रमाण से पहले हो चुका हो। दूसरे प्रमाण से ज्ञात विषय का ही अर्थवाद वाक्यों से कथन 'अनुवाद' है। अग्नि शैत्य का विरोधी है, शीत से ठिठुरते व्यक्ति का औषध के समान हितकारी है, इसका अनुभव सारा संसार करता है। उसी को 'अग्निर्हिमस्य भेषजं' कहा गया है। इसमें दूसरे प्रमाण से विरोध नहीं, अपितु प्रतिपादन है।

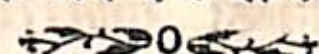
'भूतार्थवाद' का विषय प्रमाणान्तर के विरोध अथवा अनुमोदन से परे होता है। उसके द्वारा ऐसे विषय का ज्ञान कराया जाता है जिसको किसी अन्य प्रमाण से जाना ही नहीं जा सका था। जब उसका प्रमाणान्तर से ज्ञान ही नहीं हुआ, तब उसके विरोध अथवा अनुमोदन का प्रश्न ही नहीं उठता। इसमें प्रायः पूर्वकाल में घटित विषयों का ही कथन होता है, जिसका प्रत्यक्ष वर्तमान काल के किसी भी व्यक्ति ने नहीं किया था। अतः सामान्य अर्थ में 'भूतार्थवाद' जहाँ व्यतीत बातों का बोधक है, वहीं प्रमाणान्तर बोध और बाध दोनों का अभाव होने से पारिभाषिक क्षेत्र में वह विशिष्ट अर्थ देता है।

'प्रमाणान्तरविरोध–तत्प्राप्ति' में 'तत्' का अर्थ 'प्रमाणान्तर' ही है। इसी प्रकार उद्धृत कारिका में 'तद्धान' का अर्थ 'प्रमाणान्तरविरोध और प्रमाणान्तरप्राप्ति, इन दोनों का हान अर्थात् अभाव या परित्याग समझना चाहिये। "इन्द्रो वृत्राय०" में प्रतिपादित 'वृत्र के प्रति वज्र का उद्यमन' किसी ने पहले से देखा-सुना नहीं है, अतः न तो उसका प्रमाणान्तर से विरोध हो सकता है और न समर्थन ही। इस ज्ञान का ज्ञापक केवल यह वाक्य ही है।

(६७) एवं च 'यजेत स्वर्गकाम' इत्यादिनिखिलवेदस्य साक्षात्परम्परया वा यागादिधर्मप्रतिपादकत्वं सिद्धम्। सोऽयं धर्मो यदुद्दिश्य विहितस्तदुद्देशेन क्रियमाणस्तद्धेतुः। ईश्वरार्पणबुद्ध्या क्रियमाणस्तु निश्रेयसहेतुः। न च तदर्पण-बुद्ध्यानुष्ठाने प्रमाणाभावः, 'यत्करोषि यदश्नासि यज्जुहोषि ददासि यत्। यत्त-पस्यसि कौन्तेय तत्कुरुष्व मदर्पणमि'ति भगवद्गीतास्मृतेरेव प्रमाणत्वात्। स्मृति-चरणे तत्प्रामाण्यस्य श्रुतिमूलकत्वेन व्यवस्थापनादिति शिवम्॥

बालानां सुखबोधाय भास्करेण सुमेधसा।
रचितोऽयं समासेन जैमिनीयार्थसंग्रहः॥

इति श्रीमहामहोपाध्यायलौगाक्षिभास्करविरचितपूर्वमीमांसार्थ-संग्रहनामकं प्रकरणं समाप्तिमगात्।



इस प्रकार 'यजेत स्वर्गकामः' इत्यादि समस्त वेद की साक्षात् अथवा परम्परया यागादि धर्म की प्रतिपादकता सिद्ध होती है। वही यह धर्म जिसको लक्ष्य करके विहित होता है, उसी के लिये किया जाता हुआ उसका हेतु बनता है। ईश्वर को अर्पित करने की भावना से सम्पन्न किया जाता हुआ याग मोक्ष का साधन होता है। उसको अर्पण करने की भावना से अनुष्ठान-सम्पादन को सिद्ध करने के लिये प्रमाणों की कमी नहीं है। क्योंकि भगवद्गीता-

रूपी स्मृति में ही—जो करते हो, जो खाते हो, जो होम करते और जो दान देते हो, और जो तपस्या करोगे उसे, हे अर्जुन ! तुम मुझे अर्पित कर दो (गीता ९।२७) आदि वाक्य प्रमाण हैं। मीमांसासूत्र के स्मृतिपाद (१।३) में स्मृति की प्रामाणिकता श्रुतिमूलक होने से व्यवस्थित है। जैमिनि-प्रतिपादित विषयों का संकलन (अर्थसंग्रह) संक्षेप में बालकों के बोध के लिये बुद्धिमान् भास्कर ने किया।

एवमुपपादितं विध्यर्थवादादिरूपस्य पञ्चविधवेदस्य साक्षात्परम्परया यागादिधर्मप्रतिपादकत्वेनार्थवत्त्वमुपसंहरति––एवंचेति। उक्तेन प्रकारेण चेत्यर्थः। योऽयं यागादिरूपो धर्मो यत्स्वर्गादिफलमुद्दिश्य विहितः सोऽयं तादृशफलोद्देशेनानुष्ठीयमान एव तस्य फलस्य हेतुर्भवति, परमेश्वरसमर्पणमनीषयाऽनुष्ठीयमानस्तु चित्तशुद्धितत्त्वज्ञानप्राप्तिद्वारा परम्परया मोक्षहेतुरिति धर्मानुष्ठानस्य विविदिषाश्रुतिप्रामाण्यात् संयोगपृथक्त्वन्यायमाश्रित्य परमपुरुषार्थपर्यवसायित्वमुपक्षिपति––सोऽयमित्यादि। धर्मस्य परमेश्वरसमर्पणबुद्ध्यनुष्ठाने प्रमाणाभावमाशङ्क्य तत्र भगवद्वाक्यं प्रमाणयति––न चेत्यादिना। न च तस्याः स्मृतेरप्रामाण्यमाशङ्क्यम्। तन्त्रे स्मृतिपादे स्थितम् 'अष्टकाः कर्तव्या' इत्यादिस्मृतिवाक्यं न धर्मे प्रमाणं पौरुषेयवाक्यत्वे सति मूलप्रमाणरहितत्वाद्विप्रलम्भकवाक्यवत्। अथ मूलप्रमाणवत्त्वात् वेदार्थं एव स्मृतिभिरुच्यत इति मन्येथाः तर्हि वेदेनैव तदर्थस्यावगतत्वादियं स्मृतिरनर्थिका स्यात्, तदानीमनुवादकत्वादप्रामाण्यमिति प्राप्ते ब्रूमः––विमता स्मृतिर्वेदमूला वैदिकमन्वादिप्रणीतस्मृतित्वात् उपनयनाध्ययनादिस्मृतिवत्। न च वैयर्थ्यं शङ्कनीयम्। अस्मदादीनां प्रत्यक्षेषु नानावेदेषु विप्रकीर्णस्यार्थस्यैकत्र संक्षिप्यमाणत्वात्, तस्मादियं स्मृतिर्धर्मे प्रमाणमिति।

ननु किमनेन संग्रहनिरूपणेन विस्तृतभाष्यादिग्रन्थैरेव जैमिनीयन्यायार्थबोधसंभवादित्याशङ्क्य संग्रहनिरूपणे स्वप्रवृत्तिनिमित्तं प्रदर्शयति––बालानामति। तेषां विस्तृतत्वेन दुःखग्राह्यत्वान्न तैर्बालशब्दितपूर्वमीमांसासंस्कारशून्यानां जैमिनीयन्यायार्थबोधः संभवति। अनेन तु तत्तद्विस्तृतशास्त्रप्रवेशद्वारा संभवत्येव स इति भावः॥

टीकाविहीने तु कृता हि टीका पूर्वे तु तन्त्रे खलु संग्रहेऽस्मिन्।
दुर्बोधशास्त्रे किमु मादृशानां दृष्ट्वापि दोषं न सहन्ति धीराः॥ १॥
यदाज्ञया बन्धविमोक्षणं विना स्वधर्मसेवा फलहेतुतां गता।
प्रणौमि सोमं मृडमादिकारणं किमन्यदेवैर्जनफल्गुहेतुभिः॥ २॥
मदीययत्नः शिवपादसेवया गुरोः कटाक्षैकलवेन लब्धया।
प्रयुज्यमानः शिवपादपङ्कजे स्वयं तु भूयान्मृडतोषकारणम्॥ ३॥
सुजनपदविनीतो दुर्जनाद् दूरनिष्ठो गुरुतरशिवभक्तस्तेन लब्धागमेक्षः।
श्रुतिमणिपदनिष्ठो भिक्षुरामेश्वराख्यः सुजननयनिवेशाय प्रबन्धं चकार॥ ४॥
गुणगणमणिसिन्धुः शम्भुपादैकभक्तो निगमशिरसि निष्ठो जातवैराग्यचित्तः।
श्रुतिनलिनविकासे भानुभावो य ईशस्तमिह महिमपूज्यं नौमि गोपं यतीन्द्रम्॥ ५॥
तस्मादेव गुरुवरादभीष्टलब्धं गोपालाश्रमपदगीयमानदैवात्।
येनोमाधवचरणाब्जसेविनात्र तं वन्दे महिमगुरुं विशालबुद्धिम्॥ ६॥

या काशी निखिलगुरोर्महेश्वरस्य प्राणान्ते सकलशिवप्रदा प्रसिद्धा ।
यत्राहं सकलसुरेशलब्धतत्त्वस्तत्रेयं सुजनहितप्रदा निबद्धा ॥ ७ ॥

इति श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्यगोपालेन्द्र (गोपालाश्रम) सरस्वती-
श्रीपूज्यपादशिष्यश्रीसदाशिवेन्द्रसरस्वतीशिष्येण श्रीरामेश्वर-
शिवयोगिभिक्षुणा विरचिता 'मीमांसार्थसंग्रहकौमुदी'
चरमवर्णध्वंसमगात् ।



यहाँ स्पष्ट किया गया है कि विधि, मन्त्र, नामधेय, निषेध और अर्थवाद अपने भेदोपभेदों सहित यागरूप धर्म के लिये अभीष्ट हैं। इनमें विधि, मन्त्र और नामधेय साक्षात् रूप से धर्म के प्रतिपादक हैं, यह स्पष्ट है। निषेध निषेध्य से वारण करके और अर्थवाद विधेय की प्रशंसा तथा निषेध्य की निन्दा करके, यज्ञ से साक्षात् सम्बन्ध न होने पर भी, परम्परया धर्म के उपकारक होते ही हैं। वेद का प्रत्येक वाक्य क्रियार्थक है, अतः सार्थक भी है।

यह यागरूप धर्म जिस लक्ष्य को ध्यान में रखकर सम्पन्न किया जाता है, उसका अतिशय साधक बनता है। जैसे 'स्वर्गकामो यजेत' का अर्थ है स्वर्ग की कामना से सम्पादित याग कर्त्ता को स्वर्ग प्रदान कराता है, वह स्वर्ग का हेतु है। 'उद्भिदा यजेत पशुकामः' यह भाव व्यक्त करता है कि उद्भिद् नामक याग को पशुकामना से करने पर पशुप्राप्ति होती है। इसी प्रकार ईश्वर के लिये अर्पण की भावना से सम्पादित यागों से निःश्रेयस् अर्थात् मोक्ष की सिद्धि होती है। ऐसा भास्कर का मत है।

यहाँ एक प्रश्न यह उपस्थित होता है कि मीमांसादर्शन को सामान्यतः प्रवृत्तिवादी दर्शन कहा जाता है। उसमें 'क्रिया' करने के पीछे कोई न कोई कामना अवश्य होती है। काम्यभाव से सम्पादित कर्म निष्काम कर्म से प्राप्य मोक्ष का साधन नहीं हो सकता। किन्तु भास्कर ने गीता का वाक्य अपनेपक्ष में उद्धृत किया है जिसके अनुसार ईश्वरार्पणबुद्धि से किये गये कर्म से निःश्रेयस् की प्राप्ति हो सकती है।

यहाँ फिर एक प्रश्न उठता है कि गीता वेद या ब्राह्मणग्रन्थ तो हैं नहीं, जिसके वाक्य प्रामाणिक विधि माने जा सकें। इसका उत्तर यह दिया जाता है कि उन वाक्यों को भी प्रमाण माना जाता है जो वेद-ब्राह्मण के द्वारा प्रतिपादित तथ्य के अनुकूल होते हैं। वेदों में प्रतिपादित न किये गये विषयों का भी स्मृति आदि ग्रन्थों में निरूपण होता हैं। इनमें वे वाक्य प्रमाण माने जाते हैं जिनका वैदिक वाक्यों से विरोध नहीं होता। इसके अतिरिक्त एक तर्क यह भी दिया जाता है कि वेदों की अनन्त शाखायें हैं। उनमें से कुछ ही मनुष्य को ज्ञात है। संभव है अब तक अप्राप्त शाखाओं का ही ज्ञान स्मृतियों में प्रतिपादित हो, अथवा प्राप्त वेदशाखाओं के ही विषयों का साङ्गोपाङ्ग ज्ञान मनुष्य को प्राप्त न हो सका हो। अतः स्मृति-कोटि में आने वाली श्रीमद्-भगवद्गीता के भी वाक्यों को प्रमाण मानना चाहिये। मीमांसादर्शन के प्रथम अध्याय के तृतीय पाद में, जिसको स्मृतिचरण या स्मृतिपाद भी कहते हैं, स्मृतिग्रन्थों के प्रामाण्य पर विचार किया गया है। इसका कथन पार्थसारथिमिश्र की इस कारिका में संक्षेप में है—

वैदिकैः स्मर्यमाणत्वात् तत्परिग्रहदार्ढ्यतः ।
सम्भाव्यवेदमूलत्वात् स्मृतीनां वेदमूलता ॥

यद्यपि मीमांसासूत्र तथा शावरभाष्य में वेदान्तादिसम्मत मोक्ष जैसी वस्तु का निरूपण नहीं है, तथापि 'ब्रह्मसूत्र' में व्यासजी ने जैमिनि के ब्रह्मविषयक अनेक मतों का उल्लेख किया हैं।[1] इससे अनुमान होता है कि जैमिनि–यदि इनका ही मत ब्रह्मसूत्र में उल्लिखत है तो, के परमेश्वर और मोक्षसे सम्बद्ध विचार थे, जिनका उल्लेख अवसर न होने के कारण उन्होंने अपने मीमांसासूत्र में नहीं किया। पार्थसारथिमिश्र आदि परवर्ती आचार्य मोक्ष को स्वीकार करते हैं। शास्त्रदीपिका के प्रथम अध्याय के प्रथम पाद का यह अंश द्रष्टव्य है जिससे आत्मा और मोक्ष दोनों का स्वरूप स्पष्ट होता हैं—

"तस्मान्न प्रपञ्चविलयो मोक्षः। किन्तु प्रपञ्चसम्बन्धविलयः। त्रेधा हि प्रपञ्चः पुरुषं बध्नाति। भोगायतनं शरीरं, भोगसाधनानीन्द्रियाणि, भोग्याः शब्दादयो विषयाः। भोग इति च सुखदुःखयोर-परोक्षानुभव उच्यते। तदस्य त्रिविधस्यात्यन्तिको विलयो मोक्षः। किमिदमात्यन्तिकत्वम्? शरीरेन्द्रियविषयाणां विनाशो अनुत्पन्नानां च आत्यन्तिकोऽनुत्पादः। कथमत्यन्तानुत्पत्तिः उत्पादकयो-र्धर्माधर्म्मयोः निःशेषयोः परिक्षयात्। सोऽयं प्रपञ्चसम्बन्धो बन्धः तद्विमोक्षश्च मोक्षः।"

इसी प्रकार वार्तिककार ने भी स्पष्ट किया है—

तस्मात् कर्मक्षयादेव हेत्वभावेन मुच्यते।
न ह्यभावात्मकं मुक्त्वा मोक्षनित्यत्वकारणम्॥
निजं यत्त्वात्मचैतन्यानन्दश्चेष्यते च यः।
यच्च नित्यविभुत्वादि तैरात्मा नैव मुच्यते॥

निष्काम कर्म के सम्पादन से सीधे मोक्ष नहीं मिलता। शङ्कराचार्य ने अपने विभिन्न भाष्यों में प्रतिपादित किया है कि किसी भी प्रकार का क्यों न हो, कर्म मोक्ष का साक्षात् कारण नहीं है, उनके अनुसार साधनचतुष्टय से युक्त पुरुष को महावाक्यों के श्रवण, मनन और निदिध्यासन से ही ब्रह्मज्ञान हो सकता है। ब्रह्मज्ञान होते ही मोक्ष हो जाता है। अतः सामान्यतः यह स्वीकार किया जाता है कि कर्मों से पापक्षय होता है और उससे मोक्ष होता है। रामेश्वर शिवयोगी के शब्दों में—"परमेश्वरसमर्पणमनीषयाऽनुष्ठीयमानस्तु चित्तशुद्धितत्त्वज्ञानप्राप्तिद्वारा परम्परया मोक्ष-हेतुः इति॥" अर्थात् परमेश्वर के लिये समर्पण-बुद्धि से अनुष्ठित कर्म से सर्वप्रथम चित्त की शुद्धि होती है, चित्तशुद्धि से तत्त्वज्ञान होता है और तत्त्वज्ञान से मोक्ष की प्राप्ति परम्परया होती है, साक्षात् नहीं।

समाप्तश्चायं ग्रन्थः



१. द्रष्टव्य ब्रह्मसूत्र १।२।२८॥, १।२।३१॥, १।३।३१॥, १।४।१८॥, ४।३।१२॥, ४।४।५॥,

परिशिष्ट

(१)

मूल अंश में उद्धृत मन्त्रादि का आकर-निर्देश

अक्षैर्दीव्यति	... ...
अग्निर्ज्योतिर्ज्योति	तै० ब्रा० २।१।९।२।
अग्निर्हिमस्य भेषजम्	... ...
अग्निहोत्रं जुहोति	तै० सं० १।५।९।१।
अतिरात्रे षोडशिनं	... ...
अत्र ह्येवावपन्ति	... ...
अथातो धर्मजिज्ञासा	जै० सू० १।१।१।
अभिक्रामन् जुहोति	तै० सं० २।६।१।
अरुणया एकहायन्या	तै० सं० ६।१।६।
अहरहः सन्ध्यामुपासीत	... ...
आख्यातानामर्थं	... ...
आग्नेयं चतुर्धा	... ...
आदित्यो यूपः	तै० ब्रा० २।१।५।
आश्विनं ग्रहं कृत्वा	शतपथ ब्रा० ४।२।४।१२ ॥
	आप० श्रौ० १२।१८।१२।
आश्विनो दशमो	... ...
आहवनीये जुहोति	तै० ब्रा० १।१।१०।
इन्द्राग्नी इदं हविः	तै० ब्रा० ३।५।१०।३।
इन्द्राग्नी रोचना	मै० सं० ४।११।१।
इमामगृभ्णन् रसनां	शत० ब्रा० १३।१।२।२१।
	तै० सं० ५।१।२।
उद्भिदा यजेत पशुकामः	ता० ब्रा० १९।७।३।
एतावता हैनसा	... ...
ऐन्द्राग्नमेकादशकपालं	मै० सं० २।१।१।
ऐन्द्र्या गार्हपत्यमुप	मै० सं० ३।२।४।
चित्रया यजेत	तै० सं० २।४।६।
चोदनालक्षणोऽर्थो	जै० सू० १।१।२।
ज्योतिष्टोमेन स्वर्गकामो	ता० ब्रा० १८।७।
तद्धितेन चतुर्थ्या	तन्त्रवा० २।२।९।
तनूनपातं यजति	तै० सं० २।६।१।१।
दधि मधु पयो०	... ...
दध्ना जुहोति	तै० ब्रा० २।१।५।
दध्नेन्द्रियकामस्य	तै० ब्रा० २।१।५।६।
	आप० श्रौ० ६।१५।१।
दर्शपूर्णमासाभ्यां यजेत	तै० सं० १।६।९।१,२।-?
दीक्षितो न ददाति	... ...
न कलञ्जं भक्षयेत्	... ...
नातिरात्रे षोडशिनं	... ...
नेक्षेतोद्यन्तमा०	मनुस्मृ० ४।३७।
पञ्चपञ्चनखा	वा० रा० कि० कां० १७।३७।
पदे जुहोति	... ...
पशुना यजेत	का० सं० ६।१।
पुरोडाशं चतुर्धा करोति	... ...
बर्हिर्देवसदनं दामीति	मै० सं० १।१।२।
यजतिषु ये यजामहं	आप० श्रौ० २४।१३।५।
यजेत स्वर्गकामः	... ...
यत्करोषि यदश्नासि	गीता ९।१७।
यथा इन्द्रो वृत्राय	... ...
यदग्नये च प्रजापतये च	मै० सं० १।८।७।
यदाहवनीये जुहोति	तै० ब्रा० १।१।१०।
यद्विश्वेदेवाः समयजन्त	तै० ब्रा० १।४।१०।
यवागूं पचति	... ...

यस्य पर्णमयी जुहूर्भवति	तै० सं० ३।५।७।२ ।
यस्याहिताग्नेरग्निर्गृहान्	तै० सं० २।२।२।५ ।
यस्यैवं विदुषः प्रयाजा	... ...
यो वै प्रयाजानां मिथुनं	तै० सं० २ ६।१।४ ।
राजा राजसूयेन स्वाराज्य	... ...
वषट्कर्तुः प्रथमभक्षः	ऋ० सं० ८।४।२९।-?
वायव्यं श्वेतमालभेत	तै० सं० ७।१।३० ।
वायुर्वै क्षेपिष्ठा देवता	तै० सं० २।१।१ ।
विधिरत्यन्तमप्राप्तौ	तंत्रवा० १।२।४ ।
विरोधे गुणवादः स्यात्	... ...
व्रीहिभिर्यजेत	... ...
व्रीहीन् प्रोक्षति	... ...
व्रीहीनवहन्ति	... ...
वेदं कृत्वा वेदिं करोति	... ...
वैश्वदेवीं कृत्वा प्राजापत्यैः	
वैश्वदेवेन यजेत	तै० ब्रा० १।४।१० ।
वैश्वानरं द्वादशकपालं	तै० सं० २।२।५ ।
श्येनेनाभिचरन् यजेत	आप० सू० २२।४।१३ ।
श्रुतार्थस्य परित्यागाद्	... ...
समानयते जुह्वां उपभृत	तै० २।६।१।२ ।
समिधः समिधो	का० श्रौ० १।४ ।
समिधो यजति	तै० सं० २।६।१ ।
सह पशूनालभेत	तै० ब्रा० १।३।४।३।-?
सामर्थ्यं सर्वशब्दानां	तन्त्रवा० १।३।३ ।
सोमेन यजेत	का० सं० ६।१।-?
सोऽरोदीद् यदरोदीत्	तै० सं० १।५।१ ।
स्योनं ते सदनं कृणोमि	तै० ब्रा० ३।७।५ ।
स्वाध्यायोऽध्येतव्यः	तै० आ० २।१५।१ ।

प्रमुख मीमांसकाचार्य तथा उनके ग्रन्थ

अनन्तदेव द्वितीय-(भाट्ट) १७वीं शती

भाट्टालंकार—मीमांसान्याय-प्रकाश की टीका
फलसांकर्यखण्डन
स्मृतिकौस्तुभ

अनन्तभट्ट—(भाट्ट) १७वीं शती

ज्योत्स्ना—शास्त्रमाला की वृत्ति
न्याय-रहस्य—जै० सू० की व्याख्या

अन्नंभट्ट—(भाट्ट) १४वीं शती

सुबोधिनी—तन्त्रवार्तिक की व्याख्या
रणकफक्किका-व्याख्या—न्यायसुधा की व्याख्या

अप्पयदीक्षित—(भाट्ट) १६वीं शती

विधिरसायन—पद्यमयग्रन्थ जिस पर विवेक-सुखोपजीविनी गद्यमयी टीका
वादनक्षत्रमाला—
मयूखावलि
उपक्रमपराक्रम

आपदेव द्वितीय—(भाट्ट) १७वीं शती

मीमांसान्यायप्रकाश
अधिकरणचन्द्रिका

इन्द्रपतिठाकुर—(भाट्ट) १४वीं शती

मीमांसा-पल्वल

उपवर्ष—शबर के पूर्ववर्ती

सूत्रवृत्ति—जै० सू० की वृत्ति

उम्बेक—(भाट्ट) सप्तम शती ई०

तात्पर्यटीका—श्लोकवार्तिक पर स्फोटवादान्त
भावनाविवेक की टीका

कमलाकरभट्ट—(भाट्ट) १७वीं शती

आलोक—शास्त्रदीपिका की टीका
भावार्थ—तन्त्रवार्तिक की टीका
शास्त्रमाला—जै० सू० की स्वन्त्र व्याख्या

कुमारिलभट्ट—सप्तम-अष्टम शती ई०

श्लोकवार्तिक—शा० भा० के प्रथम अध्याय के प्रथम पाद पर श्लोक-बद्ध विचार
श्लोकवार्तिक की टीकायें—
तात्पर्यटीका—श्लोकवार्तिक पर स्फोटवादान्त
न्यायरत्नाकर—पार्थसारथि मिश्र
काशिका-स्फोटवादान्त—सुचरित मिश्र
तन्त्रवार्तिक—शा० भा० १.२ से तृतीय अध्याय के अन्त तक व्याख्या
तन्त्रवार्तिक की टीकायें—
सोमेश्वर (राणक)—न्यायसुधा
कमलाकरभट्ट—भावार्थ
गोपालभट्ट—मिताक्षरा
परितोषमिश्र—अजिता
अन्नंभट्ट—सुबोधिनी या राणकोज्जीवनी
गंगाधर—न्यायपारायण
टुप्टीका—चतुर्थ से द्वादश अध्याय पर्यन्त
टुप्टीका की व्याख्यायें—
पार्थसारथिमिश्र—तन्त्ररत्न
वेंकटेश—वार्तिकाभरण
उत्तमश्लोकतीर्थ—लघुन्यायसुधा

कृष्णयज्वन्—(भाट्ट) १८वीं शती

मीमांसापरिभाषा

कौण्डदेव—(भाट्ट) १७वीं शती

भाट्टमत-प्रदीपिका

खण्डदेवमिश्र—(भाट्ट) १७वीं शती

भाट्ट-रहस्य
मीमांसा-कौस्तुभ
भाट्टदीपिका
भाट्टदीपिका की टीकायें—
प्रभावली—शम्भुदत्त
भाट्टकल्पद्रुम—रामशुभ शास्त्री
चन्द्रोदय—भास्कर राय
भाट्टचिन्तामणि—वंकेश्वर
सूत्रवृत्तिसारावली—रंगाचार्य

गङ्गाधरमिश्र—(भाट्ट) १३वीं शती

न्यायपारायण-तन्त्रवार्तिक की टीका

गदाधरभट्टाचार्य—(भाट्ट) १७वीं शती

विधि-स्वरूप-विचार

गोपालभट्ट-द्वितीय—(भाट्ट) १७वीं शती

विधिभूषण

गोविन्दठाकुर—(भाट्ट) १२वीं शती

अधिकरणमाला

चन्द्र गुरुमताचार्य—(गुरुमत) ११वीं शती

न्यायरत्नाकर—जै० सू० की स्वतन्त्र व्याख्या
अमृतबिन्दु

चिदानन्दपण्डित—(भाट्ट)
नीतितत्त्वाविर्भाव

जीवदेव—(भाट्ट) १७वीं शती
भट्ट-भास्कर

जैमिनि—ई० पू० चतुर्थ-पञ्चम शती
मीमांसादर्शन (जैमिनिसूत्र)

दिनकरभट्ट—(भाट्ट) १७वीं शती
भाट्ट-दिनकरी—शास्त्रदीपिका की टीका

देवनाथठाकुर—(भाट्ट) १६वीं शती
अधिकरणकौमुदी

नन्दीश्वर (गुरुमत) १४वीं शती
प्रभाकरविजय

नारायणतीर्थ—(भाट्ट) १८वीं शती
भाट्टपरिभाषा

नारायणपण्डित—(भाट्ट) १८वीं शती
पिष्टपशु-मीमांसा—गद्यपद्यमयी रचना

नारायणभट्ट प्रथम—(भाट्ट)
निबन्ध—तंत्रवा० की टीका
मानमेयोदय

नारायणभट्ट द्वितीय—(भाट्ट) १६वीं शती
व्याख्या—शास्त्रदीपिका के अष्टम अध्याय पर

नीलकण्ठदीक्षित—(भाट्ट) १७वीं शती
भट्टारक या मीमांसा-न्याय-संग्रह

परितोषमिश्र—(भाट्ट) १२०० ई०
अजिता या तन्त्रटीका-निबन्धन—तन्त्रवार्तिक की व्याख्या

पार्थसारथिमिश्र—(भाट्ट) १२वीं शती
न्यायरत्नमाला
तन्त्ररत्न—टुप्टीका की व्याख्या
शास्त्रदीपिका—जै० सू० पर अधिकरण के क्रमानुसार व्याख्या
शास्त्रदीपिका की टीकायें—
सोमनाथ—मयूखमालिका
अप्पयदीक्षित—मयूखावलि
राजचूडामणि—कर्पूरवर्तिका
दिनकरभट्ट—व्याख्या
यज्ञनारायण—प्रभामण्डल
अनुभवानन्दयति—प्रभामण्डल
चम्पकनाथ—प्रकाश
वैद्यनाथ—प्रभा
रामकृष्ण—सिद्धान्तचन्द्रिका तर्कपाद पर युक्तिस्नेहप्रपूरणी और गूढार्थ विवरण
शंकरभट्ट—प्रकाश
कमलाकरभट्ट—आलोक
नारायणभट्ट—व्याख्या
भीमाचार्य—व्याख्या
सुदर्शनाचार्य—प्रकाश (तर्कपादान्त)
न्यायरत्नाकर—श्लोकवार्तिक की टीका

प्रभाकरमिश्र—(गुरुमत) ६-७वीं शती
लघ्वी या विवरण—शाबरभाष्य पर
बृहती या निबन्धन— ,,

ब्रह्मानन्दसरस्वती-(भाट्ट) १८वीं शती
मीमांसाचन्द्रिका—जै० सू० की व्याख्या

भट्टकेशव—(भाट्ट)
मीमांसार्थ प्रकाश

भट्टविष्णु—(गुरुमत) १४वीं शती
नयतत्त्वसंग्रह

भवदेवभट्ट—(भाट्ट) ११वीं शती
तौतातिकमततिलकम्

भवनाथमिश्र—(गुरुमत) ११वीं शती
न्यायविवेक—जै० सू० की स्वतन्त्र व्याख्या

भास्करराय—(भाट्ट) १८वीं शती
वादकुतूहल
चन्द्रिका या भाट्टदीपिका—जैमिनी के संकर्ष काण्ड पर
चन्द्रोदय—भाट्टदीपिका (खण्डदेव) की व्याख्या

मण्डनमिश्र—(भाट्ट) ७वीं शती ई०
विधिविवेक
विभ्रमविवेक
भावनाविवेक
मीमांसानुक्रमणिका
स्फोट-सिद्धि

माधवाचार्य—(भाट्ट) १४ वीं शती
जैमिनिन्यायमाला और विस्तर

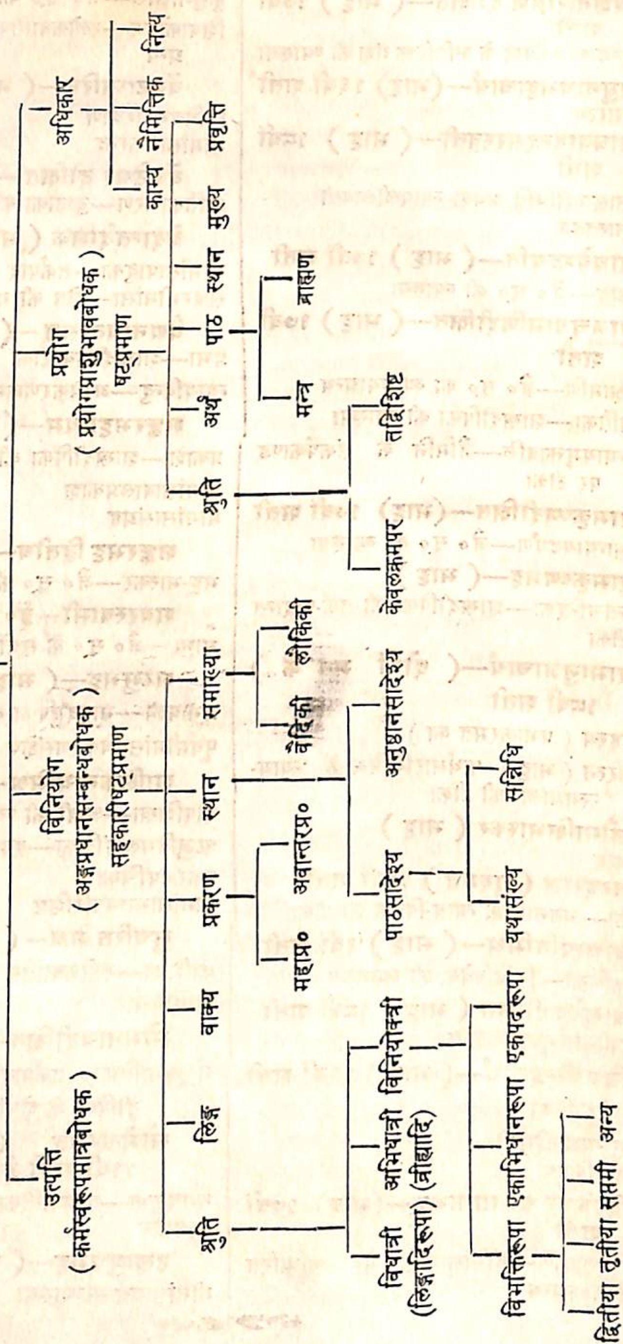
मुरारिमिश्र—(तृतीयपंथ) ११-१२वीं शती
त्रिपाद-नीतिनय
एकादशाध्यायाधिकरण

मुरारिमिश्र तृतीय—(भाट्ट) १८वीं शती
अंगत्वनिरुक्ति

यज्ञनारायण दीक्षित—(भाट्ट) १७वीं शती
प्रभामण्डल-तर्कपाद के अतिरिक्त अंश की व्याख्या
रघुनाथभट्टाचार्य—(भाट्ट) १६वीं शती
मीमांसारत्न
राघवानन्दसरस्वती—(भाट्ट) १८वीं शती
मीमांसासूत्रदीधिति अथवा न्यायलीलावती
मीमांसास्तवक
राघवेन्द्रयति—(भाट्ट) १७वीं शती
भट्टसंग्रह—जै० सू० की व्याख्या
राजचूडामणिदीक्षित—(भाट्ट) १७वीं शती
तन्त्ररक्षामणि—जै० सू० का व्याख्याग्रन्थ
कर्पूरवर्तिका—शास्त्रदीपिका की व्याख्या
संकर्षन्यायमुक्तावलि—जैमिनि के संकर्षकाण्ड पर टीका
रामकृष्णदीक्षित—(भाट्ट) १७वीं शती
मीमांसान्यायदर्पण—जै० सू० की व्याख्या
रामकृष्णभट्ट—(भाट्ट)
सिद्धान्तचन्द्रिका—शास्त्रदीपिका की तर्क-पादान्त टीका
रामानुजाचार्य—(दोनों मत के) १८वीं शती
तन्त्ररहस्य (प्रभाकरमत का)
नायकरत्न (भाट्ट) पार्थसारथिमिश्र के 'न्याय-रत्नमाला' की टीका
लौगाक्षिभास्कर (भाट्ट)
अर्थसंग्रह
वरदराज (गुरुमत) १६वीं शती
दीपिका—भवनाथ के न्याय-विवेक की टीका
वाचस्पतिमिश्र—(भाट्ट) ९वीं शती
न्यायकणिका—विधिविवेक की व्याख्या
वासुदेवदीक्षित (भाट्ट) १८वीं शती
अध्वरमीमांसाकूतूहलवृत्ति
विजयीन्द्रतीर्थ—(भाट्ट) १६वीं शती
न्यायाध्वदीपिका
मीमांसान्यायकौमुदी
उपसंहारविजय
विश्वेश्वर या गागाभट्ट—(भाट्ट) १७वीं शती
भाट्ट-चिन्तामणि—मीमांसासूत्रों पर आधारित स्वतन्त्रग्रन्थ

कुसुमाञ्जलि—जै० सू० की वृत्ति
शिवार्कोदय—श्लोकवार्तिक के विषय में पद्यबद्ध ग्रन्थ
वेंकटाध्वरिन्—(भाट्ट) १७वीं शती
विधित्रयपरित्राण
मीमांसामकरन्द
वेंकटेश्वर दीक्षित—(भाट्ट) १६वीं शती
वार्तिकाभरण—टुप्टीका की व्याख्या
वेदान्तदेशिक (भाट्ट) १३ वीं शती
मीमांसापादुका—तर्कपाद की पद्यमयी व्याख्या
सेश्वरमीमांसा—शेष की गद्यमयी व्याख्या
वैद्यनाथतत्सत्—(भाट्ट) १७ वीं शती
प्रभा—शास्त्रदीपिकाटीका
न्यायबिन्दु—अधिकरणक्रम से लिखित
शङ्करभट्टप्रथम—(भाट्ट) १७ वीं शती
प्रकाश—शास्त्रदीपिका की टीका
मीमांसाबालप्रकाश
मीमांसासंग्रह
शङ्करभट्ट द्वितीय—(भाट्ट) १७वीं शती
भट्ट-भास्कर—जै० सू० की व्याख्या
शबरस्वामी—ई० पू० तृतीय शतक
भाष्य—जै० सू० के सूत्रों पर
शम्भुभट्ट—(भाट्ट) १८वीं शती
प्रभावली—भाट्टदीपिका की व्याख्या
पूर्वमीमांसाधिकरणसंक्षेप
शालिकनाथमिश्र—(गुरुमत) ९वीं शती
दीपशिखा—लघ्वी की व्याख्या
ऋजुविमलापंचिका—बृहती की टीका
प्रकरणपंचिका
मीमांसाभाष्यपरिशिष्ट
सुचरित मिश्र—(भाट्ट) १२वीं शती
काशिका—श्लोकवार्तिक की टीका
विधिविचार
सोमनाथदीक्षित—(भाट्ट) १७वीं शती
मयूखमालिका—तर्कपाद के अतिरिक्त शास्त्र-दीपिका के शेषांश की व्याख्या
सोमेश्वरभट्ट (राणक)—(भाट्ट) ११वीं शती ई०
न्यायसुधा—तन्त्रवार्तिकटीका
तन्त्रसार
हलायुधभट्ट—(भाट्ट) ११वीं शती
मीमांसासूत्र—व्याख्या

(३)
विधिविभाग का रेखाचित्र



पारिभाषिक-शब्दावली

अग्निहोत्र	४९-५०	चित्रायाग	१६१
अज्ञातार्थ	४९	चोदनापद	१९
अतिदेश	९०	जिज्ञासा	१०-११
अतिव्याप्ति	१३	जुहू	८६
अनारभ्यविधि	९०	जैमिनिनय	४-५
अपौरुषेय	४७	दक्षिणाग्नि	७५
अभिक्रमण	९७	दर्शपौर्णमास	९१
अभिघारण	१३३	दृष्टार्थत्व	८
अभिचार	१७	द्वादशलक्षणी	७
अभिधात्री श्रुति	६७	धर्मप्रतिपादकता	१९
अर्थ	१६	धर्मलक्षण	१४
अव्याप्ति	१३	धर्मविवेक	७
असंभवदोष	१३	ध्रुवा	८६
आख्यातसामान्य	४५	निरीश्वरवादी	३
आमनहोम	१०५	निर्देव	३
आरादुपकारक	११५	पददोष	५५
आवपन्ति	१५१	परिसंख्या	१४९
आहवनीय अग्नि	७५	पर्यग्निकरण	१०७
इतिकर्त्तव्यता	३८	पाञ्चरात्र	३
उत्पत्तिविधि	५९	पुरोडाश	७३
उपभृत	८६	प्रोक्षण	७४
ऋत	३	प्रकृतियाग	९०
एकपदश्रुति	७७	प्रयाजादि	४६
एकाभिधान	७६	प्रवर्तना	२४
ऐन्द्राग्न इष्टि	१०४	प्रायिक	१४५
ऐन्द्री ऋचा	८१	फलविधि	१४३
उपाकरण	१०७	भावना	२६
क्रम	१२१	मत्वर्थलक्षणा	५२
गार्हपत्याग्नि	७५	मन्त्रवर्ण	१६५
गुणमात्र	५१	मिथुनवेदन	९८

यागादि	१४	सदनकरण	८५
वाक्यभेद	५३	सबलता	८०
विकृतियाग	९०	सादेश्य	१०१
विधात्री श्रुति	६७	साद्यस्क्रयाग	१३०
विनियोक्त्री	६७	साहित्य	१३७
विनियोगविधि	६३	सौत्रलक्षण	२०
विपरिणाम	२४	संनिपत्योपकारक	११२-१३
विभक्तिरूपा	७२-७३	स्रुवा	८६
विशिष्टविधि	५२	स्वाध्याय	९
वैश्वानरेष्टि	१०४	शब्दनित्यतावादी	४७
लक्षणा	११	शुन्धनमन्त्र	१०८
लिङ्गंश	३७		